# गगनाञ्चल

वर्ष 24 अंक 3 जुलाई-सितम्बर 2001

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

**प्रकाशक**

हिमाचल सोम
*महानिदेशक*
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

**संपादक**

कन्हैयालाल नन्दन

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त छः पत्रिकाएं प्रकाशित करती है जिसमें चार त्रैमासिक पत्रिकाएं एवं दो छमाही पत्रिकाएं हैं। हिंदी (*गगनाञ्चल*), अंग्रेजी (*इंडियन होराइजन्स* और अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (*सक़ाफ़त-उल-हिंद*), त्रैमासिक पत्रिकाएं है और स्पेनिश (*पपलेस दे ला इंडिया*), फ्रेंच (*रेकौंत्र अवेक लैंद*) छमाही पत्रिकाएं हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक *'गगनाञ्चल'* से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट, नयी दिल्ली-110002



**शुल्क दरें**

| वार्षिक | त्रैवार्षिक |
|---|---|
| रु० 100.00 | रु० 250.00 |
| US$ 40.00 | US$ 100.00 |
| £16.00 | £40.00 |

उपरोक्त शुल्क दरों का अग्रिम भुगतान ''भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली'' को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीआर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

ISSN 0971-1430

मुद्रक: विमल ऑफसेट, 1/11804 पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

# संपादक की ओर से

इलैक्ट्रानिक मीडिया विशेषकर टेलीविजन के विस्तार के साथ ही पढ़ने की अभिरुचि में ऋणात्मक बदलाव की प्रवृत्ति भी तेजी से पनपी। यह स्वाभाविक भी है जब बिना पढ़े रोजमर्रा की स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों की जानकारी आपको अपने ड्राइंग रूम में बिना किसी प्रयास के बुद्धुबक्से (टी वी) के जरिये मिल जाए तो फिर अखबार पढ़ने की जहमत क्यों उठाए। जब रोज-रोज आने वाले अखबारों का ये हाल हो तो भला साहित्य, दर्शन, आध्यात्म, ज्ञान विज्ञान और अन्य गूढ़ विषयों पर लिखी पुस्तकों का भविष्य क्या होगा, यह रहस्य आसानी से समझा जा सकता है। उस पर साहित्य (कथा, उपन्यास, कविता, नाटक और आलोचना) प्रधान पुस्तकों की पठनीयता और पाठक संख्या का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इस पृष्ठ भूमि में यह एक सुखद संयोग ही है कि *गगनाञ्चल* के रूप में हर तीसरे महीने पाठकों तक पहुंचने वाली हिंदी पत्रिका के लेखकों और पाठकों की संख्या टी वी के क्रांतिकारी परिवर्तन के बावजूद पूर्ववत बनी हुई है। प्रसंगवश यह कहना गलत नहीं होगा, न यह कहना अतिश्योक्ति होगी कि *गगनाञ्चल* के प्रति लेखकों और पाठकों का रुझान इस 'कथित टेलीविजनी परिवर्तन' के बावजूद और बढ़ा है। सुनने में यह थोड़ा अटपटा जरूर लग सकता है लेकिन सही बात तो यह है कि इस त्रैमासिक पत्रिका के लिए मात्रात्मक आधार पर जितनी रचनाएं प्रकाशनार्थ हमें मिलती हैं उनका प्राथमिकता के आधार पर चयन करना और अंक विशेष में उनका समायोजन हमारे लिए बड़ा मुश्किल हो जाता है। समझ में नहीं आता कि किस रचना को लें और किसे वापस भेजें।

बहरहाल! खुशी की बात यह है कि *गगनाञ्चल* के हर अंक के प्रकाशन से पहले हमें अपने पाठकों/लेखकों से ऐसा कोई ठोस सुझाव या आलेख अवश्य मिल जाता है जो समयावधि के लिए ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण होता है। *गगनाञ्चल* के इस अंक के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस अंक की सामग्री के प्रेस में जाने से पहले ऐन वक्त पर एक ऐसा आलेख हमें मिला जिसको इस अंक में समाहित करना इसलिए आवश्यक था क्योंकि इससे *गगनाञ्चल* के इस अंक का साहित्यिक गौरव बढ़ना निश्चित था।

हम बात कर रहे हैं हिंदी आलोचना और साहित्य के भीष्म पितामह डॉ. राम विलास शर्मा के संबंध में उपलब्ध सामग्री की। आम तौर पर राम विलास शर्मा को हिंदी साहित्य के एक आलोचक के रूप में देखा जाता है। लेकिन बहुत कम लोगों को यह मालूम है कि श्री शर्मा एक अच्छे कवि भी थे। 10 अक्टूबर रामविलास शर्मा का जन्म दिवस भी है। इस अवसर पर डॉ. शर्मा के अत्यंत करीबी रहे डॉ. रणजीत साहा ने रामविलास शर्मा के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए एक आलेख 'गाथा पुरुष; रामविलास शर्मा' *गगनाञ्चल* में प्रकाशनार्थ भिजवाया। इस आलेख को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

डॉ. शर्मा से सम्बन्धित इस आलेख को इस अंक में समाहित करना इसलिए भी जरूरी लगा क्योंकि इधर कुछ समय से उनके व्यक्तित्व के उस पहलू को लेकर वामपंथी साहित्यालोचकों में एक बहस-सी छिड़ गयी है जिसमें डॉ. शर्मा ने प्रगति शीलता के साथ-साथ भारत की पुरातन परम्पराओं और संस्कृतियों के संरक्षण की बात कही थी। समान विचारधर्मी वाम लेखकों में एक तबका इसका विरोध करता है तो दूसरा समर्थन लेकिन रणजीत साहा ने इस विवाद से अलग हटकर डॉ. शर्मा के व्यक्तित्व का समग्र विवेचन किया है। आशा है यह आलेख पाठकों को अच्छा लगेगा।

*गगनाञ्चल* का अगला अंक (अक्तूबर-दिसंबर, 2001) महिला विशेषांक होगा। इसमें महिला प्रधान साहित्य, महिला रचनाकारों पर विस्तृत सामग्री के साथ ही महिला समस्याओं और उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति पर भी विस्तृत सामग्री उपलब्ध कराई जाएगी।

*कन्हैयालाल नंदन*
संपादक

# अनुक्रम

## *कविता/गीत/ग़ज़ल*

*विविधा*



*समीक्षाएं*

□

# पाठकों की ओर से

महोदय,

अस्पताल से लौटकर ज़िंदगी से लोहा लेने की जिजीविषापूर्ण कविता पढ़कर मन प्रसन्न हुआ। अग्रज कवि और आदरणीय भाई डॉ. सुमन को भी यह कविता फोन पर सुनाई।... गीत की पुनर्प्रतिष्ठा आपने की, अच्छा काम हुआ। *गगनाञ्चल* के मार्फत इस संबंध में एक पत्र आपको भेजा था, शायद मिला हो।

इस पत्र के साथ 'हंसा मैं; किस पर' कविता आपको भेज रहा हूं। मैंने भी तीन महीने आंशिक मृत्यु का कष्ट सहा है। यह कविता उसी दौर के अनुभव की है। जरूरी नहीं कि कविता छापें। संभव हो तो छापिए अन्यथा अवलोकनार्थ।

*—देवव्रत जोशी*
24, वेद व्यास कॉलोनी
रतलाम, मध्य प्रदेश

महोदय,

*गगनाञ्चल* का जनवरी-मार्च, 2001 का अंक मिला। इसकी आकर्षक साज-सज्जा, रचना चयन और उच्चकोटि के मुद्रण ने अविभूत कर दिया। संपादन दायित्व के कुशल निर्वाहन के लिए साधुवाद।

*गगनाञ्चल* के उक्त अंक के संपादकीय से प्रेरणा पाकर नसीर अहमद नासिर की उर्दू नज़्मों का हिंदी अनुवाद प्रकाशनार्थ प्रेषित कर रही हूं। श्री नसीर लाहौर से प्रकाशित उर्दू की एक श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका 'तस्वीर' के संपादक हैं। इनकी कविताएं विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित होकर प्रकाशित हो चुकी हैं।

आशा है *गगनाञ्चल* के लिए नसीर अहमद नासिर की अनूदित रचनाएं आपको पसंद आएगीं।

*—आशा प्रभात*
कोट बाजार, सीतामढ़ी
बिहार-843302

□

महोदय,

*गगनाञ्चल* के लिए आलोचना पर केन्द्रित एक आलेख तैयार कर भेजा है। वैसे तो सभी विधाओं पर आलोचनात्मक लेखन हो रहा है लेकिन आलोचना और सर्जक के बीच के संबंधों को लेकर हिंदी में कम ही लिखा गया है और हिंदी आलोचना अपने स्वरूप में आज केवल पुस्तक समीक्षा जैसी होती जा रही है। ऐसे में कुछ मूलभूत प्रश्न इस आलेख में उठाने की कोशिश की है।

—*रमेश दवे*
प्राध्यापक (से.नि.)
276, एल-कोटरा सुल्तानाबाद,
भोपाल-462003 (मध्य प्रदेश)

महोदय,

*गगनाञ्चल* जनवरी-मार्च, 2001 का अंक मिला। गोपीचंद नारंग की पुस्तक पर अपनी समीक्षा पढ़ी और आपकी संपादन कला का कायल हो गया। आप अपने इस कौशल के लिए मेरा साधुवाद स्वीकारें। आपने जिस तरह मेरी समीक्षा को संपादित कर छोटा किया है, उसमें मैं ही नहीं बता सकता कि कहां क्या काटा गया है और कितना। संपादन की इस कला से मैं क्या कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। पर मुद्रण की कुछ भूलें अवश्य रह गयी हैं जो अखरती हैं।

—*डॉ. हरदयाल*
एच-50, पश्चिमी ज्योति नगर
दिल्ली-110094

महोदय,

अपने देश से बहुत दूर रहते हुए मैं पहली बार साहित्यिक पत्रिका *गगनाञ्चल* पढ़ रही हूं। हमारे हिंदी के गुरु ने हमें यह पत्रिका पढ़ने के लिए दी। वे गांधी इन्स्टीट्यूट में हिंदी सिखाते हैं। इस इन्स्टीट्यूट में हम जैसे वो लोग कवि गोष्ठी में भाग लेते हैं जिन्होंने हिंदी स्कूल तक ही सीखी है, सिर्फ भाषा (साहित्य नहीं)।

आपकी पत्रिका में हिंदी जानने वाले बाहर के देशों के साहित्यकार भी लिखते हैं इसलिए मैं भी इस पत्रिका में प्रकाशन के लिए अपनी दो कविताएं भेजने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हूं। यूं मैं एक मैडिकल डॉक्टर हूं लेकिन लिखने-पढ़ने और संगीत साहित्य का शौक है। इसलिए ऐसा लगा कि इस स्तरीय पत्रिका में अपनी रचना प्रकाशित होने का सौभाग्य शायद मिल सके।

मैं अक्सर यह सोचती हूं कि हमारे देश (भारत) में क्या नहीं था और क्या नहीं

है, फिर भी जनता उदास.और तकलीफ में क्यों है? अपनी कविताओं में इसी भावना को अभिव्यक्ति दी है। कविता के माध्यम से मैं यह खुलासा भी करना चाहती हूं कि काश, हमारा देश ऐसा होता जहां जनता खुश रहती, सम्पन्न रहती, सिर्फ ईमानदारी की भाषा समझती और जानती, वहां भेदभाव का नामोनिशां न होता और हम पूरी दुनिया को यह बताते कि हमारी तरह न कोई था, न है और न होगा।

*—नीलिमा श्रीवास्तव*
पोस्ट बैग-1082
वाल्सायिन त्रिनिडाड
वेस्ट इंडीज

महोदय,

*गगनाञ्चल* के अंक-4 में जोशी जी (स्व. श्रीकांत जोशी) को श्रद्धांजलि देते हुए आपने उनका आलेख जिस आत्मीयता के साथ प्रकाशित किया है उसके लिए आपके प्रति आभार व्यक्त करती हूं।

*श्रीमती पद्मजा जोशी*
जवाहर गंज, खंडवा (मध्य प्रदेश)

मान्यवर,

*गगनाञ्चल* का जनवरी-मार्च, 2001 अंक बहुत पसंद आया। बधाई। *'संसार से परे'*, *'मस्जिद की कबूतरी'* और *'साधुपार'* कहानियां मन को प्रभावित करती हैं। कहानी की सुंदरता पाठकों तक पहुंचाने के लिए अनुवादक भी सफल रहे हैं।

अपने संपादकीय में अनुवाद के महत्व पर जो कुछ लिखा है उससे मैं बिल्कुल सहमत हूं। इसीलिए जीलानी बानो की कहानी 'भों, भों, भों आपकी खिदमत में पेश कर रहा हूं।

*—हैदर जाफरी सैयद*
द्वारा-सदफ
88/153 चमन गंज
कानपुर - 208001

महोदय,

*गगनाञ्चल* जैसी श्रेष्ठ और सुन्दर पत्रिका मैंने दूसरी नहीं देखी। यूं तो दिल्ली से आजकल, साहित्य अमृत, हंस और समकालीन साहित्य समाचार जैसी साहित्यिक पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं। जो अपनी तरह की श्रेष्ठ पत्रिकाएं हैं किन्तु *गगनाञ्चल* जैसी विषय-वैविध्यपूर्ण पत्रिका *गगनाञ्चल* ही है। जो नयनाभिराम एवं वर्तनी-दोषों से

भी मुक्त है। इससे आपकी सत्यनिष्ठा प्रकट होती है।

अक्तूबर-दिसम्बर, 2000 अंक को तो गीत विशेषांक कहना अधिक श्रेयस्कर होगा। आप बड़े मनोयोग से और समर्पण भाव से पत्रिका निकालते हैं। आपको बहुत-बहुत बधाई! *गगनाञ्चल* का हर अंक सलमे-सितारों से चमके और संग्रहणीय हो इसके लिए शुभकामनाएं।

*—किशोर कुमार कौशल*
गांव फतेहपुर, बिल्लोच
जिला फरीदाबाद - 121004

महोदय,

*गगनाञ्चल* का अक्तूबर-दिसम्बर, 2000 का अंक पढ़ने को मिला। यह एक श्रेष्ठ हिंदी त्रैमासिक पत्रिका है। ऐसी पत्रिकाएं कम ही हैं जिनमें सब प्रकार की सामग्री रोचकता और ज्ञानवर्धन के तत्व के साथ पढ़ने को मिलती है। गतिविधियां स्तम्भ जानकारी देने वाला है। इसमें दिल्ली के साथ ही दिल्ली के बाहर की ऐसी गतिविधियों को भी जगह मिले तो बेहतर होगा। पुस्तक समीक्षा का स्तंभ भी बहुत रोचक और ज्ञान-वर्धक है। ज्यादातर लेखक दिल्ली के नजर आते हैं। क्या यह पत्रिका दिल्ली के बाहर के लेखकों की जानकारी में नहीं है। समसामयिक अन्तरराष्ट्रीय संबंधों, विज्ञान, प्रबंधन, कंप्यूटर आदि पर भी रचनाएं देने की कृपा करें। यह न सोचें कि हिंदी का पाठक केवल कविता, कहानी या परम्परागत किस्म की चीजें ही पढ़ता है।

*गगनाञ्चल* की पहुंच और विस्तार विश्व के देशों और हिंदी जानने वाली जनता तक होने की प्रत्याशा की जाती है। भारत से बाहर के हिंदी लेखकों की रचनाएं प्राप्त करने में आपको क्या दिक्कत है? गगनाञ्चल 23 वर्षों से पाठकों को तृप्त करता आ रहा है लेकिन अधिक की इच्छा बढ़ती जाती है।

*—डॉ. अर्चना वर्मा*
प्रेमनगर, गदरपुर
(उत्तरांचल)

□

# हिंदी सर्जक और आलोचक: आलोचना-संबंध

रमेश दवे

*आज की हिंदी आलोचना पत्रिका जीवी हो गई है। संपादक, संपादक भी हैं, सर्जक भी और आलोचक भी। इस कारण यह तो लगभग तय है कि उन्होंने अपने से बड़ा सर्जक, आलोचक और संपादक किसी को न माना हो। हिंदी का रचना और सर्जक संबंध भी अब संपादक-सम्बंध और विचारधारा संबंध में बदल गया है। इसी वजह से अब लेखक और सर्जक केवल वही बड़ा है जिसे पत्रिका बड़ा बना दें और कितना भी बड़ा सर्जक हो यदि पत्रिका न चाहे तो वह उपेक्षाओं की टोकरी में ही पड़ा रहेगा।*

आलोचना सृजन का निकष है। आलोचना रचना का अवलोकन न होकर रचना में अवगाहन है। आलोचना आकलन ही नहीं करती बल्कि सृजन के स्तर और गुणवत्ता के प्रति सर्जक को प्रेरित भी करती है। आलोचना रूपवादी, भाववादी, यथार्थवादी या कलावादी आदि के पहचान-पत्रों के आधार पर नहीं की जाती। वह तो सर्जक के सृजन की काया और माया में प्रवेश है। वह रचना में किसी शब्दलोक का ही अन्वेषण नहीं करती बल्कि वह तो अर्थ के आलोक को प्रकट करती हैं। ऐसा भी नहीं होता कि सृजन और आलोचना के बीच कोई तीसरी उपस्थिति नहीं होती। अनेक बार यह तीसरी उपस्थिति सर्जक के रूप में हस्तक्षेप करती रहती है।

अपनत्व, आत्मीयता और सम्बन्धों के माधुर्य अनेक रचनाओं में सर्जक को ही खोजते रहते हैं। इस कारण आलोचना अपने रचना-अभीष्ट से कट कर सर्जक-अभीष्ट हो जाती है। सर्जक-अभीष्ट हो जाना भी उतना घातक नहीं होता है यदि आलोचक, सर्जक को सर्जक की तरह ही देखे-परखे। अनेक पुस्तक-समीक्षाएं अक्सर सर्जक-अभीष्ट होती हैं जिनमें आलोचना के तटस्थ और साहित्यक मानकों का उपयोग न होकर प्रशंसा, पूर्वग्रह, मित्र-मोह, पद-प्रतिष्ठा, लाभ-हानि के गणित और स्वयं की आलोचक के रूप में स्थापना का भाव अधिक होता है। ऐसी समीक्षाएं सर्जक और उसकी रचना का विज्ञापन तो बन जाती हैं, लेकिन विवेचन नहीं बन पातीं।

हिंदी के पास सृजन की बहुवचनीय धाराएं हैं। काव्य, कथा, उपन्यास, नाटक, व्यंग्य, निबंध यात्रावृत्त, जीवनी, डायरी, रिपोर्ताज, साहित्येतर-विषयों पर लेखन, इन सब विधाओं के लिए समीक्षाएं और आलोचनाएं होती हैं। यहां तक की आलोचना की भी आलोचना की जाती है। डॉ. नगेन्द्र ने आलोचना में सिद्धांत-दृष्टि का प्रतिपादन कर सृजन की मूल भूमि को पुन: अन्वेषित और स्थापित किया। जो कार्य संस्कृत के काव्यशास्त्री और मीमांसा-विद् किया करते थे, उसे हिंदी में हिंदी साहित्य के माध्यम से नगेन्द्र ने नई प्राण-प्रतिष्ठा दी और आलोचना के लिए उन तत्वों का भी उद्घोष किया जो रचना की प्रवृत्ति और प्रकृति को परखने के लिए अपरिहार्य एवं अनिवार्य हैं। इसीलिए वस्तुनिष्ठता, विश्लेषणात्मकता और सैद्धांतिक प्रतिपादेयता नगेन्द्र जी के निबंधात्मक विमर्श में मिलती हैं। वे रस, छंद, अलंकार, काव्य-शास्त्र और रचना सभी के आधार पर आलोचना को गद्य-प्रबंध की भांति लिखते हैं। लगभग इन्हीं गुणों का कुछ अधिक मुखर और मौलिक विवेचन के साथ समावेश डॉ. रामविलास शर्मा, और नंददुलारे वाजपेयी में भी पाया जाता है, जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह, ऐसी आलोचना से विचलन करते हैं। रामचंद्र शुक्ल ने जिस शास्त्रीय और निबंध-प्रधान आलोचना प्रणाली का हिंदी में बड़ी विदग्धता के साथ आरोपण या आरोहण किया था, उसका आतंक हिंदी आलोचना पर अनेक दशकों तक जारी रहा और कुछ हद तक आज भी है। साधारणीकरण और महाकाव्य के तत्वों के संबंध, जिस प्रकार के निष्कर्षात्मक और निर्णायक ढंग से शुक्ल जी ने स्थापित कर दिए, उन्हें चुनौती देने का डर हिंदी के आलोचना-मानस पर लंबे समय तक हावी रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से किसी भी साहित्य की प्राथमिक ऊर्जा के संवाहक ऐसे ही व्यक्तित्व होते हैं। क्या अंग्रेजी में डॉक्टर जॉन्सन, अमरीकी साहित्य में एमर्सन, जर्मन साहित्य में रिल्के, फ्रेंच साहित्य में बादलेयर, पॉल वेलरी, मलार्मे आदि ऐसे ही आलोचक नहीं थे? यदि इसके भी पहले पश्चिमी आलोचना के मानदण्डों पर दृष्टि डाली जाए तो प्लेटो और अरस्तू पूरी पश्चिमी मनीषा पर कितने हावी रहे! वाल्टर पेटर, लांजयनस, होरेस आदि तो पश्चिमी साहित्यशास्त्र के वर्चस्वी-शास्त्रकार बने रहे।

भाषा की अपनी प्रकृति और गति ही यह है कि वह रूप और गति दोनों में परिवर्तन मूलक है। भाषा विचार-रूपा भी है। भावरूपा भी और व्यवहार-रूपा भी। इसलिए यदि अंग्रेजी या पश्चिम की मीमांसा और आलोचना प्रणाली प्लेटो, अरस्तू, लांजयनस से इतिहास रचती हुई एलियट, स्पेण्डर, वाल्टर बेंजामिन; ल्यूकाच, लीविस, पाउण्ड, फ्रेंक कमोड आदि तक आकर इतिहास की प्रवत्तियों के विरुद्ध नई प्रवृत्तियों को उद्घाटित करती है, तो इससे यह बात तो पुष्ट होती ही है कि रचना इतिहास में तो जी सकती है लेकिन वह हमारे साथ अतीत बनकर खड़ी नहीं रह सकती। आलोचक मानस उसकी ऐतिहासिकता को निरस्त भले ही न करे, लेकिन मान्यताओं को ध्वस्त, निरस्त या परिवर्तित कर सकता है और संभव है कि कुछ सीमा तक स्वीकार भी कर सकता है या उनका परिष्कार भी कर सकता है। रचना का अपना रस-तंत्र या भावतंत्र आलोचक के पास आकर उसे उकसाता है कि वह उस पर नज़र डाले, उसके अन्दर-प्रवेश करे और आलोचक सृजन को सृजन सिद्ध करे या उसे निषिद्ध करे।

हिंदी आलोचना ने अपने काव्य-शास्त्रीय सिद्धांतकारों से जो जाना और समझा और पश्चिमी काव्यशास्त्र और सिद्धांतकारों को जिस प्रकार से अपनाया, उससे विश्व-साहित्य में एक बड़ी घटना घटी जो संभवतया आगे चलकर पश्चिम को भी चकित कर दे। पश्चिम ने जो काव्य-शास्त्र या सिद्धांत-सूत्र रचे, उनमें संस्कृत, अरबी, एशियायी और अफ्रीकी पृष्ठभूमि का अभाव है। इसलिए उनके सारे मानक ग्रीस या ज्यादा से ज्यादा लेटिन से आए और वे ही पश्चिमीकृत मानक बन गए। विशेषकर एशियायी देशों और भारत में ऐसा नहीं हुआ। हिंदी में यदि अपनी मूल परंपरा संस्कृत, पाली आदि से प्रेरित रही तो उसने पश्चिमी मानक और पश्चिम के हर स्कूल या विचार को भी अपनाया। ग्रीक, लेटिन के साथ आधुनिक पश्चिम की विचार-धारा ग्रस्त परंपरा भी हिंदी में ग्राह्य हुई। मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र तो हमारे सम्पूर्ण बौद्धिक और साहित्यिक मानस की आलोचना-प्रणाली बन कर हम पर आज तक भी छाया हुआ है। उसने कलावाद, क्यूबवाद, दादावाद, प्रभाववाद, अभिव्यक्तिवाद सबकी धज्जियां उड़ाते हुए एक समाजवादी सौन्दर्यशास्त्र रचा, ठोस और निर्भावुक लेकिन कठोर और कट्टर आक्रामक और आवेशपूर्ण। इससे सृजन की रसधारा और कलात्मक प्रेरणाएं शिथिल, उपेक्षित और वर्जित करार दे दी गई। लेकिन मनुष्य और उसके बहुवचनीय यथार्थों के संवेदन महत्वपूर्ण हो गए। सृजन में शब्द मनुष्य हो गया, रचना मानवीय होने लगी और इन सबका सौन्दर्य कोई द्वंद्व, कोई संघर्ष या कोई आक्रोश बन गया। सृजन में शब्द की अर्थगामी, गंभीरता और अहिंस्र निरीहता का लोप हुआ और सृजन के साथ आलोचना प्रवचनीय, उद्घोषात्मक एवं दुराचारी बन गई।

यह तो ठीक है कि भाषा में निहित सभी शक्तियों का सृजन और आलोचना

में न केवल उपयोग बल्कि विस्तार हो लेकिन साहित्य या सृजन की किसी भी विधा को हम समाजशास्त्री या वाम-दक्षिण पंथी पोशाकें पहनाकर तो नहीं तोल सकते। हमने कालीदास से कबीर तक जब ऐसा नहीं किया तो हम निराला से नागार्जुन तक, अज्ञेय से मुक्तिबोध तक या प्रेमचन्द्र से निर्मल वर्मा तक ऐसा क्यों कर रहे हैं। क्यों आज हमारे आलोचना-मानस में कबीर, निराला, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, प्रेमचन्द, भीष्म साहनी, अमरकांत और छठे दशक की तिकड़ी एक तरफ खड़ी है और तुलसी, सूर, प्रसाद, पंत, जैनन्द्र, अज्ञेय आदि दूसरी ओर? क्या एक समग्र ओर सम्पूर्ण भाषा को उसकी सर्जना में बांट कर देखा जा सकता है? क्या समाजवादी, मार्क्सवादी और यथार्थ या प्रगतिवादी हिंदी का हिंदी अर्थ अलग है और भाव, रूप, रस, कला और विचारवादी हिंदी का अलग हिंदी अर्थ? भाषा का शब्द भण्डार नई प्रवृत्तियों से बढ़ता है, अर्थ-विकास भी बहुअर्थात्मक होता है लेकिन भाषा हिंदी है तो हिंदी ही रहेगी। वह वाम-हिंदी या दक्षिण-हिंदी कैसे होगी? हां यह अवश्य है कि भाषा के मानकीकरण क्षेत्रीयता के आधार पर हुए हैं और दक्खनी उर्दू या हिंदी का एक भाषा-रूप अलग ढंग से विकसित हुआ दिखाई देता है लेकिन उसे भी वाम-हिंदी या दक्षिणी हिंदी, समाजवादी हिंदी या सौन्दर्यवादी हिंदी, कर्मवादी-हिंदी और कलावादी हिंदी तो नहीं कहा गया।

हिंदी का सर्जक आज अपनी चेतनात्मक-बेहोशी के साथ किसी कॉलेरिज की तरह अर्द्धमूर्च्छित और अर्द्ध-चेतन है लेकिन उसकी आलोचना मूर्च्छा-ग्रस्त नहीं है। हिंदी आलोचक विचार, विवेचन, विश्लेषण, विमर्श सभी से विन्यस्त है। उसके पास इतिहास-बोध भी है और वह इतिहास विमुख भी, वह शास्त्रीय भी है और परंपरा-विचलित भी, वह आधुनिक भी है और उत्तर-आधुनिक भी। रचना जितने रूपों में उसके समक्ष प्रकट होनी है, उतने ही रूपों में आलोचना उससे मुठभेड़ करती है, टकराती है और आज की आलोचना की खूबी यह है कि वह अपने अन्दर सृजन की काया का प्रवेश करा लेती है या वह स्वयं सृजन की काया में प्रविष्ठ हो जाती है। दोनों अपने में आत्मरंग हो जाएं, दोनों की उभयता आत्मरंगता में विलीन हो जाए, तभी तो आकर ऐसा लगता है जैसे कोई शंकराचार्य अपनी काया का प्रक्षेपण अन्य काया में कर रहा हो। एक आलोचक के व्यक्तित्व का सृजन में यह संविलयन ही उसे रचना से जोड़ता है, आलोचना और रचना के बीच व्यक्ति के स्थान पर विचार, शिल्प, भाषा, दृष्टि और सौन्दर्य कभी साथ तो कभी बारी-बारी से आकर उपस्थित होते हैं। एक आलोचक जब तक इस सीमा तक आलोच्य कृति में निभज्जित नहीं होता, डूबता नहीं, तब तक उसकी आलोचना दृष्टि-परक और मूल्यपरक नहीं बनती, विचारपरक और वस्तुपरक भी नहीं बनती बल्कि वह एक ऐसे आलेख की तरह रह जाती है जो विषय की मांग पर विषय के निष्पादन, सम्पादन या निरसन तक सीमित होता है।

संस्कृत परम्परा-जन्य हिंदी आलोचना अपने आरंभ के साथ काव्य-केन्द्रित ही रही। संस्कृत में वाणभट्ट की कादम्बरी को कथागद्य कहा गया है और यद्यपि वह प्रथम गद्य-रचना मानी गई फिर भी रूप में तो वह काव्य ही के समान थी। संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य पर जितना विमर्श हुआ वह टीकात्मक, मीमांसात्मक और प्रतिपादेय अधिक था, आलोचनात्मक उस प्रकार नहीं था जिस प्रकार आज है। इसी कारण हिंदी का प्रारंभिक आलोचना केन्द्र काव्य और नाटक बना। नाटक पर भी सैद्धांतिक लेखन ही अधिक हुआ, आलोचनात्मक लेखन कम। प्रसाद के नाटकों को लेकर आलोचना का केन्द्र नाटक अवश्य बने लेकिन नाटकों की कोई नियमित और समग्र आलोचना-प्रणाली भारत के नाट्यशास्त्र से पृथक होकर स्थापित नहीं हुई। कथा, उपन्यास, निबंध, ललित निबंध व अन्य अनेक विधाओं के साथ भी लगभग ऐसा ही हुआ बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि कहानी और उपन्यास की आलोचना में तो काव्य से पृथक तत्वों का विकास हुआ लेकिन निबंधों व अन्य विधाओं की आलोचना मात्र समीक्षात्मक आलेख बन कर रह गई। आलोचना की आलोचना तो लगभग आलोचनात्मक मूल्यों के साथ हुई ही नहीं, रामचन्द्र शुक्ल को छोड़कर उनके बाद की पीढ़ी में राम स्वरूप चतुर्वेदी, प्रभाकर श्रोत्रिय, रमेशचन्द्र शाह, मलयज, अशोक वाजपेयी आदि पर तो आलोचनात्मक कार्य आलोचना को केन्द्र में रखकर हुआ ही नहीं। इससे भी बड़ी बात यह है कि जिन आलोचकों का अवदान हिंदी में ऐतिहासिक रहा-जैसे नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद जी, रामविलास शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नामवर सिंह आदि-इन पर भी कोई आलोचनात्मक लेखन लगभग नहीं हुआ। देवीशंकर अवस्थी और धनंजय वर्मा ने कहानी की आलोचना में सार्थक हस्तक्षेप किया और काव्य की सौन्दर्यवादी आलोचना के मुकाबले विचार और विमर्शात्मक आलोचना के कुछ मानक रचे लेकिन कथा आलोचना का एक सर्वमान्य आलोचना-शास्त्र आज भी आकार नहीं ले पाया है।

हिंदी आलोचना की एक-सीमा यह भी रही है कि वह सर्जक और काव्य-प्रधान तो अवश्य रही लेकिन उसने भी ऐसे पृथक-पृथक मानक खड़े नहीं किए जिनसे कथा की आलोचना के मानक, काव्य के मानक, नाटक के मानक, निबंध एवं अन्य विधाओं के मानक उन्हीं विधाओं से जोड़कर देखे जा सकते। ऐसा तो पश्चिम के परंपरागत से लेकर अधुनातन लेखन तक में भी नहीं हुआ है फिर भी पश्चिमी आलोचना ने ह्यमर, निबंध, नाटक, सटायर, उपन्यास या फिक्शन को लेकर ठोस कार्य किया है। ई.एम. फार्स्टर ने 'आस्पेक्ट्स आफ नॉवेल' लिखकर पश्चिमी कथा-साहित्य की आलोचना-दृष्टि रची है।

निबंध एक स्वतंत्र ओर सार्वभौम सृजन-विधा है। इसीलिए निबंध चाहे एलियट या एज़रा पाउण्ड लिखें या निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह एवं अशोक वाजपेयी, वह विषय-परक सृजन ही है, और अनेक बार कुछ कला-विषयों पर लिखे गए आलेख

विश्लेषणात्मक या विवेचनात्मक निबंध ही माने जा सकते हैं। उन्हें किसी हद तक कला के क्षेत्र की आलोचना कहा जा सकता है लेकिन कला-आलोचना के भी कोई मानक तो हमारे पास हैं नहीं, इसलिए कला-आलोचना साहित्यिक-मानकों से ही परखी जाती है या अधिक से अधिक वह कला-आकलन या कला-मूल्यांकन बनकर रह जाती है।

काव्य-शास्त्रीय आलोचना का एक नया विकल्प भाषिक-आलोचना ने रचा। यह भाषा-वैज्ञानिक आलोचना एक प्रकार से काव्य-शास्त्रीय आलोचना में अवाँगार्द बनी और इसमें कलात्मक और सौन्दर्यात्मक आलोचना-तत्वों के स्थान पर भाषिक-तत्वों ने स्थान ले लिया। भाषिक आलोचना ने दो प्रकार से हस्तक्षेप किया। जो सायकोलिंग्विस्ट या मनो-भाषा वैज्ञानिक थे वे तात्विक आलोचना करने लगे और चूंकि समाजशास्त्रीय भाषा-विज्ञान ने लगभग पांच दशक तक विश्व साहित्य में हस्तक्षेप किया, इसलिए सृजन में सामाजिकता की खोज की जानी लगी और समाजशास्त्रीय भाषा-विज्ञान के अनेक सूत्र सर्जनात्मक-आलोचना पर भी आजमा दिए गए। एलेनटेट ने जब शब्दों के 'तनाव' की बात की, तो हिंदी के परंपरावादी आलोचकों ने उसका अर्थ भाषिक तनाव या शब्द के अर्थगत तनाव न लेकर समाजशास्त्रीय 'तनाव' से उसे जोड़ दिया। शैली विज्ञान के अन्तर्गत 'तनाव' का अर्थ है शब्द को अर्थ के साथ तानना। जिस प्रकार निकष पर सोने का तार ताना या खींचा जाता है। अर्थात् शब्द अपनी अभिव्यक्ति में में कितना लम्बा, कितनी दूर, तक, कितनी रेंज तक जा सकता है, उसे सृजन के माध्यम से जानना। शब्दकोश में शब्द के निष्क्रिय अर्थ निहित होते हैं और शब्द सृजन में सक्रिय होकर बहुअर्थी, बहुवचनी और बहुआयामी हो जाता है। वह अनेक अर्थों के साथ प्रकट हो सकता है और एक अनंतता अपनी भी व्यक्त करता है। इस भाषिक तनाव को शैली-वैज्ञानिक आलोचना ने महत्वपूर्ण माना है।

शैली विज्ञान से संरचनावाद, सम्प्रेषणवाद, पंजीकरण, अर्थ विज्ञान, सिमयोटिक्स (लक्षणविज्ञान), स्वनिम, रूपिम या धातु विज्ञान, शब्द व ध्वनि की चेस्ट-पल्स थियरी, शिल्प और भाषा के विविध रूप आदि सृजन की आलोचना का एक नया शास्त्र लेकर आए। उपनिवेशवाद, उत्तर-उपनिवेशवाद, इतिहासवाद-उत्तर इतिहासवाद, संरचनावाद-उत्तर संरचनावाद, आधुनिकतावाद, उत्तर आधुनिकतावाद जैसे अनेक नए मुहावरों ने भाषिक आलोचना के मनोविज्ञान और समाज शास्त्र से ही जन्म लिया। भाषा के सर्जन और विसर्जन, रचना और विसंरचना के मानदण्ड भी भाषिक आलोचना की देन है और जिनके महागुरु आज ल्यौतार, रोरती, सूजन साण्टेग, दैरिदा ओर मिशोल फोकू जैसे सामाजिक, ऐतिहासिक ओर भाषिक चेतना सम्पन्न आलोचक और विमर्शकार माने जाते हैं, जो समग्रता को खण्डित भी करते हैं और खण्डित को समग्र बनाने की तरकीब भी देते हैं, जो इतिहास, उपन्यास और समय की मृत्यु भी घोषित करते हैं और इतिहास-वस्तु या कथावस्तु की उपस्थिति से विक्षुब्ध

भी है। रिचर्ड रोरटी ने तो लेखकों की अलग-अलग इच्छाएं देखकर उनके आलोचनात्मक ओर सृजनात्मक चरित्र की व्याख्या की है। रोरटी कहता है।

Different writers want to do different things, Proust wanted autonomy and beauty. Nietzsche and Heidegger wanted autonomy and sublimity, Nabokov wanted beauty and self-preservation; Orwell wanted to be of use to people who were suffering. They all succeeded. Each of them was brilliantly equally successful.

आलोचक की स्वयात्तता ठीक सर्जक की स्वायत्तता की तरह होती है। यह अवश्य है कि आलोचना-कर्म सृजन-आश्रित होता है लेकिन आलोचना स्वयं अपने पर या आलोचना की दिशा, दृष्टि, सार्थकता आदि पर भी लिखी जा सकती है और सिद्धांतपरक भी हो सकती है, इस माने में आलोचना को स्वायत्त कहा जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि हिंदी आलोचना क्या हो? वह सृजन की आलोचना हो या सर्जक की, या दोनों की? सर्जक यदि आलोचना केन्द्र बना तो अनेक पूर्वग्रह, दुराग्रह ओर व्यक्तित्व के सम्मोहन एवं मोहभंग सभी उसमें शामिल हो जाएंगे। सृजन की आलोचना में व्यक्तित्व छद्म हो जाता है और सृजन ही व्यक्तित्व गृहण कर लेता है। सृजन में भी ऐसा हो सकता है जब पूर्वग्रह हावी हो जाएं।

आलोचना को व्यक्ति-निरपेक्ष बनाने के लिए आवश्यक है कि अन्यता और अनन्यता के बीच निष्पक्ष भेद किया जाए। एक सर्जक अपने सृजन के माध्यम से प्रभावित करे और अनन्य हो जाए तो यह सृजन-जनित अनन्यता है और उससे आलोचना में सराहना-तत्व अधिक भी हो तो भी वह अनन्यता किसी मित्रता का आग्रह या दुराग्रह बनकर आलोचना नहीं बनती। वैसे आलोचना का केन्द्रीय स्थायी भाव तो अन्यता ही होना चाहिए। यदि आलोचक अन्यता अपना कर किसी भी रचना की तात्विक आलोचना करता है तो ऐसी आलोचना में रचना के तत्व ही केन्द्रीय वस्तु बनते हैं। कविता में काव्यशास्त्रीय मानक और नई कविता की अवधारणात्मक प्रवृत्तियों का रचना के साथ विश्लेषण किया जा सकता है। कथा अधिक व्यक्तिपरक, घटना-परक या स्थितिपरक होती है। विचार, कथा में चरित्र और स्थितियों के अन्दर से प्रकट होता है। कहानी का बीच-बीच में निबंधीकरण करने वाले कथाकार या उपन्यासकार कभी कभी विचार की स्वतंत्र प्रस्तुती कर देते हैं जिसे प्रसिद्ध लातीनी अमरीकी कथाकार जार्ज लुई बोर्खेज ने *'हाफ वे हाउस बिटवीन एन एसे एंड अ स्टोरी'* कहा है। प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कृष्ण बल्देव वेद, गिरिराज, किशोर, रमेशचन्द्र शाह ऐसा कई जगह अपनी कहानियों व उपन्यासों में करते हैं। कथा को कथा के प्रवाह में ही बनाए रखने का गुण कृष्णा सोबती में है।

रचना-आधारित आलोचना में एक सीमा यह होती है कि उसे रचना में ही केन्द्रित करना होता है। सर्जक-केन्द्रित आलोचना कई बार अपने सम्बंधों, अपने पूर्वग्रहों, अपनी धारणाओं और अपने सही-गलत विवादों के चक्रवात में फंस जाती

है। ऐसी आलोचना कभी-कभी कुछ सर्जक और पत्रिका संपादक प्रायोजित भी करवा सकते हैं। छवि-भंजन और छवि-रंजन के शौकीन आलोचक सर्जक का प्रभामण्डल, पद-प्रभाव, पत्रिका-वर्चस्व या अन्य शक्तियों को अपने पर हावी कर लेते हैं या इतना अपनत्व और अनन्यत्व ओढ़ लेते हैं कि वे उस सर्जक की रचना-शक्ति का गुणगान करने लगते हैं। आलोचना न निंदा है, न गुणगान। वह तो लोचन में समाविष्ट आकलन-क्षमता और तटस्थता है। आलोचना रचना का भौतिक अवलोकन भी नहीं है, वह तो अध्ययन की गूढ़ता है। पत्रिकाई समीक्षाओं में अवलोकनात्मक आलोचनाएं या तो फ्लेप-मैटर पढ़ कर लिख दी जाती हैं या लेखक से सम्पर्क कर सरसरी तौर पर रचना पर नज़र डाल कर लिख दी जाती है लेकिन ऐसा भी होता है कि पत्रिकाई समीक्षा यदि पूरी ईमानदारी, निष्ठा और निष्पक्षता से अध्ययन-परक होकर लिखी गई है तो वह न केवल सर्जक को प्रतिष्ठित करती है, बल्कि सर्जक के लिए व्यापक आलोचना-बोध अन्य आलोचकों में उत्पन्न करती है। कई बार जिन्हें अनेक सर्जक नकारात्मक आलोचना मान कर बुरा मान जाते हैं और नकारात्मकता को समीक्षा मानने से इंकार कर देते हैं, वे सर्जक नकारात्मक आलोचना के कारण अधिक पढ़े जाने लगते हैं, उन पर परोक्ष या प्रत्यक्ष संवाद होने लगता है, खण्डन-मण्डन होने लगते हैं और नकारात्मकता के क्षोम से ग्रस्त लेखक अधिक पठनीय हो जाता है। नकारात्मक आलोचना का अर्थ छिद्रान्वेषण नहीं है बल्कि रचना की अनेक बारीकियों को पकड़ कर उनमें निहित कमजोरियों का उद्‌घाटन है और साथ ही यह भी निष्कर्ष है कि यदि वे कमजोरियां किसी भी स्तर पर कम की जा सकतीं, तो रचना अधिक सशक्त, आमंत्रणकारी और आकर्षक होती। नकारात्मक आलोचना यदि निन्दात्मक नहीं है या किसी भी लेखक के छवि-भंजन के दुष्चक्र की शिकार नहीं है तो वह आलोचना सराहनात्मक आलोचना या चापलूसीकरण से बच सकती है और अपने काव्य न्याय का निर्वाह कर सकती है।

निबंधों में जिस प्रकार वैचारिक आलोचना का अवतरण हुआ है, उससे रचना या रचनाकार गौण होकर पृष्ठभूमि में चले गए। वहां कवि, कथाकार, नाटककार या अन्य विधा-सर्जक केन्द्र में न होकर समय और अवकाश केन्द्र में होते हैं। रचना की मूल-प्रवृत्तियां और सृजन की तात्विकता केन्द्र में होती हैं। विचार, विचारधारा और भाषा केन्द्र में होती है। शिल्प और रचना-विधान केन्द्र में होता है। ऐसी आलोचनातमक व्याख्याएं निष्पत्तियां देती हैं, वे सृजनात्मक रुचियों को प्रकाशित करती हैं और अपने समय के बाद पीढ़ियों तक पहुंच कर उनके सृजन के संस्कारों का परिष्कार और विकास करती हैं। जरूरी नहीं कि इसके लिए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह डंडा उठा कर साहित्यकारों को फटकारा जाए या रामचन्द्र शुक्ल की तरह सिद्धांत-निरूपण किया जाए। निर्मल वर्मा ने 'शताब्दी के ढलते वर्षों में', 'कला का जोखिम' और 'शब्द और स्मृति' आदि में जो निबंध रचे हैं, वे किसी भी कार्य या कथा-रस की तरह हैं, मौलिक और मनोभावात्मक हैं, विचार और अध्ययन के लिए उकसाते हैं। इसी प्रकार प्रभाकर

श्रोत्रिय जब 'कविता की तीसरी आंख' में बिम्ब, रस, छंद, रूप आदि की तात्विक मीमांसा काव्य के संदर्भ में करते हैं, तो एक साथ भारतीय शास्त्रीय और आधुनिक दृष्टियों की सादृश्यता और असादृश्यता का बोध होता है। काव्य की मूल भूमि के प्रति उत्कण्ठा और चेतना जाग्रत होती है और सर्जक की सृजनीय क्षमता सशक्त और व्यापक होती है। यही बात लगभग रमेशचन्द्र शाह की पुस्तक 'छायावाद की प्रासंगिकता' को लेकर कही जा सकती है। शुक्ल जी के लिए प्रारंभ में छायावाद ठीक वैसा ही था जैसे अंग्रेजी में रोमेण्टिसिज्म डॉ. जान्सन के लिए और उस समय के अनेक आलोचकों ने तो यहां तक कह दिया था कि इन *'रोमेण्टिक सर्पों को क्लासिसिज्म के सुन्दर उद्यान में घुसने न दिया जाए'*। सौन्दर्यवादियों ने अपने आपको सौन्दर्यवादी सिद्ध करने का नायाब लेकिन भौण्डा नुस्खा यह भी निकाला था कि 'इस्थेटिक आंदोलन' के कवि हाथ में गुलाब का फूल लेकर 'आय एम इस्थेट' कहते फिरते थे, यह एक प्रकार का अतिवाद था लेकिन ऐसे कलात्मक आंदोलन का एक परिणाम अंग्रेजी कविता में 'प्रिरेपलाइट' कविता का उद्भव है जिसमें कविता पेण्टिंग की तरह बहुरंगी ओर आकर्षक हो उठी थी। रमेशचन्द्र शाह ने छायावाद के प्रति प्रचलित मान्यताओं के सभी आग्रह और दुराग्रह खण्डित कर दिए। प्रगतिशील आन्दोलन के बहाव में जिन कथित वामवादियों ने प्रसाद की अवहेलना कर निराला का एकपक्षीय गुणगान प्रारंभ किया था, उनका प्रत्युत्तर 'छायावाद की प्रासंगिकता' में निराला की विराटता कायम रखते हुए शाह ने प्रसाद पर लिखे निबंधों में दिया है। शाह ने निराला की उत्कृष्टता का न अवमूल्यन किया और न प्रसाद का अतिमूल्यन, लेकिन जिस तटस्थ, निरपेक्ष और विचार-परिपक्व सौन्दर्य दृष्टि का अन्वेषण शाह ने किया, उससे आलोचना कें स्वाभाविक चरित्र की स्थापना हुई।

अशोक वाजपेयी ने जब अपने पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलेखों व निबंधों का संग्रह 'फिलहाल' प्रकाशित किया तो पश्चिमी दृष्टि का एक नया आलोक हिंदी के सृजन और आलोचना-लोक में प्रकट हुआ। 'अवांगार्द' जैसा शब्द अशोक जी के 'फिलहाल' ने हिंदी का शब्द बना दिया। पश्चिम को, स्वीकार्य दृष्टि से नहीं, बल्कि आलोच्य दृष्टि से, उद्घाटित और प्रस्तुत कर हिंदी आलोचना का नया भाषा-संस्कार जिस प्रकार अशोक वाजपेयी ने किया वैसा अन्य किसी ने शायद ही किया हो (संभवतया मलयज को छोड़कर)। रामचन्द्र शुक्ल की परंपरा का जो आसवी खुमार नामवर सिंह तक पर था उसे सबसे पहले अशोक वाजपेयी ने ही उतारा और वैसा ही काम लगभग मलयज और रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी किया लेकिन यहां भाषागत विचलनों और शिल्पगत मुखरता में अशोक सबसे आगे निकल गए। 'फिलहाल' ने लगभग वही काम किया जो देवकी नंदन खत्री ने हिंदी सीखने के लिए 'चद्रकान्ता संतति' के ज़रिए कर डाला था। 'फिलहाल' पढ़ कर पश्चिम को पढ़ने का एक नया संस्कार जन्मा और पश्चिम को हिंदी से सम्पृक्त रखने का विवेक कायम हुआ, नई आलोचना शैली का अभ्युदय हुआ और रचना-परक आलोचना के साथ-साथ विचार-

परक आलोचना का विकास हुआ।

हिंदी आलोचना का विस्तार तो विचार और विचारधारा दोनों ही स्तर पर खूब हुआ। यहां तक कि अहिंदी भाषी आलोचकों और साहित्येतर लेखकों ने भी हिंदी आलोचना लिखी लेकिन हिंदी का समूचा निबंधात्मक आलोचना कर्म पश्चिम के प्रभाव के साथ ही हुआ। एलियट और स्टीफन स्पेण्डर ने हमारे समय में और बादलेयर, मलार्मे, पॉल वेलरी, एलेक्शांद्र ब्लोक, येट्स, रिल्के, स्टीफन जार्ज आदि प्रतीकवादियों ने जिस तात्विक और निबंधात्मक आलोचना का 18वीं से बीसवीं शताब्दी तक विस्तार कर दिया था, उससे हिंदी में अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, विजय देव नारायण साही आदि अनेक सर्जक आलोचकों ने जो आलोचना कर्म किया वह हिंदी की चिरस्थायी निधि बन गया। उसी का तो अधिक प्रगाढ़ प्रयोग आगे चलकर अन्य हिंदी सर्जकों ने भी किया। नामवर सिंह, रामविलास शर्मा, प्रभाकर श्रोत्रिय और विजय बहादुर सिंह, जैसे आलोचकों को यदि उनके कवि, नाटककार होने के अन्यत्व मोह से मुक्त करके परखा जाए, तो ये आलोचक हिंदी भाषा और साहित्य के शुद्ध आलोचक कहे जा सकते हैं ठीक वैसे ही जैसे रामस्वरूप चतुर्वेदी, शिवकुमार मिश्र, शिवदान सिंह चौहान आदि हैं। चन्द्रकान्त बादिवडेकर, विजयेन्द्र, विजयमोहन सिंह, सुधीश पचौरी, मदन सोनी, ज्योतिष जोषी भी इस बीच हिंदी आलोचना में अपनी उपस्थिति सूचित करने लगे लेकिन इनमें हिंदी आलोचना का भारतीय और पश्चिमी दृष्टियों के सम्यक उत्कर्ष का उदाहरण मदन सोनी में पाया जाता है। यद्यपि मदन पर क्लिष्टता के आग्रह का आरोप है, तथापि उनका आलोचना-विवेक मौलिकता और स्पष्टता की आत्म-नियंत्रित दृष्टि का द्योतक है। निर्मला जैन, राजी सैठ, मृदुला गर्ग आदि ने आलेखात्मक टिप्पणीकरण किया है फिर भी उनकी आलोचना दृष्टि में आलोचक की आकस्मिकता के बजाए गहराई दिखाई दी। अनूदित व निबंधात्मक आलोचनाओं और विचार-आन्दोलनों की रूपवाद से लेकर उत्तर आधुनिकतावादी आलोचना तक जो भी आलोचनाएं इस बीच हिंदी में आई उनसे यह भी लगा कि हिंदी ने अपनी आलोचनात्मक शक्तियों को अधिक उदात्त और गृहणशील बनाया है और हिंदी भाषा विश्व की किसी भी आलोचना-भाषा के मुकाबले कमतर नहीं मानी जा सकती। इसके विपरीत हिंदी को जो वायुमण्डल उपलब्ध है वह इतना विस्तृत और व्यापक है कि वैसा तो योरोप और एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका में किसी अन्य भाषा के पास नहीं है। हिंदी की जितनी उप-भाषाएं या बोलियां हैं, लिपियाँ हैं, सीमावर्त्ती क्षेत्रों की भाषाएं और उनका साहित्य है, उसे देखते हुए यदि अंग्रेजी को देखा जाए तो अमेरिका व इंग्लेण्ड दोनों ही देशों में उनके पास भाषाओं और उनके साहित्य का इतना विराट व्योम है हीं नहीं। आश्चर्य यह है कि ऐसा न होते हुए भी उनके पास सर्वाधिक समृद्धि साहित्य है।

यदि हिंदी आलोचना की संभावनाओं पर विचार किया जाए तो एक बहुभाषी और बहु-बोली देश की देशज और आंचलिक साहित्य-सर्जनाओं का एक महा-

ब्रह्माण्ड हिंदी के पास है। हिंदी आलोचना में अन्वेषण, अनुसंधान या शोधपरक आलोचना उस स्तर तक नहीं जा पाई है जो स्तर पश्चिम ने एक-भाषीय देशों के रूप में हासिल कर लिया है। जहां तक सर्जनात्मक और रचना-आधारित आलोचना का प्रश्न है, हमारे आलोचक की अध्ययन-परम्परा भी गंभीर ओर सन्दर्भमूलक नहीं है। वह अपने ही निष्कर्ष और फतवे देने लगता है और प्रारंभ में जिन आलोचकों, सम्पादकों और निबंधकारों ने अध्ययनशील रचना-परक आलोचना की उत्कृष्टता रची थी, वे भी अपने यशस्वी मायालोक से इस कदर ग्रस्त हो गए कि उनका आलोचना-विवेक लगभग आलोचना-अहंकार में बदल गया जिसकी पतन-पराकाष्ठा तो अब इस बात पर नज़र आने लगी है कि साहित्य, आलोचना और विचार सभी किसी ब्राह्मणवाद, ठाकुरवाद या दलितवाद के मंच की वस्तु बन गए हैं। संभवतया इससे हिंदी आलोचना का राजनीतिकीकरण प्रारंभ होगा और जिस प्रकार अभी तक वामपंथी-दक्षिणपंथी कट्टरताओं के दुराग्रहों की जड़ता साहित्य के शील और गुण को नष्ट करती रही है, वैसे ही जातिवादी जड़ताओं के ये आंतरिक और दुराकांक्षी मोह हिंदी साहित्य के स्वाभाविक और सार्वभौम उत्कर्ष का विनाश कर देंगे और आलोचना-सम्बन्ध रचना व रचनाकार की श्रेष्ठता के मानकों से निरस्त होकर केवल जाति सूचक प्रमाण पत्र बनकर रह जाएंगे।

हिंदी आलोचना का रचना-सम्बंध एक प्रकार से व्यक्ति संबंध भी बना है। जब से हिंदी ने सृजनात्मकता का केन्द्रीकरण दिल्ली में किया, तभी से हिंदी कविता, कहानी, उपन्यास नाटक, निबंध आदि सभी विधाओं में आलोचना की गिरोह बंदी हो गई है। संपादकों और प्रकाशकों या स्वयं सर्जक के माध्यम से आलोचनाएं साधी जाने लगी हैं। एक ज़माना था जब बनारस, मुम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद, लखनऊ, पटना, भोपाल जैसे केन्द्रों से दूरस्थ स्थित सर्जकों के सृजन पर जो लिखा जाता था, वह व्यक्ति आच्छन्न न होने से निष्पक्ष, तटस्थ और रचना के गुण दोषों पर केन्द्रित होता था। बड़ी पत्रिकाएं, बड़े अखबार, बड़े लेखक, बड़े आलोचक सबके सब दिल्ली में, सबके सबसे सम्पर्क, सबके सबसे संवाद और विवाद दोनों, इसलिए सबके अपने-अपने पूर्वग्रह, आत्म-मोह और अपने कृतित्व के प्रति सम्मोहन। इसलिए आलोचना शैली में मौखिक मलखम्भ भी बहुत हुआ और जो लिखा गया वह भी या तो मुठ भेड़ बना या शुद्ध प्रशंसा। हिंदी का आलोचना-संस्कार अभी हिंदी सर्जकों से सधा नहीं है। यह स्थिति ठीक प्रेमचन्द, जैनेन्द्र काल से आज तक जारी है और इसका एक उदाहरण छायावाद काल में दिखाई देता है। छायावाद के लगभग समानांतर प्रगतिशील और राष्ट्रवादी काव्यधाराएं भी आई, चेतनामूलक गद्य लिखा गया, किंतु हिंदी की विदुषी-आलोचना जो केवल विश्वविद्यालयों में शोधकार्य की तरह होती थी वह भी विघटित हो गई और उसके अतिरिक्त नई धारा की आलोचना में प्रगतिशील और राष्ट्रवादी धाराएं लुप्त हो गई। जनकवि और जन कविता के भी मुहावरे उछले, लेकिन उनका आलोचनात्मक स्तर कभी मान्य नहीं हुआ। आज आलोचना में लगभग

बनारस केवल इसलिए स्मरणीय बना हुआ है कि आचार्य विद्यानिवास मिश्र की वह साधनापीठ है। इलाहाबाद में कुछ हद तक रामकमल राय, रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र ने उसे कायम रखने की कोशिश की, मगर पंत, निराला, महादेवी, नरेश मेहता, अमृतराय, इलाचन्द्र जोशी आदि रहित इलाहाबाद ऐसा हो गया, जैसे उस स्तर का जब वहां सर्जक ही नहीं रहा तो आलोचक हो भी तो कैसे हो? ऐसा ही बनारस, लखनऊ और अन्य स्थानों के लिए भी हुआ।

आज की हिंदी आलोचना पत्रिका जीवी हो गई है। संपादक, संपादक भी हैं, सर्जक भी और आलोचक भी। इस कारण लगभग यह तो तय है कि उन्होंने अपने से बड़ा सर्जक, आलोचक और संपादक किसी को माना न हो। हिंदी का रचना और सर्जक संबंध भी अब सम्पादक-संबंध या पत्रिका और विचारधारा-संबंध या पत्रिका और विचारधारा-संबंध में बदल गया। इसी वजह से अब लेखक व सर्जक केवल वही बड़ा है, जिसे पत्रिका बड़ा बना दे और कितना भी बड़ा सर्जक हो यदि पत्रिका न चाहे तो वह उपेक्षाओं की टोकरी में ही पड़ा रहेगा। क्या आलोचना सम्बंध ऐसे संबंधों के रहते जीवित बचेगा? विचारणीय है।

हिंदी आलोचक, सर्जक और आलोचना एक दूसरे से पृथक करके देखे भी नहीं जा सकते। सर्जक हस्तक्षेप करे या न करे लेकिन सृजन के द्वारा व आलोचना से संबंध तो जोड़ ही लेता है। हिंदी आलोचना को सृजन की श्रेष्ठता के प्रति सर्जक को सतत आगाह करना होगा। यदि श्रेष्ठ सृजन नहीं होगा तो श्रेष्ठ आलोचना कैसे होगी! श्रेष्ठ आलोचना भी वह है जो आलोचना के अभिप्राय से ही लिखी गई हो। ऐसी आलोचना पूरे वाङ्मय के अध्ययन और अनुशीलन से उत्पन्न होती है। वह दी गई कितावों पर लिखी गई आलोचना न होकर सर्जक और सृजन का सर्वांग और समग्र मूल्यांकन होती है। प्रसाद, पंत, निराला पर ऐसा काम हुआ भी है लेकिन हिंदी के अनेक दिग्गज कवि, कथा लेखक, उपन्यासकार, नाटककार, निबंधकार आदि ऐसी आलोचना से वंचित हैं। हिंदी की वर्तमान आलोचना को विधा-सम्पन्न भी होना होगा और विश्वविद्यालयीन आलोचना को पेराफ्रेजिंग, एनोटेशन और व्याख्या के बजाए मौलिक आलोचना की वृत्ति उत्पन्न करनी होगी। आलोचना सम्बन्ध वस्तुत: सृजन-सम्बन्ध है। सृजन-सम्बन्ध समग्रता में होता है, खण्डित नहीं। इस दृष्टि से हिंदी आलोचना को संबंधों की विराटता की ओर उन्मुख होकर, स्वयं का कायाकल्प करना होगा। उसे एक ऐसी योगीमुद्रा धारण करनी होगी जिसमें केंवल रचना या सृजन से ही साक्षात्कार हो, तत्व में भी, तथ्य में भी, तर्क में भी और त्वरा में भी। आलोचना और सृजन को परस्पर संवाद करना होगा। सृजन यदि संवाद नहीं करता तो आलोचना निष्प्राण होगी। आलोचना और सृजन में जब तक प्राण संबंध नहीं होंगे, तब तक दोनों ही निष्प्राण बने रहेंगे।

☐

# कविता में उपनाम

गोपाल चतुर्वेदी

***हमें तो शक है कि अजीबोगरीब उपनाम रखकर कुछ कविता के शत्रु घर में घुसकर उसकी हत्या पर उतारू हैं। नहीं तो यह कैसे मुमकिन है कि कोई भी इंसान सूंड, चोंच, सांड या कुल्हड़ कहलाते हुए अपना जीवन गुजार दे। नाम ही तो आदमी का परिचय है। उसे गौरवशाली और प्रसिद्ध करने के लिए व्यक्ति क्या नहीं करता।***

परम्परा एक न रुकने वाली नदी है। उसकी वक्त से सांठ-गांठ है। कुछ व्यक्ति भाग्यशाली हैं। समय की साजिश को पहचानते हैं। परम्परा के साथ जीते हैं। उन्हें पता है। इस नदी से क्यों परहेज़ करें। अंत में इसी के साथ प्रवाहित होना है। दुनिया को स्थाई ठिकाना न मानकर, सिर्फ रैन-बसेरा समझनेवाले, हमें बेहद पसंद हैं। भारत की महत्वपूर्ण परम्परा मेहमान को भगवान मानने की है। दुनिया की नश्वरता का अहसास रखने वाले अकसर अतिथियों की शानदार खातिर करते हैं। हमारे एक मित्र वाराणसी के आसपास के एक भूतपूर्व राजा साहब थे- राजा साहेब औसानगंज। उन्होंने घर के ज़ेवर बेचकर दोस्त की देखभाल की। यह दुखद है कि उनके पुत्र की आतिथ्य-सत्कार में ख़ास रुचि नहीं है। कौन जाने, उन्हें भगवान में भी आस्था न हो। यह राजा साहब की ही इनायत थी कि हमें उनके महल में एक काव्य-संध्या का सुख भोगने का सुअवसर मिला। दिन को जब राजा साहब अपनी कार में बैठकर घर से गए तो दो अंगूठों के अलावा उनकी हर उंगली में एक अंगूठी थी। जब वह दोपहर को लौटे तो रुपए की घटती क्रय-शक्ति सी, उनकी पचास प्रतिशत अंगूठियां नदारद थीं। कार से बोतलों में भरी एक दर्जन के करीब काव्य-प्रेरणाएं बाहर निकाली गईं। उनके चेहरे

पर घर फूंक कर तमाशा देखने की चमक थी और स्वर में उत्साह—"शाम को देखो, कविता में कितना मज़ा आता है।" उसकी पिछली शाम भी उन्होंने हमसे यही कहा था—"शाम को देखो, शहनाई में कितना मज़ा आता है।" तब उनके गले से सोने की चेन गायब हुई थी। कहां केवल एक चेन और कहां चार भारी नगजड़डी अंगूठियां। हम उनके साहित्य और कविता के प्रति लगाव के कायल हो गए।

सूरज डूबने के पहले से राजा साहब कुछ उद्विग्न और बेकरार दिखाई देने लगे। उनके सामने मेज़ पर पांच-छ: गिलास, बर्फ और पानी और नीचे चार-पांच बोतल बंद प्रेरक पेय सजे थे। उन्होंने हमें अपना साथ देने को निमंत्रित किया। हमने उन्हें अपने 'डायवैटिक' होने की त्रासदी बताई और क्षमा मांगी। उन्होंने शिकायत की-"वक्त की कीमत का इन्हें कतई अहसास नहीं है। जाने सूंड, सांड, पूंछ, चोंच, नगाड़ा, ढोल, शंख कहां रह गए।" हमने उनकी बात चुपचाप सुन ली। इन अनजान पशु और वाद्य क्षेत्र की हस्तियों की गतिविधियों के विषय में हम कुछ भी कैफियत देने की स्थिति में नहीं थे। हमें कुछ अजीब-सा लगा। राजा साहब ने अपने पीने के साथी ढोर और ढोलों में से क्यों चुने हैं। क्या उन्हें इंसानों से इतनी वितृष्णा हो गई है! पर यह तो संभव नहीं है। जो शख्श मानव-मेहमानों की इतनी खातिर करता है, वह प्रेरक-द्रव्यपान में उनकी तौहीन क्यों करेगा! कुछ ही देर में हमारा मुग़ालता अपने आप दूर हो गया। लंबे बाल वाले एक लंबे-तड़ंगे, घुटने तक का कुर्ता और चौड़े मोहरे का पाजामा पहने गजराज की चाल-ढाल वाले सज्जन अंदर दाखिल हुए। आते ही राजा साहब ने "बड़ी देर कर दी सूंड" कहकर उन्हें आड़े हाथों लिया। धीरे-धीरे चोंच, शंख, ढोल, नगाड़ा भी अवतरित हुए। हमारे मन को उनके इंसान होने से बड़ी शक्ति मिली। वर्ना पहले हम सशंकित थे कि सूंड, चोंच, सांड तो सही हैं पर ढोल, शंख, नगाड़ा आदि द्रव्य-पान कैसे करेंगे। फिर हमने यह सोचकर अपने दिल को दिलासा दिया कि जिस देश में गणेश जी एक दिन यकायक दूध पीने लगे, वहां सब संभव है।

देखते-देखते कवि-बांकुरों ने बोतलों को ढेर कर दिया। अपने-अपने नाम के अनुरूप किसी कवि ने कविता चिंघाड़ी, किसी ने चिंचियाई और किसी ने उसका ढोल-नगाड़ा पीटा। राजा साहब के रात्रि-भोज के मेहमानों का कवियों को देख-सुनकर ख़ासा मनोरंजन हुआ। काव्य-पाठ के पूर्व ही कवि अपने इंसानी अस्तित्व से अनजान हो गए थे। खाना खाने और कविता पढ़ने के बाद तो उन्हें जैसे लगने लगा कि वह आदमी न होकर वाकई शंख, ढोल, चोंच, सांड, सूंड वगैरह-वगैरह हैं।

चोंच को ख्याल आया कि चोंच पंछी के शरीर का एक अंग है। जिसके चोंच होती है, उसने पंख भी होते हैं। उन्होंने हाथ के पर फड़फड़ाकर उड़ना चाहा। वह तख्त के गद्दे सजे मंज पर थोड़ा उछले और चारों खाने चित्त नज़र आए। दर्शक-श्रोताओं ने इसे भी उनके कविता-पाठ का नाटकीय मोड़ मान कर करतल-ध्वनि की। जब वह वहीं खर्राटे भरने लगे तब जाकर लोगों को पल्ले पड़ा कि कविता का अंत हो चुका है।

बमुश्किल तमाम अपने से बेखबर कवियों को राजा साहब ने गाड़ी में लदवाया।

उनकी हिदायत पर सबके कपड़ों के साथ उनके नाम-पते की पर्ची पिचकाई गई जिससे ड्राइवर ठीक ठिकाने पर ही 'बोरी' की 'डिलीवरी' नहीं करें तो मारपीट का ख़तरा था। उस समय शहर में डकैतियों की बाढ़ आई हुई थी। कुछ कवि अपने उपनाम को सार्थक करते हुए, कविता के आतंक के अलावा भी, आतंकवादी लगते थे।

राजा साहब शाम की सफलता से फूले नहीं समा रहे थे। उन्होंने अपनी पीठ ठोंकने की मुद्रा में हमें सूचित किया—*"थोड़ा खर्च तो होता है पर कवियों के रहने से 'वैराइटी एंटरटेनमैंट' का मज़ा आ जाता है।"* हम उनकी कविता और कवियों की धारणा से दंग रह गए। हमें ख्याल आया कि शैक्सपियर कुछ भी फरमा गए हों, नाम का आदमी पर जरूर असर पड़ता है। अच्छा-ख़ासा सामान्य-सा दिखने वाला इंसान अगर 'सूंड' के संबोधन से जाना जाएगा तो उस पर हाथी का कुछ न कुछ असर तो पड़ेगा ही हाथी भी ऐसा जो शाकाहारी न होकर विशुद्ध मांसाहारी हो और जल से ज्यादा सुरा का सेवन करता हो। हमें पता लगा कि चोंच नाम जब से लालता प्रसाद ने अपनाया है, उनके व्यक्तित्र पर पक्षी चरित्र का इतना प्रभाव पड़ा है कि वह सिर्फ आराम करते हैं क्योंकि "अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम"। अब नगाड़ा या ढोल से पोल और अवाज़ के अलावा कोई उम्मीद ही क्या कर सकता है। बस ढोल जी अपना और कविता का ढोल पीटते ही रहते हैं। राजा साहब को आयोजन में अपने एक कवि-मित्र की कमी खली थी। वह शाम से रात तक उसी टेक पर टिके थे कि "भोंपू" क्यों नहीं आया।" उनके एक दोस्त ने तंग आकर उसने कहा भी कि "क्या भोंपू-भोंपू लगा रहा है। तुम्हारे यहां नहीं बजा तो कहीं और बज रहा होगा।"

हमें चिन्ता हुई। दुनिया वालों को शिकायत है कि हिंदुस्तानियों को अपने पर हंसना नहीं आता है। संसार को हमारे बारे में कितनी ग़लतफहमी है! लगता है कि उनका साबका सूंड, सांड, चोंच, भोंपू, नगाड़ा जैसों से नहीं पड़ा है जो सप्रयास अपनी हंसी उड़वाने में फख्र महसूस करते हैं! हमें यह भी महसूस हुआ कि "नानक दुखिया सब संसार" में हंसी बिखेरना कोई कम उपलब्धि नहीं है। इन कवियों को तो अपने पर गर्व होना चाहिए। मां-बाप ने सोच-समझकर अच्छा-ख़ासा नाम रखा होगा। इन्हें क्या पड़ी थी कि उसे बदलकर खुद को तमाशा बनाएं। क्या इनकी कविता में इतना दम-खम नहीं है कि लोगों के चेहरे पर मुस्कराहट ला सकें जो यह हास्यास्पद नाम और हाव-भाव से लोगों को हंसाने की कोशिश करते हैं।

कविता के लिए जनता के मन में एक स्वाभाविक सम्मान है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जान बूझकर भयंकर उपनाम के सहारे यह कविता की सार्वजनिक छवि खराब कर, बिना उपनाम के कवियों से, कोई निजी हिसाब चुकता कर रह हों! घर का भेदी ही लंका ढाता है। हमें तो शक है कि अजीबोगरीब उपनाम रखकर कुछ कविता के शत्रु घर में घुसकर उसकी हत्या पर उतारू हैं। नहीं तो यह कैसे मुमकिन है कि कोई भी इंसान, सूंड, चोंच, सांड या कुल्हड़ कहलाते हुए अपना जीवन गुज़ार दे। नाम ही तो आदमी का परिचय-पत्र है। उसे गौरवशाली और प्रसिद्ध करने के लिए व्यक्ति क्या नहीं करता है। सब कालिदास ऐसे भोले तो होते नहीं हैं कि जिस डाली पर बैठे

हैं उसी को काटें। फिर शंख, डंक, हुल्लड़, कुल्हड़, डमरू, काफी तगड़ी प्रतियोगिता के पश्चात् मंच के महारथी बने हैं। कोई कैसे विश्वास माने कि इनके रखे उपनाम अनजाने में की गई एक शिशु सुलभ हरकत है! उसके पीछे जरूर कोई व्यक्तिगत स्वार्थ है। यह गिरे हैं इसलिए कि दूसरों को भी गिरा दें और शान से फरमाएं-''सूंड डूबे हैं सनम! तुम को भी ले डूबेंगे।'' आसार यही नज़र आते हैं कि उपनाम वाले, मंच के नाम वालों, को डूबो के ही मानेंगे।

देर रात तक हम उपनाम की परम्परा का सोचते रहे। पहते तो सृजन की वाचिक परम्परा थी। आज भी कहना मुश्किल है कि वेद, उपनिषद्, पुराण आदि में किन-किन का योगदान है। संस्कृति में उपनाम थे, पर उनका विशेष चलन नहीं था। मुग़ल काल में फ़ारसी-उर्दू के प्रभाव से उपनास लोकप्रिय हुए। यह सच है कि धनपतराय, प्रेमचन्द बने और सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला'। बेढब, बेधड़क तक भी ग़नीमत थी। आज़ादी के बाद से शायद कुछ हास्य-कवियों को लगा कि मंच पर काव्य-पाठ के लिए कोई अजीबोगरींब उपनाम रखना जरूरी है। इसका एक और फायदा है। अगर चोंच कभी 'हूट' हुए तो उन्हें शर्मिन्दगी नहीं उठानी पड़ेगी। वह शपथ लेकर कह सकते हैं कि *''हम तो लालता प्रसाद हैं, चोंच हैं ही नहीं।''* यदि उनकी कविता की प्रशंसा हुई तो चोंच को कोई गिला नहीं है। वह जानते हैं कि वह लालता प्रसाद हैं। वह क्यों, उनकी पत्नी लल्ली और पुत्र लल्लू भी इसकी ताईद करने को तैयार हैं। लल्लू की तो कई बार डाकिए से बहस हो चुकी है। वह कहता है कि ''चोंच जी की चिट्ठी आई है।'' लल्लू उसे बताते हैं कि ''चिट्ठी किसी और की होगी। इस घर में कोई चोंच नहीं है।'' डाकिया चिट्ठी लल्लू को थमा, बड़बड़ाता हुआ जाता है-''चोंच हो या चोटी, पता तो इसी फ्लैट का है।'' एक बार लल्लू ने टी.वी. पर उन्हें कविता पढ़ते देखकर जिज्ञासा जताई—''पापा! यह लोग आपको चोंच कह कर क्यों चिढ़ा रहे हैं।'' लालता प्रसाद ने तत्काल उत्तर दिया था-''बेटा! यह एक दुर्घटना है कि इसकी शक्ल हमसे मिलती है। शायद इसका नाम चोंच हो। तुम्हारे पापा तो तुम्हारे पास बैठे हैं।'' वह दिन है कि आज का दिन है। लालता जी के घर में टी.वी. पर कार्टून, सीरियल, फिल्में आदि देखी जाती हैं। बस साहित्यिक कार्यक्रमों पर प्रतिबंध लगा है।

जाने सूंड, सांड, कुल्हड़, ढोल जैसे अपने घर में पहचान के संकट से कैसे जूझते हैं? पर इससे कोई इंकार नहीं कर सकता है कि उन्होंने कविता को संकट में डालने में सफलता पाई है। उनके वीभत्स उपनामों से कविता उनके दूर भागती है और अब तो श्रोता भी उनसे आतंकित हैं। ऐसे भी भारतीय परम्परा में जंगली जानवरों और संगीत के विविध वाद्यों से देवताओं की संख्या कहीं अधिक है। अगर देवताओं या फरिश्तों से उपनाम के मुरीदों को परहेज है, और उपनाम रखना लाज़मी ही है, तो जंगल के बजाय बगीचों नहीं, तो साग-सब्जियों की ओर रुख़ करें। सूंड-चोंच से तो आलू-करेला या कद्दू-भटा कहीं बेहतर होंगे। इससे उनका व्यक्तित्व भी थोड़ा-बहुत शाकाहारी बनेगा।

□

# विवाद के मूल में गीत नहीं कविता है

वीर सक्सेना

*साहित्य, साहित्यकार और विवाद एक दूसरे के पूरक हैं। देशकाल, परिस्थिति और साहित्यक कृति के अनुरूप हर समय किसी न किसी बात को लेकर विवाद होता आया है। विवाद न हो तो कृति चर्चा में भी नहीं आती। इधर चर्चा है कि गीत विवाद में है। पर कुछ लोग मानते हैं कि विवाद के मूल में गीत नहीं कविता ही है। इस आलेख में इसी पहलू की पड़ताल की गई है।*

गीत विवाद में है। मुझे ऐसा लगता रहा है कि विवाद के मूल में गीत नहीं है। कविता ही है। विवाद गीत को लेकर नहीं कविता को लेकर ही गहराता जा रहा है। जब कविता ही विवाद के घेरे में खड़ी हो गई तो ओट में खड़े होकर अपना बचाव करने वाले लोगों ने शिल्प के विवाद कों आगे कर दिया। कहने लगे कि गीत छन्द से बंधा है। छन्द की सीमा में द्वन्द्व समाहित नहीं किया जा सकता। यह सांचा तोड़ा जाना जरूरी हो गया है। यह तर्क देने वालों को यह याद ही नहीं रहता की छंद का सांचा तोड़ने के बाद, कविता का जो नया सांचा तैयार करने की कोशिश की गई, वह भी तो एक तरह का सांचा ही बनता जा रहा है। उसके बाद से कहा जाता रहा कि यह नया सांचा ठीक है। यह सांचा टेढ़ा-मेढ़ा इसलिए रखा गया है कि अपने समय की नुकीली सच्चाईयों को भी उसके माध्यम से आसानी से प्रस्तुत किया जा सके। अब नुकीले समय की नुकीली अभिव्यक्ति इस छंद-मुक्त सांचे में यहां वहां छेद कर उससे बाहर निकल रही है तो इसे अभिव्यक्ति के विस्तार का नाम दिया रहा

है। कविता अब खुले में है। सारी सीलन, सारी घुटन और जुगुप्सा तब तक ही थी, जब तक कविता के सिर पर किसी भी तरह की छत थी। कविता खुले में है इसलिए मुक्त है। मुक्त है इसलिए इसकी देह और उसके मन के साथ तरह-तरह के प्रयोग भी किये ही जा सकते हैं। कविता अब प्रयोगशाला में है। उस पर तरह-तरह के रासायनिक प्रयोग किये जाते रहे हैं। इन रसायनों में वैचारिक रसायन, तार्किक रसायन और कविता के अंगों को शिथिल कर देने वाला विषैला रसायन तक शामिल है। गीत को तो प्रयोगशाला में लाने की जरूरत ही नहीं थी। उसे तो प्रयोगशाला के बाहर ही मरणासन्न घोषित किया जा चुका है। कविता पर प्रयोग अभी चल रहे हैं इसलिए वह प्रयोगधर्मी है। गीत निर्जीव माना जा चुका है, इसलिए उसको लेकर कहीं प्रयोग भी किये जाते रहे हैं तो उन प्रयोगों को भी गीत को जीवंत रखने वाला तो नहीं माना जा सकता। यह विचित्र तर्क है। रचनाधर्मिता की जिन प्रयोगशालाओं में कविता को लेकर प्रयोग किये जा सकते हैं वहां गीत लेकर किये जाने प्रयोग उसके कथ्य को लेकर नहीं केवल शिल्प के कारण वर्जित हैं। कविता को वर्जनाओं से मुक्त माना जा रहा है परन्तु गीत के संदर्भ में वर्जनाएं स्थापित हैं।

अभिव्यक्ति के स्तर पर यदि गीत के परम्परागत शिल्प से मुक्त होने की ज़रूरत महसूस की जा रही थी तो उसे तोड़ा ही जाना चाहिए था। वह तोड़ा भी गया। रूप, चांदनी, लहरों, दिवास्वपनों, स्मृतियों में नहाई हुई सुबह और आंसुओं से भीगी संध्या को तो केवल गेयता के कारण छन्द के परम्परागत सांचे में बांधते रहने का उपक्रम और अधिक किया भी नहीं जा सकता था। गीत की रचना करने वाले भी इतने अबोध और अपने समय से इस तरह कटे हुए तो नहीं थे कि वे इस सच्चाई को समझ ही नहीं पाते। काजल, कुंकुम, दर्पण और सम्मोहन की शब्दावली को गुनगुनाते रहने वाला समय तो पहले ही काफी पीछे छूट चुका था। जिस संत्रास, अकेलेपन, कुंठा, निराशा, लघुता और आत्मघात की प्रवृत्तियां गीत पर दोषारोपण के साथ शुरू हुई, वह कितनी हमारे देश-काल से जुड़ी थी यह अलग से बहस का विषय है। इस बारे में यहां विस्तार में नहीं जाना चाहता परंतु यूरोपीय देशों में अपने सात वर्ष के प्रवास-काल के अनुभवों के आधार पर यहां इतना जरूर जोड़ देना चाहता हूं कि पाश्चात्य-जगत का अकेलापन वहां के सामाजिक जीवन की विसंगतियों, उसके संत्रास और कटाव से जन्मा अकेलापन रहा। जबकि हमारे यहां का अकेलापन दूसरी तरह का रहा। देश की आजादी के बाद से हमारे यहां का अकेलापन ऐसा रहा कि अन्याय और अत्याचार के विरोध में हमारे यहां का निहत्था खड़ा आदमी अपने संघर्ष में अकेला होता चला गया। आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया तो हमारे देश में बहुत बाद में शुरू हुई। शब्दों के उदारीकरण की प्रक्रिया तो हमारे यहां छंद से मुक्त होने के साथ ही शुरू हो गई थी। विश्व व्यापार संगठन के 'गैट' समझौते के कारण हम विदेशों से कुछ चीजों का आयात करने को तो अब मजबूर हुए हैं। शब्दों और

अभिव्यक्ति को आयात करने का सिलसिला तो हमारे यहां कविता को उपभोक्ता बाजार नहीं, आलोचक-बाजार के उपयुक्त बनाने के लिए काफी पहले ही शुरू हो चुका था। जो बदलाव समय के अनुरूप और रचना-संगत था, उसके लिए तो गीत भी आज से पचास वर्षों पहले ही तैयार हो चुका था। यहां मैं गीत की बदली अभिव्यक्ति को लेकर ऐसे पचासों उदाहरण प्रस्तुत भी कर सकता हूं जो नहीं कर रहा हूं। यहां मैं पेशेवर ढंग से गीत की वकालत करने के लिए भी नहीं हूं। केवल गीत पर किये जाते रहे व्यर्थ के दोषारोपण की कुछ परतों को उघारने की कोशिश जरूर करना चाहता हूं। अपने ही वर्षों पूर्व लिखे दो गीतों से उद्धरण यहां प्रस्तुत कर देना चाहता हूं। यह गीत आज से पैंतीस वर्ष पूर्व सन 1965 में तब 'साप्ताहिक-हिन्दुस्तान' के नये गीत स्तम्भ में प्रकाशित हो चुके थे। इन गीतों के उद्धरण इसलिए भी दे रहा हूं कि साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'श्रेष्ठ हिंदी' में भी ये गीत सम्मिलित किये गये हैं। एक गीत का अंश है—

*आंखों में चुभता था टूटा आकाश*
*डूब गया हूं*
*काले जल वाले ताल में।*
*सबके ही भाल पर पसीना*
*सबके ही चेहरों पर अपराधी भाव*
*सारी ही भीड़ शोक-मग्न एक साथ।*
*ऐसे हैं भयाक्रांत*
*सबका ही जैसे हो हत्या में हाथ।*
*अनिच्छा से शामिल हूं*
*मैं भी शवयात्रा में*
*आती दुर्गंध बहुत मरे हुए काल में।*
*आंखों में चुभता था टूटा आकाश*
*डूब गया हूं काले जल वाले ताल में।*

दूसरा, 'शहर का वसंत गीत' का अंश है—

*फागुन ने आ,*
*मुर्दाघर के दरवाजे पर*
*दस्तक लगाई।*
*शहर में वसंत ऋतु आई।*

*अभी अभी व्यवसायी आकाश*
*भोग कर ढकेल गया*
*जिस गंदी बस्ती में*

*उसके ही पास बने*
*पुल के नीचे छुप कर*
*शाम ले रही है उबकाई।*
*शहर में वसंत ऋतु आई।*

कहना सिर्फ यह चाहता हूं कि गीत का कथ्य भी बहुत पहले ही बदल गया था। वह केवल रागात्मकता और गुनगुनाने वाली लय पर ही नहीं टिका था। अनुभूति की लय और स्थितियों की लय के अनुरूप अपने शिल्प को तोड़ता, तराशता हुआ गीत भी यातना-लय तक काफी पहले पहुंच चुका था। गीत अपनी भाषा को बदल चुका था। अपने अभिव्यक्ति को बदल चुका था। परंतु पूर्वग्रह से बंधी आंखें इस बदलाव को देख ही नहीं पाई। तब क्या अब तक नहीं देख पा रही हैं। तब डॉ. धर्मवीर भारती की कविता का यह अंश गीत का तोड़ा और तराशा हुआ स्वरूप नहीं था तो और क्या था?

*हम सबके माथे पर शर्म*
*हम सबकी आत्मा में झूंठ*
*हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूंठ।*

डॉ. कैलाश वाजपेयी की नई कविताओं के तब चर्चित रहे संकलन 'संक्रात' का यह अंश भी देख लीजिए—

*किसी बंद कमरे की*
*घुटती खामोशी हूं।*
*अपनी अप्रत्याशित*
*मृत्यु के लिए दोषी हूं।*

अपनी कविताओं में सपाटबयानी और सपाट भाषा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण माने जाते रहे रघुवीर सहाय का यह शिल्प-प्रयोग भी देख लीजिए। उनकी रचना 'कविताजी खुद' का यह अंश है—

*दिन में ही तारे दिख जाते*
*भूली अपनी ही जुबान है।*
*घमासान है भीतर बाहर*
*कविता जी का इम्तहान है।*

उनकी एक और कविता 'हजरतनूह' का ही यह अंश है—

*इस कबाड़ की महिमा जिसने*
*पहले पहल उधाड़ी।*
*उसे जुआड़ी कह लो बेशक*

*पर वह नहीं अनाड़ी।*
*हजरत लेकिन परेशान हैं*
*आंखों में है जाला*
*उलझी दुनिया और उसी में*
*उलझे अल्लाह ताला।*

गीत को लेकर सारा विवाद उसकी शिल्पबद्धता को लेकर ही रहा है। शिल्प का सार्थक ढंग से प्रयोग तो रचना को प्रभावशाली ही बनाता है। बशर्ते कि गीत हो या कविता उसे बिना किसी दुराग्रह और पूर्वग्रह के देखा जाए।

निर्मल वर्मा ने कला को प्रकृति कहते हुए लिखा है-'प्रकृति का कोई अर्थ नहीं है। वह या उसका अर्थ उसकी अनिवार्यता में निहित है। जो है वही उसका अर्थ है। जब कोई कलाकृति इस अनिवार्यता को उपलब्ध कर लेती है तो वह इतने सम्पूर्ण रूप से अर्थवान हो जाती है कि उसे अर्थहीन भी कहा जा सकता है। कला हर महत्वपूर्ण 'कलाकृति संयोग' को अनिवार्य में बदलने की कोशिश है। इसी संदर्भ में शायद गीत को अर्थहीन भी कहा जाता रहा है। गीत और कविता को विभाजित करके उसे अलग-अलग तरह से विश्लेषित करने की कोशिश की बजाय, जरूरत तो इस बात की है कि इस 'कलाकृति संयोग' को अनिवार्य में बदलने की कोशिश की जाये।

□

# भविष्य के शिलालेख हैं : ये आलेख

## डॉ. इन्दुप्रकाश पाण्डेय

विद्वतापूर्ण 43 आलेखों के इस सुन्दर संकलन को, अभी तीन साल पहले श्री मेमानी द्वारा स्थापित संस्था 'परम्परा' ने श्रृंखला की पहली कड़ी के रूप में प्रस्तुत किया है। 'कविगण की इस तिकड़ी (राज नारायण बिसारिया, कन्हैयालाल नंदन और रमानाथ अवस्थी) के सहयोग से 'परम्परा' का सूत्रपात'8 अगस्त 1998 को हुआ। विस्तार इस प्रकार है: मेमानी जी संस्थापक, उन की पत्नी किरण मेमानी संचालिका, बिसारिया जी आयोजक तथा नंदन जी इस संकलन के संपादक। इसी संस्था के तत्त्वावधान में 1998 से अनेक प्रकार की साहित्यिक गोष्ठियां एवं सांस्कृतिक आयोजन किये गये और साथ ही 1999 से 'ऋतुराजसम्मान' नामक पुरस्कार का भी प्रबन्ध किया गया, जो किसी विशिष्ट कवि की श्रेष्ठ रचना पर विधिवत प्रदान किया जा रहा है। पुरुस्कार की निश्चित राशि इक्कीस हज़ार रुपये रखी गयी है। 'वर्ष 2001 का एक और आयाम भारतीय परंपराओं पर केन्द्रित संचयन-ग्रन्थ आप के सामने है।' इस का संपादन हिंदी के वरिष्ठ संपादक श्री कन्हैयालाल नंदन ने किया है। इन्हीं के विशेष आग्रह पर मैंने और मेरी पत्नी ने इस ज्ञान-गङ्गा की पवित्र धारा में स्नान का पुण्य प्राप्त किया है। परम्परा की इस शुभ श्रृंखला में अनेकानेक कड़ियां जुड़ती जायें, यही हमारी अभिलाषा है।

साहित्यकारों और श्रोताओं के बीच, छोटे पैमाने पर ही सही, संवाद-सेतु का काम' करने के उद्देश्य से इस संस्था की स्थापना की गयी है और ऐसी श्रृंखला की पहली कड़ी के रूप में यह संकलन प्रस्तुत किया गया है, जो बहुत ही ठोस और साहसी कदम है। ठोस इसलिए कि हिंदी-संस्कृत के अनेक विद्वानों, विशेषज्ञों एवं चिंतकों के महत्त्वपूर्ण विचारों को एक स्थान पर एकत्रित कर दिया गया है, जो भविष्य के लिए शिलालेख बनेगा और साहसी इसलिए कि इस श्रृंखला की कड़ियों को

जोड़ते रहने की चुनौती को यह संस्था पूरा करती रहेगी।

'अपनी बात' शीर्षक के अंतर्गत श्री मेमानी ने यह बताने का यत्न किया है कि संस्था किस प्रकार, किन की प्रेरणा से और किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनायी गयी है। श्री राज नारायण बिसारिया ने 'ऋतुराज' नामक पुरस्कार के बारे में बताया है कि यह पुरस्कार ऐसे विशिष्ट कवि के सम्मान और प्रोत्साहन के लिए है, 'जिस की प्रतिभा ने सहज संवेद्य काव्य-धारा को आगे बढ़ाया है।' विस्तार देते हुए बिसारिया जी ने यह सूचित किया है कि यह पुरस्कार श्री विजय किशोर मानव, यतीन्द्र मोहन प्रतापसिंह और राजेश गनोदवाले को दिये गये हैं। तीनों कवियों को, संयोगवश, उनकी कविता-पुस्तकों की पाण्डुलिपियों पर ही दिया गया है। श्रीमती किरण मेमानी ने अपनी काव्यमय शैली में अब तक आयोजित हुए तीनों आयोजनों का, कविताओं के उदाहरणों के साथ, संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है।

नंदन जी के सम्पादकीय लेख के पहले 16 पृष्ठों में अनेक विभूतियों एवं प्रसंगों के रंगीन चित्र दिये गये हैं, जिनसे इस संकलन का महत्व और भी बढ़ गया है। अपने सम्पादकीय में नंदन जी ने बताया है कि 'समाज में व्याप्त वर्चस्ववादी शक्तियों द्वारा मनुष्य की निजता का जिस नृशंसता से शीलहरण आज जारी है, उसमें आवश्यक है कि हम अपनी परम्पराओं द्वारा प्रदत्त उन नियामक शक्तियों की पहचान करें जो हम में चेतना का संचार करती हैं।' नंदन जी ने अपने विशाल अनुभवों एवं सौहार्दपूर्ण सम्पर्कों के आधार पर जितनी उत्तम सामग्री इस संचयन में प्रस्तुत कर दी है, उतनी किसी अन्य पुस्तक में उपलब्ध नहीं हो सकती। उड्डयन परंपरा से लेकर, चुग्गा खिलाने की परम्परा तक...' और 'कविता, कहानी, व्यंग्य, पुस्तक-चर्चा, लघुकथा, आत्मकथा... आदि साहित्यिक रचनावली के 56 विधा-भोगों को शामिल करने...' की योजना के साथ इस संकलन का सम्पादन किया गया है।

'स्मृति' भाग में सम्पादक ने डॉ. राम विलास शर्मा का 24 साल पहले का लेख 'परम्परा का मूल्यांकन', महादेवी वर्मा का 'भारतीय जीवनमूल्य' और देवी शंकर अवस्थी का 'आधुनिकता और भारतीयता' जैसे उत्तम आलेख सम्मिलित किये हैं। ये तीनों हिंदी की दिवंगत विभूतियां हैं, जिनके विचारों को फिर से हमारे सामने रख कर नंदन जी ने हिंदी पाठकों का विशेष कल्याण किया है। शर्मा जी ने अपने आलेख के अंत में बहुत ही सही स्थापना की है, 'संसार का कोई भी देश, बहुराष्ट्र की हैसियत से, इतिहास को ध्यान में रखें तो, भारत का मुकाबला नहीं कर सकता। यहां राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम कर के स्थापित नहीं हुई। वह मुख्यत: संस्कृति और इतिहास की देन है। इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है। इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को अलग कर दें, तो भारतीय साहित्य की आंतरिक एकता टूट जाएगी।... इसलिए किसी भी देश के लिए साहित्य की परम्परा का मूल्यांकन उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए है।' (41)

महादेवी जी की अपेक्षा कि 'हमारा देश अणु बम्ब नहीं बनायेगा' खेद है, कि पूरी नहीं हुई। संसार की वर्तमान परिस्थितियों के दबाव में आकर हमारी परम्परा अपने आदर्शों से विमुख होकर, ऐसा लगता है, भटक जाने के लिए विवश हो गयी है। लेकिन जिस प्रकार हमारी उद्दात रचनात्मक परम्परा हज़ारों रूढ़ियों, रस्मरिवाजों, प्रथा-परिपाटियों में उलझकर विमथगामी नहीं होती, वैसे ही वह अनेक प्रकार के अस्त्रों और आयुधों के भण्डारों से विचलित नहीं हो सकती। वस्तुत: इन आयुधों का प्रयोग करने वाले तो हमी हैं, जिन की नैतिकता सर्जनात्मक है और परहित में अपने धर्म का सार देखती है। क्या हिंसा और विध्वंस की परिस्थितियां आज के पहले कभी नहीं थीं? क्या हमारे देश में युद्ध नहीं हुए या हम कभी लड़े नहीं? हमारे ही पूर्वजों ने अणुबम्ब जैसे अस्त्रों से महाभारत जैसा घमासान युद्ध किया? लेकिन क्या युद्ध के समसामयिक विध्वंस से हमारी मौलिक परम्परा की समग्र रचनात्मकता समाप्त हो गयी? देवासुर संग्राम सर्वत्र एवं सर्वदा चलता रहता है। निर्णायक है हमारी न्यायबुद्धि और हमारे उद्देश्य। वे अणु बम्ब के साथ भी हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे। वैसे मैं हर प्रकार से अणु शक्ति के उपयोग के एकदम विरुद्ध हूं, युद्ध और हिंसा के विरुद्ध हूं। लेकिन प्रश्न संग्राम में परम्परा का है और इस बात को ठीक से समझने का है, कि हमारी अस्मिता विराट सत्ता की अस्मिता का भीतरी रूप है, जिस की तेजस्विता कभी मिटती नहीं। हमें अपनी असली परम्परा को समझने के लिए रूढ़ियों के ऊपर उठना होगा, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें तोड़ना भी होगा। इस संदर्भ में पं. विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक 'भारतीय परम्परा' और प्रख्यात समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे की पुस्तक 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति' का अध्ययन बहुत उपयोगी होगा।

इस संकलन को नंदन जी ने विद्वत सम्मान परम्परा के अन्तर्गत जैनेन्द्र कुमार पर डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी का एकमात्र आलेख दिया है। ऐसा करके उन्होंने दोनों की अनन्य विशिष्टता को रेखांकित करना चाहा है। सिंघवी जी ने जैनेन्द्र जी के साथ अपने घनिष्ठ सम्बंध को इस भावविभोरता के साथ प्रस्तुत किया है कि दोनों की महिमा और गरिमा तुरंत हृदयंगम हो जाती है। इसके बाद 'सदानीरा' शीर्षक के अन्तर्गत 16 आलेखों को सम्मिलित किया है, जिन में डॉ. विद्यानिवास मिश्र और उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री विष्णुकांत शास्त्री जैसे श्रेष्ठ संस्कृत के विद्वानों के आलेखों में क्रमश: भारतीय कला दृष्टि और हिंदी कविता की छंद-परम्परा पर गहन विचार प्रस्तुत हुए हैं। श्री नेमिचंद जैन ने नाट्य-परम्परा के अनेक पक्षों पर महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। ये अपने विषय के विशेषज्ञ हैं और इन्होंने भारतीय नाटक का व्यापक परिदृश्य इस आलेख में हमें दिया है, जो भविष्य के नाट्य विकास में मार्गदर्शक बन सकता है।

संस्कृत भाषा के विशेष ज्ञान के आधार पर श्री बल्लभ डोभाल ने स्वर्ग की खोज में हिमालय का विस्तृत सर्वेक्षण किया है और परमचन्द्र कश्यप ने खशि और खशियों को प्राक ऋग्वेदिक जन के रूप में प्रस्थापित किया है, जो बहुत ही इतिहास सम्मत आलेख हैं। श्रीमती हाइडेमरी पाण्डेय और श्री उमेश अग्निहोत्री ने अपने,

क्रमश: जर्मनी और अमेरिका के अनुभवों के आधार पर भारत और भारतीयता को समझने-समझाने की कोशिश की है, जिन से हमें एक नया परिप्रेक्ष्य उपलब्ध होता है। हमेशा की तरह रमेशचन्द्र शाह का आलेख अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्धक है। इस सरल एवं प्रांजल शैली में ये गम्भीर बातें प्रस्तुत करते हैं, कि विषय अपनी सम्पूर्णता में प्रतिपादित हो जाता है। क्षमाप्रार्थी हूं यदि कहूं कि अजितकुमार का आलेख 'दाल-भात' में मूसरचंद' ही है।

यह सम्भव नहीं है और न मैं आवश्यक ही समझता हूं कि मैं अपनी समीक्षात्मक प्रतिक्रिया में उन सबका उल्लेख करूं ही, जो इस बड़े संकलन में प्रस्तुत किये गये हैं। और इसका यह अर्थ भी नहीं है कि जिसका उल्लेख नहीं किया गया है, वह पठनीय या महत्वपूर्ण नहीं है। अगर ऐसा होता तो नंदन जी स्वयं ही उसको इस महत्वपूर्ण संकलन में स्थान न देते। शरत बाबू, देवेन्द्र सत्यार्थी, पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा टैगोर पर बहुत ही सुन्दर और ज्ञानवर्धक आलेख भी इस संकलन में शामिल हैं। हिंदी की अनेक समस्याओं और विधाओं पर भी अच्छी टिप्पणियां और प्रश्न प्रस्तुत किये गये हैं। हिंदी फिल्मों के बारे में भी दिलचस्प बातें उठायी गयी हैं। यहां तक कि 'कमैंट्री' पर भी अच्छी कमैंट्री पेश की गयी है। हिंदी पत्रकारिता की चिंतन परम्परा पर भी सुन्दर सर्वेक्षण प्रस्तुत हुआ है। यक्ष-यक्षिणियों की परम्परा पर शोधपूर्ण लेख और भारतीय अपराधों की परम्परा की बातें भी की गयी हैं।

विश्वमोहन तिवारी के 'हमारी उड्डयन परम्परा' पर प्रस्तुत आलेख ने मेरा ध्यान विशेष रूप से खींचा। वे भारत के पूर्व वाइस एअर मार्शल रहे हैं। अत: स्वाभाविक ही है कि उनका उड्डयन संबंधी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान विश्वसनीय है। इतना ही नहीं, वे हमारे प्राचीन इतिहास के भी अच्छे जानकार हैं। तिवारी जी ने अपने इस आलेख में एक ऐसे ग्रंथ की चर्चा की है, जिसके आधार पर हम अपने प्राचीन उड्डयन सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान की बातें कर सकते हैं। ग्रन्थ है महर्षि भरद्वाज का 'बृहद विमान शास्त्र'। ऐसे ही अनेक प्राप्त एवं अप्राप्त ग्रन्थों का बिना अध्ययन किये हमारे देशवासी अक्सर यह कहते हुए पाये जाते हैं कि जर्मनों ने हमारे शास्त्रों के सहारे अनेक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया और उड्डयन प्रौद्योगिकी का विकास किया। इस किंवदन्ती में कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि भारत में ही इन ग्रंथों के आधार पर व्यावहारिक प्रौद्योगिकी का विकास नहीं हो पाया। इस विद्वतापूर्ण आलेख से यह बात सिद्ध हो जाती है। परन्तु तवारी जी भी हमारे प्राचीन उड्डयन सम्बन्धी ज्ञान और विमान-निर्माण संबंधी उपलब्ध विस्तृत जानकारी से अभिभूत हैं। एक बार हमारे इण्डो-गेरमानिशेस सेमिनार में एक जर्मन विद्यार्थी ने इसी बृहद विमान शास्त्र पर शोध करने का मन बनाया था और तब उसने इस ग्रन्थ का अध्ययन शुरू किया था। लेकिन ऊर्जा के प्रश्न को लेकर वह अटक गया और फिर उसका मन इस कल्पना की उड़ान से ऊब गया। कुछ वर्षों बाद पता लगा कि वह भारतीय उड्डयन की शास्त्रीय कल्पना के आसमान से उतर कर चीटे-चीटियों पर शोध करने के लिए आस्ट्रेलिया की धरती पर

चला गया है। फिर भी तिवारी जी के शोधपूर्ण आलेख के बल पर इस सम्बंध में शोध करनें के लिए मैं भी अपने विश्वविद्यालयों को प्रेरित करूंगा।

श्री कमलेश्वर के आलेख 'साहित्यहीनता की नयी परम्परा' के साथ डॉ. मधु सन्धु का आलेख 'हिंदी कहानी में दूसरा पुरुष और पति' को पढ़ा जाये तो तस्वीर के रंग और भी चटक मिलेंगे। पिछले दशक के लगभग सभी उपन्यासों के अध्ययन के आधार पर मैं भी कह सकता हूं कि हिंदी कथा-साहित्य में नये नारी-विमर्श के तहत, परकीया नायिका की अवधारणा के स्थान पर अब 'परकीय नायक' का उपयोग स्वतंत्रतावादी नायिकाएं उन्मुक्त भाव से कर रही हैं। और बिसारिया जी ने बड़ी ही नाटकीय शैली में धर्मवीर भारती की आलोचना और राकेश की प्रशंसा की है। बात पुरानी है पर ढंग दिलचस्प है। वस्तुतः यह संकलन ज्ञान-विज्ञान पूर्ण आलेखों के माध्यम से हमारी विशाल एवं उद्दात्त सांस्कृतिक परम्परा का प्रभावशाली आख्यान प्रस्तुत करने में सफल है।

□

# प्रगति पंथी की काव्य-यात्रा

## डॉ. हरदयाल

*डॉ. रामविलास शर्मा को लोग एक आलोचक के रूप में ही अधिक जानते हैं। पर उन्होंने कविताएं भी लिखीं। यह अलग बात है कि गद्य की तुलना में उन्होंने मात्रात्मक दृष्टि से पद्य कम ही लिखा। इस लेख में डॉ. हरदयाल ने मार्क्सवादी विचारक रामविलास शर्मा के कवि कर्म पर प्रकाश डाला है।*

डॉ. रामविलास शर्मा ने आलोचक के रूप में जितनी ख्याति अर्जित की उतनी कवि के रूप में नहीं, लेकिन कवि के रूप में वे सर्वथा अपरिचित रहे हों ऐसी बात नहीं। 'तार सप्तक' (1943) में संगृहीत अपनी कविताओं के कारण वे प्रयोग वादी कवि के रूप में जल्दी ही चर्चित हो गये। अपनी वामपंथी विचारधारा के कारण प्रगतिवादी कवि के रूप में भी वे चर्चा का विषय बराबर बने रहे; लेकिन परिमाण की दृष्टि से उन्होंने जितना गद्य लिखा उनती कविता नहीं लिखी। इसका एक कारण उन्होंने 'तार सप्तक' के अपने 'वक्तव्य' में यह बताया है कि उन्होंने विकासोन्मुख साहित्य की आवश्यकताओं को चीन्ह कर उसके अनुरूप गद्य लिखने को कविता लिखने की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। इसीलिए 'तार सप्तक' के कवि के रूप में चर्चित होने पर भी उन्होंने अपना पहला स्वतन्त्र कविता-संग्रह 'रूपतरंग' 1956 में प्रकाशित करवाया। इस संग्रह को वे शायद तब भी प्रकाशित न करवाते अगर मध्य प्रदेश में उन्हीं के नामराशि गीतकार-कवि रामविलास शर्मा कवि सम्मेलनों में लोकप्रिय न हो जाते और उनकी कविताओं को लोग उनकी कविताएं समझकर इन्हें श्रेय न देने लगते। 'रूपतरंग' में इसकी कैफियत उन्होंने दी है-"दूसरों

की कीर्ति से लाभ उठाना उचित नहीं, लेकिन इस सुयोग से यदि अपना कविता-संग्रह छप जाय तो अनुचित भी नहीं। आजकल कविताएं छापने में प्रकाशक असमर्थता ही प्रकट करते हैं। फिर अज्ञातनामा कवि और मुझे जैसे नेक नाम आलोचक की कविताएं। इन्हें प्रकाशित करके जो हानि होगी, उसे लाभ में बदलने के लिए मैंने एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखने का वादा भी किया है। 'तुलसी जस भवतव्यता'। प्रोत्साहनों और ग़लतफहमियों से विवश होकर यह संग्रह आपके कर-कमलों में भेंट कर रहा हूं।'' (भूमिका, पृ. 5)

'रूपतरंग' को 'प्रोत्साहनों और ग़लत फहमियों से विवश होकर' डॉ. शर्मा ने छपवाया था, लेकिन अपनी कविता के प्रति मोह उनमें अवश्य था। यह मोह किस कवि में नहीं होता। प्रत्येक कवि के लिए उसकी कविता वस्तुत: 'लरिकाई को प्रेम' होती है जो आसानी से छूटता नहीं है। इसी मोह के कारण उन्होंने अपनी कविताओं और काव्यानुवादों को बड़े जतन से संभाल कर रखा। जिन्हें वे स्वयं संभाल कर नहीं रख सके, उन्हें बाद में उनके श्रद्धालुओं ने खोज निकाला। जब आलोचक के रूप में उनकी तूती बोलने लगी और उनके लिखे हर शब्द को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक लालायित रहने लगे तो उन्होंने अपनी प्रारम्भिक कविताओं से लेकर बाद में लिखी गयी कविताओं तक की प्राय: सभी कविताओं को 'सदियों के सोये जाग उठे' (1988), रूप तरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि (1990) और 'बुद्ध वैराग्य तथा प्रारम्भिक कविताएं (1997) के रूप में प्रकाशित करवा दिया। 'रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि' में 'रूपतरंग' की कविताओं के अतिरिक्त निकोला वप्त्सारोख की कविताओं का अनुवाद भी संकलित है; साथ ही 'परिशिष्ट एक' के रूप में उनकी अपनी चार कविताएं भी संकलित हैं। इसमें लगभग पौने दो सौ पृष्ठ की आलोचना भी संगृहीत है। शायद इसलिए कि 'रूपतरंग' का दूसरा संस्करण छापने पर प्रकाशक को जो हानि होगी, वह इस आलोचना से लाभ में बदल जायेगी। कविता न बिके, ख्यात आलोचक की आलोचना तो बिकती है।

पुस्तक रूप में प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा की सारी कविताओं को एक साथ देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कविताओं की संख्या जितनी है उतनी उन्हें कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है। अगर वे आलोचना न लिखते तो इन कविताओं के अतिरिक्त वे और भी कविताएं अवश्य लिखते और कवि के रूप में निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित होते। लेकिन वे आलोचना लिखते क्यों नहीं? किसी से भी शास्त्रार्थ करने के लिए हर समय सन्नद्ध रहने वाली और अपने पक्ष में प्रमाण और तर्क जुटा लेने की अद्भुत क्षमता रखने वाली अपनी प्रखर मेधा का वे क्या करते? फिर उन्हें आलोचना की ओर प्रेरित करने वाली एक और स्थिति भी सामने आ गयी, जिसका उल्लेख उन्होने 'रूपतरंग' के प्रथम संस्करण की भूमिका में इस प्रकार किया है-''निराला को लेकर हिंदी में कितना संघर्ष हो चुका है तब मुझे इसका पता न था। सन् 34 में यह संघर्ष ही मुझे आलोचना के क्षेत्र में घसीट लाया और मेरा पहला

आलोचनात्मक निबंध निराला की काव्य प्रतिभा के समर्थन में प्रकाशित हुआ। सम्भव है, यह संघर्ष न होता-मेरे प्रिय कवि पर द्वेषपूर्ण आरोपों की वर्षा न की गयी होती-तो मैं आलोचना के क्षेत्र में आता ही नहीं।'' (भूमिका, पृष्ठ 2) निरालाजी की कविता के पक्ष में डॉ. रामविलास शर्मा का यह पहला आलोचनात्मक लेख 'निराला जी की कविता' है जो 'विरामचिन्ह' में संगृहीत है। इसके बाद वे निराला के साहित्य का निरन्तर अध्ययन करते रहे और उस पर आलोचना लिखते रहे, जिसकी परिणति 'निराला की साहित्य-साधना' के तीन खण्डों के रूप में हुई। जितने मनोयोग से निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन उन्होंने किया, उतने मनोयोग से बहुत कम आलोचकों ने किसी रचनाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन किया है। जैसे-जैसे आलोचना में उनका मन रमता गया वैसे-वैसे उनका कविता लिखना कम होता गया और एक दिन ऐसा आया जब उनका कविता लिखना बिल्कुल छूट गया।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी जिन कविताओं को सुरक्षित रखा और बाद में प्रकाशित करवाया, उनका प्रारम्भ 1929 से होता है। उनकी प्रारम्भिक कविताएं 'बुद्ध वैराग्य तथा प्रारम्भिक कविताएं' में संगृहीत हैं। इसकी प्रारम्भिक पांच कविताएं 1929-30 में झांसी में लिखी गयी थीं जब वे इण्टरमीडिएट के दूसरे वर्ष के छात्र थे। पहली कविता 'हम गोरे हैं' 1929 की है, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों पर व्यंग्य करते हुए उनके अशौच, काले कारनामों, स्वार्थपरता आदि का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उनमें व्यंग्य की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही थी, जो आगे चलकर उनकी कविता और आलोचना दोनों में खूब व्यक्त हुई। इस संग्रह की दूसरी कविता 'प्रश्नोत्तर' 1930 की है, जिसमें उन्होंने स्वाधीनता, क्षमता और क्रांति की बात कही है—

*साम्य समक्ष असीम विषमता दूर हो;*
*कायरता हो दूर, दासता दूर हो।*
*दुखी सुखी हों सभी देश भरपूर हो;*
*चिरजीवी हो क्रान्ति, विजय हो सत्य की,*
*चिरजीवी वीरता रहे इस देश की।*
*चिरजीवी ये भाव हृदय में हों भरे,*
*नश्वर नीच शरीर रहे या न रहे!* (बुद्ध-वैराग्य, पृ. 16)

व्यंग्य के साथ-साथ साम्यवाद की ओर झुकाव भी उनके सृजन में प्रारम्भ से ही था, उपर्युक्त पंक्तियां इस बात का प्रमाण हैं। इसके बाद की कविताएं भी इस झुकाव को प्रमाणित करती हैं। साम्यवाद के प्रति इस झुकाव का कारण यह है कि ''29-30 की झांसी में साम्यवाद की हवा चलने लगी थी'' और वे उससे प्रभावित हुए थे। स्पष्ट

विवेचन करें तो पायेंगे कि डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेम, प्रकृति और प्रगति को लेकर कविताएं लिखीं। उनकी आगे की कविताओं की वस्तु भी मुख्यत: यही तीन चीज़ें रहीं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेम-संबंधी कविताएं सबसे कम लिखी हैं। 'बुद्ध-वैराग्य' संग्रह में 1933 का लिखा जो पनद्रहवां गीत है उसमें 'रूप की ज्वालाओं में' जलने की बात कही गयी है (पृ० 40)। नारी-रूप के प्रति 21-22 वर्षीय युवक के आकर्षण को अस्वाभाविक माना जा सकता, लेकिन यह आकर्षण दूर का आकर्षण ही रहा होगा और उसमें अभिलाषा का तत्व प्रधान रहा होगा। अगर ऐसा नहीं होता तो वे एक ही गीत लिखकर नहीं रह जाते। इस उम्र में बात यदि रूप के आकर्षण से आगे बढ़कर प्रेम तक पहुंचती है तो ऐसा पागलपन सवार होता है कि कवि कविताओं की झड़ी लगा देता है। इस गीत के लिखने से पूर्व ही वे विवाहित थे और अपने विवाह से बहुत संतुष्ट भी नहीं थे। (अपनी धरती अपने लोग; खण्ड 3, पृ. 22) फिर भी जिन परिस्थितियों में वे रहे थे और शिक्षा प्राप्त की थी उसके कारण युवावस्था से पहले ही उनमें विवेक जाग्रत हो गया था। इसलिए वे किसी प्रेम-प्रसंग में नहीं पड़े और इसके बिना प्रेम-कविताएं नहीं लिखी जाती। 'रूप तरंग' में 1931-36 के बीच लिखी गई जो प्रेम कविताएं हैं वे दाम्पत्य प्रेम की कविताएं हैं। 'विदा से पहले' शीर्षक कविता की स्थिति का अनुमान आसानी लगाया जा सकता है। बचपन में ही विवाहित, गांव का लड़का घर में पत्नी को छोड़कर पढ़ने के लिए शहर जाता है तब उसके जो मनोभाव हो सकते हैं, वही मनोभाव इस कविता में व्यक्त हुए हैं। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर इन पंक्तियों का मर्म समझा जा सकता है—

*परदेश तुम्हारा पथिक दूर,*
*पहुंचोगे चलकर पथ अपार।*
*लौटोगे कब, यह कौन कहे?*
*भर बाहों में फिर करो प्यार।*
*किसकी बहती है अश्रु-धार?*
*पीछे फिर देखो एक बार।*

*अस्थिर हैं जग के जीव-जन्तु,*
*अस्थिर है सब जग सारहीन।*
*रहता फिर मानव यहां कौन,*
*यदि होता यह जग प्रेमहीन?*
*निज प्रेम-पुष्प को हे उदार*
*पीछे फिर देखो एक बार।* (रूपतरंग, पृ. 47)

कवितांश में जीवन की अस्थिरता और जगत की सारहीनता की बात भी कही गयी है। लेकिन उनकी कविता में इस प्रकार की अनुभूतियां भी विशेष महत्त्व नहीं रखती हैं। उनमें हल्का-सा एक निराशावादी स्वर हमें अवश्य मिलता है। 'गीत का जीवन' कविता में यह स्वर मुखर है—

*क्षणिक सुख का संसार,*
*तरल जल का बुद् बुद 'नि:सार,*
*एक क्षण में विकसित लयमान,*
*छिपा क्षण में ही जीवन-मरण;*
*हाय रे, सुख के गान,*
*क्षणिक तेरा सुख का संसार*
*और तब लघु जीवन!* (बुद्ध-वैराग्य, पृ. 101)

उनके काव्य में यह निराशावाद एक संचारी भाव से अधिक और कुछ नहीं है। ऐसा ही संचारी भाव आध्यत्मिकता और रहस्यवाद है। 1936 की कविता 'सृष्टि के पूर्व' 'रूपतरंग' में संगृहीत 'परिणति' (1932), 'सन्तरण' (1932), 'वरदान' (1936), 'अज्ञान' (1935) इत्यादि कविताओं में आध्यात्मिकता अपने चरम उत्कर्ष पर थी और डॉ. रामविलास शर्म के कवि-जीवन का प्रारम्भिक चरण था। इसलिए उन्हें आसानी से छायावादी कविता का प्रभाव माना जा सकता है। कवि जीवन के प्रारम्भ में प्राय: सभी कवि थोड़ा-बहुत भटकते हैं और उस समय की प्रमुख काव्य-प्रवृत्ति तथा प्रमुख कवियों से प्रभावित होते ही हैं। डॉ. रामविलास शर्मा भी इसका अपवाद नहीं हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा की कविता में दाम्पत्य प्रेम की अपेक्षा प्रकृति के प्रति उनके प्रेम का अधिक चित्रण हुआ है। यह स्वाभाविक भी है। जिसका सम्बन्ध गांव से होता है वह प्रकृति से अनायास जुड़ जाता है। उनकी प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें ग्रामीण प्रकृति और वसन्त, वर्षा तथा शरद ऋतुएं विशेष प्रिय हैं। उन्होंने प्रकृति को लेकर जो कविताएं लिखी हैं, उनमें विवरण या वर्णन नहीं है अपितु चित्रण है। मानवीकरण का सहारा लेकर उन्होंने प्रकृति को साकार किया है; उसके शब्द बिम्ब रचे हैं। उनकी प्रकृति चित्रण संबंधी प्रारम्भिक कविताओं पर छायावादी प्रकृति-चित्रण का गहरा प्रभाव है। प्रमाण के लिए बाग में अकेली/पथ अपलक किसका जोहती चमेली' (बुद्ध-वैराग्य; पृ. 45) जैसी कविताएं देखी जा सकती हैं। किंतु आगे बढ़ने पर, निजी कवि व्यक्तित्व के विकसित होने पर वे प्रकृति और मानव-जीवन को एक-दूसरे की सापेक्षता में देखन लगे। इस दृष्टि से मुझे उनकी जो कविता सर्वाधिक प्रिय है, वह 'शारदीया' (1938) है-

*सोना ही सोना छाया आकाश में,*
*पश्चिम में सोने का सुरज डूबता,*

*पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ,*
*भरे ज्वार के भुट्टे पककर झुक गये।*
*'गला-गला' कर हांक रही गुफना लिए,*
*दाना चुगती हुई गलरियों को खड़ी,*
*सोने से भी निखरा जिसका रंग है,*
*भरी जवानी जिसकी पककर झुक गयी।* (रूपतरंग, पृ. 7)

एक ओर शरद ऋतु का डूबता हुआ सूर्य, उसकी स्वर्णभा और ज्वार के पके हुए अन्नपूर्ण भुट्टों का बिम्ब है तो दूसरी ओर खेत की रखवाली करती हुई स्वर्णभ युवती है और उसका असमय ढलता हुआ यौवन है, जो प्रकृति को प्रतिबिम्बित कर रहा है या प्रकृति उसको प्रतिबिम्बित कर रही है। इस प्रकार प्रकृति और ग्रामीण जन का जीवन अभिन्न है। इस प्रकार की कविताएं कल्पना-प्रसूत नहीं हैं, अपितु यथार्थाश्रित हैं। 'शारदीया' के संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' खण्ड-2 में हमें बताया है कि ''खजुरिहा ताल और आट के बीच में कई बड़े खेत हैं। एक में ज्वार की खेती होती है। बड़े-बड़े भुट्टे लगते थे। वहां हमारे गांव की एक लड़की गुफना लिए गलारें उड़ाती थी। 'शारदीया' कविता में उसी का वर्णन है। शरद की सांझें बहुत सी सुंदर होती हैं। आसमान सुनहरे रंग से भर जाता है उस सुनहरे आसमन के नीचे गला-गला करके चिड़ियों को उड़ाते हुए वह लड़की मुझे बहुत सुंदर लगी थी। उसी खेत में जाड़े के दिनों में सिंचाई होती थी। आट के खाले पक्की ईटों का कुआं था। इसी में पुरहाई होती थी। जाड़ों में खेतों के ऊपर कोहरा छा जाता था। तड़के ही लोग सिंचाई शुरू कर देते थे। जो लड़की 'शारदीया' में है, वही 'कोहरे के बादल' में है। ऋतु बदल गयी है, लड़की वही है।'' (पृ. 102)

अपने गांव की प्रकृति को लेकर डॉ. रामविलास शर्मा ने अनेक कविताएं लिखीं हैं लेकिन वे अपने गांव की प्रकृति तक ही सीमित नहीं रहे हैं। उन्होंने देश के अन्य अनेक क्षेत्रों केरल, बंगाल, कश्मीर, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु इत्यादि-की प्रकृति को लेकर भी कविताएं लिखी हैं और बड़ी सुंदर, संवेदनापूर्ण कविताएं लिखी हैं।

'शारदीया' में उन्होंने प्राकृतिक सौंदर्य को ही नहीं देखा है, स्त्री के सौंदर्य को भी देखा है। और केवल स्त्री के सौंदर्य को ही नहीं देखा है अपितु भरी जवानी के पक कर झुकने को भी देखा है। गांव की युवती का सौंदर्य सहज होता है, लेकिन स्थितियों की कठोरता के कारण वह जल्दी ही पक कर ढल जाता है। इस जवानी के जल्दी ही पक्का ढलने को देखना ही डॉ. रामविलास शर्मा का प्रगतिवाद है। वे साम्यवादी विचारधारा के सम्पर्क में जल्दी ही आ गए थे और उससे प्रभावित होकर प्रगति-पथ पर चल पड़े थे। इसीलिए प्रगति या प्रगतिवादिता उनकी कविता की प्रमुख प्रवृत्ति है।

उनकी प्रगतिवादी प्रवृत्ति में मुक्तक कार्य होने के कारण कुछ अन्तर्विरोध भी हैं। अन्तर्विरोधों का एक कारण मुक्तक कविताओं का लम्बा रचनाकाल भी है। एक प्रगतिवाली कवि को प्रेम, अध्यात्म, आत्मा, रहस्य आदि की बात नहीं करनी चाहिए।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी कविताओं में उनकी बात की है। कहीं-कहीं निराशावाद भी मुखर हुआ। एक अन्तर्विरोध भारत की स्वाधीनता को लेकर भी हैं। वे भारत की स्वाधीनता की कामना करते हैं। स्वाधीनता प्राप्ति का स्वागत भी करते हैं। 15 अगस्त, 1947 को लिखी कविता 'नयी ज़िंदगी की किरन फूटती है' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

*किरन फूटती है, सहर हो रही है।*
*अमावस की काली घटा रो रही है।*
*समुंदर के ऊपर लहर सो रही है।*
*किसी की हुकूमत खत्म हो रही है।*

*गुलामी की आखिर कड़ी टूटती है।*
*घने बादलों से किरन फूटती है।*

(सदियों के साये जाग उठे, पृ. 86)

लेकिन 3 फरवरी, 1946 को लिखी गयी अपनी कविता 'सदियों के सोये जाग उठे फिर तीस करोड़ किसान चले' में उस स्वाधीनता को झूठा कहा था, जिसमें—

*भाई से जब तलवार चले, वह आज़ादी की जंग नहीं।*
*जो खून लगा है दामन में, वह आज़ादी का रंग नहीं।*
*जो ऐंठ अकड़ और शेखी से होगा अपना दिल साफ नहीं।*
*तब जुल्म जबर्दस्ती होगी, हरगिज़ होगा इन्साफ़ नहीं।*
*अब मेल-मुहब्बत का झण्डा लेकर रजपूत पठान चले।।*

(वही, पृ. 52)

उनकी इस कविता से यह स्पष्ट है कि वे ऐसी आजादी चाहते थे, जिसमें पराधीनता की काली रात बीतने पर लाल सबेरा आये। 'कवि और कम्युनिस्ट पार्टी' (वही; पृ. 53) में उन्होंने कहा कि इनकलाब का सेहरा कम्युनिस्टों के सिर पर बंधे और लाल किले पर वही 'लाल फरहरा' फहराये। उन्होंने गांधीजी के अहिंसात्मक आंदोलन का विरोध किया और लाल क्रान्ति का आह्वान किया। लेकिन भारत उनकी आकांक्षाओं और आस्थाओं के अनुकूल स्वाधीन नहीं हुआ, फिर भी उन्होंने भारत की स्वाधीनता का स्वागत किया। इसका कारण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता कि पाश्चात्य ढंग से शिक्षा प्राप्त करने और साम्यवादी विचारधारा को निष्ठापूर्वक अपनाने के बावजूद उनके भारतीय संस्कार बड़े प्रबल हैं। यही कारण है कि वे भारत के विभाजन को स्वीकार नहीं करते। 18 जनवरी, 1948 की अपनी कविता 'भजनदास की चिट्ठी कायदे आज़म जिन्ना के नाम' में उन्होंने साफ़ शब्दों में घोषणा की कि एक दिन भारत और पाकिस्तान फिर एक होंगे। (वही, पृ. 177) उनमें भारतीय संस्कारों की प्रबलता इसलिए है कि भारत की ग्राम संस्कृति के प्रति उनमें गहरी संसक्ति है।

यदि हजारों साल से भारतीय परम्परा अविच्छिन्न चली आ रही है, बाहर से आने वाला कोई शासक, कोई सभ्यता या संस्कृति आदि भारत का आमूल नहीं बदल पायी है। तो भारतीय ग्राम जनों के कारण ही। परिवर्तन शहरों में हुए हैं, भारतीय गांवों में नहीं। भारतीय गांवों ने बाहरी प्रभावों को स्वीकार किया है तो अपने ढंग से, अपना बनाकर। भारत की मौलिकता भारत के गांवों में रही है, है और रहेगी। डॉ. रामविलास शर्मा की मौलिकता का रहस्य भी उनके ग्रामीण संस्कारों में है। साम्यवाद को उन्होंने आंखें बंद करके नहीं अपनाया, आंखें खुली रखकर अपनाया। इसीलिए उन्होंने मार्क्सवाद की अनेक स्थापनाओं को या तो अस्वीकार किया या उनमें संशोधन किया। जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (1999) में भारतीय संस्कृति के संबंध में जो नयी स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं, उनसे सबसे अधिक खलबली तो वामपन्थियों के बीच ही मची है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि साम्यवाद को उन्होंने ऊपर-ऊपर से किसी अवसरवादी की तरह अपनाया था। वस्तुत: उन्होंने पूरी निष्ठा के साथ उसे अपनाया था। एक समय साम्यवादी विचार धारा को लेकर उन्होने कट्टरता का परिचय भी दिया था। इसीलिए उनकी प्रारम्भिक कविताओं में लाल रंग कम दिखाई देता है जबकि बाद की कविताएं लाल रंग में पूरी तरह पूरी रंगी हुई है। इसलिए उनकी कविताओं का प्रमुख रंग तो लाल ही है: उनकी कविताओं की प्रमुख प्रकृत्ति तो प्रगतिवादी ही हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में शोषित की पक्षधरता की है। ये शोषित हैं किसान और मजदूर। उन्होंने किसान की दयनीय दशा, उसकी श्रमशीलता, जाति, धर्म और सम्प्रदाय से रहित किसान की एकता, उसके बेरोजगार होने या मजदूर बनने और उसी के माध्यम से क्रांति सम्पन्न होने की अपनी कविताओं में बार-बार चर्चा की है। 'डलमऊ में गंगा' (1947) शीर्षक अपनी कविता में उन्होंने लिखा है—

*धू-धू करती तट की लपटें शीतल होंगी*
*चातक के मुंह में सजल स्वाति की बूंदों से।*
*हल से बिगसी गीली धरती में बिखरेंगे*
*किसान के पौरुख से फिर नवान्न के दाने।*
*हां, जनसंस्कृति का पर्व कार्तिकी आयेगा,*
*ये बियाबान उद्यान नये जीवन से फिर संकुल होंगे।*
*गत सामन्ती संस्कृति के मिटते ढूहों पर*
*आश्वस्त सुनाई देगी फिर*
*गंगा की अविरल धारा-सी*
*नव युग की श्रमकर जनता की पदचाप नयी।*

(रूपतरंग, पृ. 73-74)

उन्होंने क्रांति का रूपक भी किसान के माध्यम से ही बांधा है—

*असंस्कृत भूमि ये किसान की*
*धरती के पुत्र की*
*जोतनी है गहरी दो-चार बार, दस बार*
*बोना महातिक्त वहां बीज असन्तोष का*
*काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।*
(वही, पृ. 16)

साम्यवादी विचारधारा में क्रान्ति का माध्यम मजदूर को माना जाता है। मार्क्स का सोचना ऐसा ही था। कम्युनिस्ट पार्टी के, घोषणापत्र में तो नारा ही यह दिया गया है कि 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ' लेकिन राम विलास शर्मा क्रांति की संभावना किसानों में देखते हैं। मार्क्स ने मजदूरों के बीच काम किया था लेकिन रामविलास शर्मा या हिंदी के अन्य प्रगतिवादियों का मजदूरों से या तो बिल्कुल सम्पर्क नहीं है या है भी तो अत्यन्त नगण्य। हिंदी के ज्यादातर प्रगतिवादी या तो किसान परिवारों से आये हैं या शहरी मध्यवर्गीय परिवारों से इसलिए उनकी किसान और मध्यवर्गीय जीवन से सम्बन्धित कविताओं में तो अनुभव का ताप है; मजदूरों से सम्बन्धित कविताओं में वह ताप नहीं है।

विचारधारागत प्रतिबद्धता के कारण मजदूरों की छंटनी, बेरोजग़ारी एकता हड़ताल, संघर्ष आदि को लेकर कुछ कविताएं डॉ. रामविलास शर्मा ने भी लिखी हैं, किन्तु उनमें उत्तेजनात्मक नारेबाजी अधिक है। जैसे—

*मज़दूर बढ़े हैं दुनिया में मजबूत हुआ उनका एका,*
*जनता से मिलकर तोड़ेंगे हम थैलीशाहों का ठेका।*
*यह फौज बढ़ी मजदूरों की, देखो यह लाल फरहरा है,*
*हम मज़दूरों के झण्डे का पहले से रंग अब गहरा है।*
*लो जनता की बेकारी पर यह पहला वार हमारा है,*
*मजदूर लड़ो आगे बढ़कर अब ऊंचा साल सितारा है।*

ये सारे शब्द यथार्थ अनुभव से प्रसूत न होकर बुद्धि से प्रसूत हैं। इसीलिए इनमें न तो मजदूर की व्यथा की छटपटाहट है और न ही उसकी आग। आज विश्व में कम्युनिस्ट क्रान्तियों का जो हश्र हुआ है, उसे देखते हुए तो यह नारे बाजी और भी खोखली मालूम होती है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी कविताओं में शोषकों का विरोध किया है और उनका मज़ाक उड़ाया है। शोषितों में जहां उन्होंने किसानों, मजदूरों के साथ-साथ बेकारों क्लर्कों आदि को शामिल किया है, वहीं शोषकों में जमींदारों, पूंजीपतियों के साथ-साथ अंग्रेजों, भारतीय राजाओं, राजनेताओं, नौकरशाहों आदि को शामिल किया है। ये सभी शोषक उनके व्यंग्य विद्रूप का विषय सामूहिक रूप में भी बने हैं

और व्यक्ति रूप में भी। उन्होंने अंग्रेजों पर भी व्यंग्य किया है और चर्चिल पर भी, उन्होंने पूंजीपतियों को भी अपने व्यंग्य का सामूहिक लक्ष्य बनाया है और बिड़ला तथा पदमपति संघानिया को भी अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। कांग्रेसी कम्युनिस्टों का विरोध कर रहे थे। अक्तूबर, 1945 में पट्टाभि सीता रमैया ने कहा था कि "कम्युनिस्ट उत्पात करें तो उनके विरुद्ध लाठी उठाना चाहिए।"(सदियों से सोये जाग उठे, भूमिका, पृ. 8) डॉ. रामविलास शर्मा कम्युनिस्ट थे। कांग्रेसियों का यह रवैया उन्हें अखरना ही था। वह अखरा और उन्होंने बड़ी तल्खी के साथ लिखा—

*अभी वज़ारत नहीं बनी है तब तो पत्थर बरसाये,*
*अभी अहिंसा के नाते ही छिपकर हमले करवाये।*
*अमन-चैन और रामराज का खूब नमूना दिखलाया,*
*कैसे हक देंगे हमको, यह भेद अभी से बतलाया।*
*वार करेंगे संगीनों से अगर यही रफ्तार रही,*
*लेकिन सारे देश का बेड़ा ऐसे होगा पार नहीं।*

(सदियों के सोये... पृ. 48)

बाकायदा कम्युनिस्ट होने के नाते डॉ. रामविलास शर्मा ने उन तमाम चीजों पर कविताएं लिखीं हैं, जिनपर सामान्यत: कम्युनिस्ट रचनाकार उस समय लिख रहे थे। उन्होंने साम्यवाद की साम्प्रदायिक एकता और समता पर बल दिया है आदि, और उन तमाम घटनाओं पर कविताएं लिखीं हैं, जिनके साथ कम्युनिस्ट पार्टी का सम्बन्ध था-जैसे बम्बई में मल्लाहों की हड़ताल, कटयूर के किसानों की शहादत, लालमोहन सेन की शहादत, बुधई के गांव में लाल झण्डा का फहराना इत्यादि। इन कविताओं में कवि की कम्युनिस्ट सोच अभिव्यक्त हुई है। आज सामान्य पाठक के लिए टीका-टिप्पणी के बिना इनमें से अधिकांश कविताएं दुर्बोध हो गयी हैं, क्योंकि वे काल-कीलित हैं। यह स्वाभाविक है; क्योंकि किसी राजनैतिक-सामाजिक आंदोलन से बद्ध होकर लिखी जाने वाली कविताएं प्राय: तात्कालिकता से प्रेरित होती हैं, शाश्वत मानवीय सरोकारों से उनका सम्बंध नहीं होता है।' 'तार सप्तक' के उनके वक्तव्य के इन वाक्यों में आंशिक सत्य अवश्य है-"मेरे बहुत से लेख साहित्य के अशाश्वत सत्य, वाद-विवाद से पूर्ण हैं। कविता में शाश्वत सत्यों की मैंने खोज की हो, यह भी दिल पर हाथ रखकर नहीं कह सकता।" (पृ. 224) इसीलिए ऐसी क्रविताओं का ऐतिहासिक महत्त्व तो होता है, किंतु वे कालजयी कविताएं नहीं बन पातीं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रारम्भ में कुछ कथाधारित कविताएं भी लिखीं जैसे 'बुद्ध-वैराग्य' 'कबीर और रामानन्द' और 'मेनका' आदि ये कविताएं अपने आप में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनका महत्त्व केवल इस दृष्टि है कि ये कवि की प्रबन्धकाव्य रचना की क्षमता का परिचय देती हैं, जिसका समुचित उपयोग उसने नहीं किया। इसी प्रकार कवि अनुवादक के रूप में भी सामने आया है। उसने 1935 में फिट्जजेराल्ड

के अनुवाद से उमर खय्याम की 75 रुबाइयों का अनुवाद किया। इसी समय उसने स्वामी विवेकानंद की कविता 'द सांग आफ सन्सासिन्' का अनुवाद 'सन्यासी का गीत' के नाम से किया। 1937 में उसने काजी नज़रुल इस्लाम की प्रसिद्ध कविता 'विद्रोही' का स्वतन्त्र रूपान्तर प्रस्तुत किया। बाद में, 1959 में उसने बल्गारियाई कवि निकोला वप्तसारोव की कविताओं का अनुवाद प्रस्तुत किया। ये सब अनुवाद उनको कविता के श्रेष्ठ अनुवादक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन अनुवादों की प्रेरणाएं अलग-अलग रही हैं। उमर खय्याम की रुबाइयों और 'सन्यासी का गीत'-ये दोनों अनुवाद 'निराला को यह दिखाने के लिए किये थे कि ओजस्वी प्रवाह के लिए हिंदी में सोलह अक्षरों वाली पंक्ति का प्रयोग किया जा सकता है।'' (बुद्ध-वैराग्य, पृ. 7) अर्थात् इनकी काव्यवस्तु में उसकी रुचि नहीं थी, लेकिन निकोला वप्त्सारोव की कविताओं के अनुवाद की प्रेरणा उन कविताओं की वस्तु थी और शिल्प भी, क्योंकि ''वप्त्सारोव देशभक्त होने साथ मानव-मात्र के कवि हैं। उन्हें स्पेन के योद्धाओं से वैसे ही सहानुभूति है जैसे अपने यहां के श्रमिकों से। उनकी कविताएं पढ़कर मानवता के भविष्य में हमारी आस्था दृढ़ होती हैं।'' (रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक भूमिका, पृ. 104)

'तार सप्तक' के कवियों में से एक कवि होने के नाते डॉ. रामविलास शर्मा की चर्चा छायावादी कवि के रूप में हुई है। बाद में अज्ञेय को प्रगतिवादियों के द्वारा प्रतिक्रियावादी और अस्पर्श्य घोषित कर दिये जाने और अपनी मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के कारण शायद उन्हें प्रयोगवादी कहलाना पसंद नहीं था: लेकिन यह निश्चित है कि उन्होंने कविता की वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर प्रयोग किये हैं। उनके मूल नाम और छद्म नामों-निरंजन, अगिया बैताल और भजनदास से कविता लिखने का सम्बंध उनके काव्य-प्रयोगों से है। उन्होंने गम्भीर कविताएं अपने वास्तविक नाम से लिखीं, जिनका लक्ष्य मध्यवर्गीय पाठक और शिक्षित मजदूर थे। तीन छद्म नामों से लिखी कविताओं का लक्ष्य अपढ़ किसान और मजदूर थे, जो उन्हें सुन कर समझ सकें। गम्भीर कविताओं की भाषा परिनिष्ठित साहित्यक खड़ी बोली है जबकि छद्म नामों से लिखी गयी व्यंग्य, विनोद और विद्रूपमयी कविताओं की भाषा अवधी, या बोलचाल की भाषा है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने कविता लिखना छायावाद, और विशेषत: निराला के प्रभाव में प्रारम्भ किया था। व्यक्ति निराला और कवि निराला दोनों से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। व्यक्ति निराला का प्रभाव उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है और वह इससे भी सिद्ध है कि उन्होंने निराला को विषय बनाकर एकाधिक कविताएं लिखीं हैं। 'तार सप्तक' में संग्रहीत दूसरी और 'रूपतरंग' में पहली 'कवि' शीर्षक कविता निराला को लेकर ही 1943 में लिखी गयी थी। 1952 में 'अर्चना' शीर्षक कविता का विषय भी निराला हैं। 1956 में 'अमर सरस्वती' शीर्षक एक और कविता उन्होंने निराला पर लिखी। निराला को लेकर लिखी गयी इन तीन कविताओं में निराला के तीन अलग-अलग रूप

हैं और तीनों रूपों का चित्रण करते समय भाषा और छन्द के तीन अलग-अलग रूप हो गये हैं। पहली कविता में निराला का प्रारम्भिक चरण वाला रूप है—

*वह सहज विलम्बित मन्थर गति जिसको निहार*
*गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार,*
*काले लहराते बाल, देव-सा तन विशाल,*
*आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल,*
*झंकृत करती थी जिसकी वाणी में अमोल,*
*शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल-*
*कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज,*
*सन्ध्या की बेला, शिथिल हो गये सभी साज।*
*अब वन्य जन्तु का पथा में रोदन कराल।*
*एकाकीपन के साथी हैं केवल श्रृंगाल।।* (रूपतरंग, पृ. 1)

इस कविता में निराला के भव्य रूप और उसकी ढलान का चित्रण है और तदनुसार पहले भाषा और छंद में ओज है जो क्रमशः शिथिल हुआ है। इस दृष्टि से ऊपर उद्धृत छन्द की पहली दो पंक्तियों की तुलना अन्तिम दो पंक्तियों से करने पर ओज और उसकी ढलान को अनुभव किया जा सकता है। 1952 की कविता 'अर्चना' में निराला के उस रूप का चित्रण है जो उनका टूटन वाला रूप है। इस कविता में छन्द छोटा हो गया है, भाषा एकदम बोलचाल की भाषा के निकट आ गयी है और कविता की अन्तिम दो पंक्तियों का व्यंग्य डॉ. शर्मा के मार्क्सवादी रुझान को व्यक्त करता है—

*यह कवि अपराजेय निराला,*
*जिसको मिला गरल का प्याला,*
*ढहा और तन टूट चुका है*
*पर जिसका माथा न झुका है।*

*भारत के इस रामराज्य पर,*
*हे कवि! तुम साक्षात् व्यंग्य-शर।* (वही, पृ. 91)

निराला को लेकर लिखी गयी तीसरी कविता 'अमर सरस्वती' (1956) में छन्द फिर लम्बा है, जो निराला की कविता के अमरत्व के प्रति व्यक्त की गयी आस्था के अनुकूल है—

*एक बार हो जाय क्षीण जलहीन भले ही धरती पर गंगा की धारा,*
*हे कवि! अमर रसवती है पर तेरी सरस्वती धरती की अन्तर्धारा।*
(वही, पृ. 115)

निराला को लेकर लिखी गयी तीन कविताएं भाषा और छंद के मामले में डॉ. रामविलास शर्मा के कवित्व के विकास की भी द्योतक हैं। इन तीन कविताओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद के गहरे प्रभाव से वे क्रमशः उभरे थे और उन्होंने अपना सहज कवि रूप पा लिया था। यह रूप भाषा को लेकर था, छंद को लेकर था और काव्यरूप को लेकर था। प्रारम्भ में उन्होंने कथाकाव्य लिखे, छायावादी शैली के गीत लिखे और मुक्तक कविताएं लिखीं। इन तीनों में उनकी प्रकृत भूमि मुक्तक कविताओं की थी, प्रबन्धकाव्य या गीत की नहीं। ये तो प्रकृत भूमि की खोज में निकलने पर किये गये कुछ प्रयोग मात्र थे। उनके द्वारा लिखी गयी चतुर्दशपदियों (सॉनेटों) को भी एक प्रयोग ही मानना चाहिए।

'तार सप्तक' में डॉ. रामविलास शर्मा की 'सत्यं शिवं सुन्दरम' शीर्षक कविता भी प्रकाशित हुई है, किंतु उन्होंने उसे 'रुपतरंग' में शामिल नहीं किया है, क्योंकि उसका मिजाज इस संग्रह की अन्य कविताओं से सर्वथा भिन्न है। यह हास्य-व्यंग्यपूर्ण राजनैतिक कविता है, जिसका लक्ष्य किसी गम्भीर अनुभव को व्यक्त करना नहीं है, अपितु एक विशेष दृष्टि, विचारधारा और दल का प्रचार करना है। इस प्रकार की कुछ कविताएं 'बुद्ध-वैराग्य' में भी हैं, किंतु 'सदियों के सोये जाग उठे' की अधिकांश कविताएं इसी प्रकार की हैं। रूप तरंग के 'परिचय'-लेखक रघुनाथ विनायक तावसे का इस प्रकार की कविताओं के सम्बंध का लक्ष्य साहित्य के गम्भीर पाठक न होकर जनसाधारण हैं, किसान और मजदूर हैं, जिनमें कवि क्रांति चेतना उत्पन्न करना चाहता है। इसलिए इन कविताओं की भाषा लोकभाषा है। इनका अर्थ सतह पर है। इनमें काव्यात्मक चमत्कार सर्वथा नहीं है। इनके रूप लोककाव्यों के निकट हैं। इस वर्ग की अनेक कविताएं पैरोडी हैं, जो लोक में प्रचलित काव्यरूपों पर आधारित हैं। अनेक कविताएं, पैरोडियां बतर्ज राधेश्याम-रामायण लिखी गयी हैं, जिनसे लगता कि डॉ. रामविलास शर्मा को राधेश्याम कथावाचक की रामायण प्रिय रही है। एक समय वह अत्यधिक लोकप्रिय रही भी है।

स्पष्ट है कि डॉ. रामविलास शर्मा उपेक्षणीय कवि नहीं हैं, यद्यपि स्वयं उन्होंने कवि कर्म को बहुत गम्भीरता पूर्वक नहीं लिया। यदि उन्होंने अपने आलोचना कर्म की तरह अपने कवि कर्म को गम्भीरतापूर्वक लिया होता तो वे महान आलोचक की तरह महान कवि भी होते; लेकिन यदि वे महान कवि होते तो महान आलोचक सम्भवतः नहीं होते। एक ओर की हानि दूसरी ओर का लाभ बनी है। यह क्या कम है?

□

# गाथापुरुष रामविलास शर्मा

## डॉ. रणजीत साहा

***डॉ. रामविलास शर्मा पर अनूठी सामग्री उनके सहयोगी रहे साहित्यकर्मी डॉ. साहा की कलम से। 10 अक्तूबर को डॉ. शर्मा का जन्मदिन भी पड़ता है।***

मार्क्सवादी दृष्टि और प्रगतिशील विचारधारा के यशस्वी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा (जन्म: अक्तूबर 1912 निधन: 29 मई 2000) ने केवल साहित्यक आलोचना ही नहीं, निरंतर प्रवाहशील भारतीय दृष्टि से भी भारतीय साहित्य एवं संस्कृति और दर्शन पर चिंतन तथा लेखन किया है। इस संबंध में अपने पाठकों और प्रशंसकों की जिज्ञासा के अनुरूप उन्होंने कई-कई बार अपने इस वक्तव्य को दोहराया भी था कि भारतीय दर्शन को बहुधा यूरोपीय दर्शन के आलोक में और यूरोपीय चिंतकों की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है-जो आंशिक और एकांगी है। डॉ. शर्मा चाहते थे कि भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में मार्क्सवाद का अध्ययन किया जाना चाहिए। यही वह बीज प्रेरणा थी, जिसे प्रस्थान बिन्दु मानकर डॉ. शर्मा ने पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में विपुल लेखन किया था। उनका यह भी मानना था कि साहित्य, भाषा, संस्कृति राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, नृतत्त्वशास्त्र आदि विषयों पर अलग-अलग विद्वानों ने काफ़ी काम किया है-लेकिन इन अधिकायों या दृष्टिकोणों को साथ लेकर-समग्रत: व्यवस्थित कार्य नहीं हुआ है-इसलिए हमारी दृष्टि-भारतीय इतिहास दृष्टि विकसित नहीं हो पाई है। इस दिशा में डॉ. साहब का अध्ययन जब आगे बढ़ता चला और वे दर्शन की आरंभिक सरणियों एवं सोपानों के संधान में लग गए तो उन्हें यह जान पड़ा कि भारतीय और यूरोपीय दर्शन का सम्यक् अध्ययन बिना

ऋग्वेद के अध्ययन-अनुशीलन के संभव नहीं। इस क्रम में उनकी आरंभिक कृति के बाद, एक के बाद एक कई कृतियां प्रकाशित होती चली गईं। इन कृतियों के साथ डॉ. साहब की उदात्त दृष्टि का देश-विदेश के विद्वानों एवं पाठकों द्वारा तो स्वागत हुआ ही उन अतिरेकपूर्ण और अराजक अवधारणाओं का भी खंडन होता चला गया जो अब तक यूरोपीय विद्वानों और उनकी आधी-अधूरी एवं अप्रामाणिक धारणाओं एवं निष्कर्षों को ही अपनी थाती बनाये छाती से चिपकाए बैठी थीं। संभवत: इसी कारण डॉ. साहब ने वेदों को, विशेषकर ऋग्वेद को अपने परवर्ती अध्ययन का आधार बनाया। उन्होंने अपने एक साक्षात्कार-क्रम में मुझे बताया था कि भारतीय और यूनानी दर्शन पर कार्य करते हुए उन्हें लगा कि ऋग्वेद का अध्ययन किये बिना भारतीय चिंतन परम्परा को ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता-क्योंकि इस ग्रंथ से ही भारतीय दर्शन की कई धाराएं-उपधाराएं प्रवाहित हुई हैं। औपनिषदिक चिंतन के साथ अनुवर्ती चिन्तन की कई सरणियाँ इससे विकसित हुई हैं। मैक्समुलर, पुसालकर, प्रो. रानडे, बी.वी. लाल, मार्शल, पीगॉट, मैकडनल, पार्टिजर और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जैसे विद्वानों को यह ठीक ही जान पड़ा था कि मानवीय सभ्यता और भारतीय प्रायद्वीप की संस्कृति के कई बीज ऋग्वेद में सुरक्षित हैं। ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा कवि आदिशक्ति प्रतीत होने वाली प्रकृति और वनस्पति से सीधा संवाद करते हैं। उसे संबोधित करते हैं। अपने समस्त कृत्य और लोकाचार में उन्हें आमंत्रित करते हैं। वे सूर्य मैं, आप: (जल) में, मेघ में-यहां तक कि अंधकार में अग्नि का दर्शन करते हैं। यह तभी संभव है जब किसी की चेतना उस विराट चेतना का न केवल संधान बल्कि साक्षात्कार करना चाहती है-और इस चेतना के कई स्तर हैं। यहां तक कि व्यक्तिगत, एवं पारिवारिक उत्कर्ष और योगक्षेम के लिए भी ऋग्वेद के मंत्रों के रचयिता प्रयत्नशील हैं।

पश्चिम एशिया और ऋग्वेद (हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) में डॉ. शर्मा ने पहली बार ऋग्वेद के इतिहास पक्ष पर विस्तार से लिखा था। इसी क्रम में उन्होंने अपने अगले ग्रंथ भारतीय साहित्य की भूमिका (राजकमल प्रकाशन, 1996) में ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषियों तथा ऋचाओं के काव्य पक्ष पर चर्चा की थी। इसी तरह उनके इतिहास दर्शन (वाणी प्रकाशन, 1995) ग्रंथ में भारत और यूनान की ऐतिहासिक एवं दार्शनिक परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए भरतों की इतिहास, उनकी परम्परा, आर्यभाषा क्षेत्र, वृत्र और जल-प्रवाह, सृष्टि और अग्नितत्त्व तथा पृथ्वी और कृषितंत्र पर विस्तार से चर्चा है। उन्होंने इस उपक्रम में ऋग्वेद के मंत्रों के देवों (वायु, इन्द्र, सूर्य, वृत्र आदि) तथा प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को एक दूसरे से सम्बद्ध पाया और इन सबका संबंध पृथ्वी से हैं, यह बताया। यही संबद्धता और परस्परता मानवीय सभ्यता और संस्कृति की आदि पहचान बनी और कृषि संबंधी अनुभव से निरंतर पुष्ट और समृद्ध होती चली गई। इसके तुरंत बाद प्रकाशित भारतीय साहित्य की भूमिका (1996) में भी उन्होंने ऋग्वेद

और ऋग्वेदकालीन समाज पर विस्तार से चर्चा की। वे श्रम और श्रमण-दोनों ही परम्परा का संधान कर विश्व को भारत के सांस्कृतिक अवदान को रेखांकित करते रहे। साथ ही यह ज़ोर देकर बताते रहे कि भारतीय परम्परा और मनीषा को न तो सिर्फ़ पंडितों और कर्मकाण्डी पुरोहितों के चश्मे से पढ़ा जा सकता है और न पंडों के वर्चस्व को स्वीकार कर वेदों का तिरस्कार किया जा सकता है। इस ग्रंथ में वैदिक कवियों की काव्य दृष्टि का आकलन एवं मूल्यांकन किया गया है। इसी तरह भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश (प्रथम खंड 1999) ग्रंथ के आरंभिक दो अध्यायों में ऋग्वेदकालीन संस्कृति और तीसरे अध्याय में महाभारत काल से जुड़े इतिहास, दर्शन और लोक संस्कृति पर विस्तार से चर्चा थी-और ऋग्वेद, महाभारत तथा गीता के संदेशों के माध्यम से उन विचारों एवं सूत्रों को पहली बार उद्‌घाटित किया-जिन पर अब तक विद्वानों की दृष्टि नहीं गई थी। डॉ. शर्मा के अनुसार ''ऋग्वेद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम का भेद मिट गया है। यह हमारा अतीत है और जिस भविष्य की ओर हमें जाना है, वह भी यही है।''(पृ. 63)

सन् 1992 में पंत अस्पताल से डॉक्टर साहब जब अपनी गहन चिकित्सा के बाद पेट का आपरेशन करा कर घर लौटे तो बावजूद शारीरिक पीड़ा और थकान के-उनके चेहरे पर प्रसन्नता दीख पड़ी थी। मिलने वालों को मुस्कराकर यह बताना ''एकदम ठीक हूं'', हमें बड़ी राहत देता था। कहना न होगा, वे अपनी तकलीफ़ या परेशानी को भीतर ही भीतर पी जाते थे और सामान्य नज़र आते थे। यह समय उनके लिए बेहद सक्रियता का था और वे मिलने पर किसी न किसी नई योजना के बारे में बताते रहते थे। मुझे पहले तो हैरानी होती थी-क्योंकि बढ़ती उम्र के बावजूद उनके काम करने का तौर-तरीका जहां गहन अध्ययन, नये अन्वेषण, तथ्यपूर्ण विश्लेषण तथ्यों की अद्यतन जांच के साथ, पुनरावृत्ति से बचाव का होता था वहां आलोच्य विषय वस्तु की केन्द्रीयता और उसके सम्यक् प्रतिपादन से भी जुड़ा होता था। वे एक विषय को विभिन्न कोणों से रखते थे और प्रस्तावित विषय पर अब तक हो गई गवेषणाओं की पूरी जांच-परख करने के बाद ही, अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति की मुहर लगाते थे। वे उन्हीं विषयों को अपने लेखन के लिए चुनते थे-जिनके साथ वे पर्याप्त न्याय करने की स्थिति में होते थे। ऐसा करने के लिए पूरी सामग्री का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करते थे और इसके बाद ही उसका आकलन एवं मूल्यांकन करते थे। अपनी योजना से जुड़ी पुरानी और नई से नई रचनाओं के लिए वे क्या कुछ नहीं करते थे-संबंधित मित्रों एवं विद्वानों से पत्राचार करना, अपने परिवार के लोगों को दौड़ाना, फ़ोटो कापियां प्राप्त करना, संबंधित विषय पर पुस्तकें मंगवाना, वे कहां, किस पुस्तकालय से मिलेंगी-इसका संधान करते हुए, उन पुस्तकों और लेखकों की सही वर्तनी, प्रकाशन वर्ष, पृष्ठ संख्या और प्रकाशक का पूरा पता आदि बताना वे कभी नहीं भूलते थे। यही कारण था कि वे अपने स्वाध्याय या संदर्भ के लिए जिस किसी कृति को उपयोगी समझते थे-उसे अपने परिवार के सदस्य की तरह ही चाहने लगते थे और अक्सर उसे उलटते-

पलटते रहते थे। मैं उनकी किताबों की रैक पर विषयवार रखी अनगिनत पुस्तकें-जो काफी भारी भरकम हैं-अक्सर उनके हाथ में या सिरहाने रखी देखता रहता था-और इनमें नई-पुरानी पुस्तकें लगातार शामिल होती रहती थीं।

उसी वर्ष स्वास्थ्य में तनिक सुधार होते ही, डॉक्टर साहब पहले की तरह अपनी चर्चा में डूब गये थे-जैसे कुछ हुआ ही न हो। हालांकि अब उन्हें लिखने में थोड़ी परेशानी होने लगी थी-क्योंकि उनका हाथ कांपने लगा था। कंपन के बावजूद वे देश भर में फैले अपने पाठकों को लगातार पत्र लिखते रहते थे। बाद में अपनी योजनाओं को पूरा करने के लिए उन्होंने 'कैसेट' पर बोलना शुरू किया। हालांकि आरंभ में उन्हें इस कार्य में कठिनाई आई-लेकिन अभ्यास हो जाने पर उनके लिए यह विधि कहीं सुगम हो गई। इसके लिए वे पहले से ही पाठ-सामग्री का व्यवस्थित चयन, आवश्यक टिप्पणियां, प्रकाशित कृतियों के पृष्ठों पर निशान, पर्चियां, संकेत आदि तैयार कर रखते थे। हालांकि उनके पास एक काम चलाऊ फ़िलिप्स टेपरिकॉर्डर ही था-जो बैटरी से चलाया जाता था। आये दिन बिजली का चला जाना और तार और प्लग के झंझट से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने ऐसा किया गया था।

डॉक्टर साहब ने उक्त पुस्तकों का लेखन-कार्य बहुत पहले पूरा कर लिया था और नये कार्य में जुट गए थे। प्रकाशकों द्वारा पुस्तकें तय समय पर प्रकाशित न करने पर वे अपनी उद्विग्नता छिपा नहीं पाते थे। मैं कभी-कभार उनकी तरफ़ से प्रकाशकों को, उनके द्वारा की जा रही देर से, डॉ. साहब की नाराज़गी के बारे में बता-जता देता था। इसी दौरान उनकी तबीयत कुछ इतनी बिगड़ी कि उन्हें पंत अस्पताल के सघन चिकित्सा कक्ष में रखना पड़ा। आंतों में सूजन के इलाज के लिए एक अगस्त 1992 को उनका आपरेशन भी हुआ। इस समय डॉक्टर साहब अपने जीवन के अस्सी वर्ष पूरे करने जा रहे थे। इसी मुसीबत को उन्होंने 'बीमारी के मज़े' शीर्षक से विस्तार से लिखा था- जो 'अपनी धरती अपने लोग' (खण्ड दो) में प्रकाशित है।

चूंकि विकासपुरी में उनके आवास के पास ही मेरा भी आवास है इसलिए मैं अक्सर उनके दर्शनार्थ वहां पहुंच जाता था। उनके स्नेह और सान्निध्य को पाकर मेरा जीवन धन्य हो गया था।

एक दिन किसी शाम को, अपने आवास पर बातचीत के दौरान उन्होंने मुझे भारतीय सौंदर्य-बोध पर विस्तार से एक ग्रंथ लिखने की योजना के बारे में बताया था। वे भारतीय सौंदर्य-बोध को केन्द्र में रखकर वैदिक ऋषियों, वेदोत्तर काल खंडों में कलाओं की यात्रा तथा विविध कलाओं में सौंदर्य की सरणियों, सोपानों और साक्ष्यों के आलोक में भारतीय पक्ष को स्थापित करना चाहते थे ताकि इस क्षेत्र में यूरोपीय विद्वानों की एकांगी और पक्षपातपूर्ण दृष्टि का निरसन हो सके। और इस क्षेत्र में उनके वर्चस्व को भारतीय चुनौती दी जा सके। मैं उनसे पहले भी अकादेमी के लिए कोई पुस्तक लिखने का अनौपचारिक अनुरोध कर चुका था। साहित्य अकादेमी के एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम 'लेखक से भेंट' के अंतर्गत उनका आगमन, व्याख्यान और

उसकी अभूतपूर्व सफलता से जहां अकादेमी की साख बढ़ी थी-वहीं मेरा हौसला भी बढ़ा था। डॉ. साहब छुट्टियों के दिन, शाम के समय, अपने घर पर मिलने वालों को समय देते थे और मैं भी बिना पूर्व सूचना के, उनसे मिलने चला जाया करता था उनके दर्शन करने। कभी-कभी उनके लिए कोई किताब या पत्रिका लेकर, कोई सूचना लेकर या फिर अखबारों की कटिंग लेकर। इस बीच उनके दो ग्रंथ-इतिहास दर्शन और भारतीय साहित्य की भूमिका प्रकाशित हो चुके थे और भारतीय संस्कृति तथा हिंदी-प्रदेश (दो खंडों में) ग्रंथ का काम पूरा हो चला था। उनके मन में विलियम जोन्स के कुछ निबंधों को हिंदी में रूपान्तरित करने की बात भी थी-हालांकि 'भारतीय साहित्य की भूमिका' में वे विलियम जोन्स पर एक लम्बा अध्याय लिख चुके थे। बाद में उन्हें जब यह पता चला कि डॉ. ओमप्रकाश केजरीवाल (प्रकाशन विभाग के तत्कालीन महानिदेशक) विलियम जोन्स पर शोध कार्य कर रहे हैं तो उन्होंने डॉ. केजरीवाल को इस दिशा में आगे और भी काम करने की प्रेरणा दी थी।

इसलिए डॉ. साहब ने जब भारतीय सौंदर्य-बोध ग्रंथ के बारे में, मुझसे कई एक मौकों पर चर्चा की तो मैंने उनसे यह योजना साहित्य अकादेमी के लिए पूरा करने का आग्रह किया। वे आरंभिक हिचक के बाद इसके लिए तैयार हो गए। मुझ पर उनकी यह विशेष कृपा थी। दरअसल उनकी बहुत-सी पुस्तकों को छापने में उनके प्रकाशक बहुत समय लगा देते थे। भारतीय संस्कृति और हिंदी-प्रदेश जैसे वृहतकाय ग्रंथ का दूसरा खंड जिस प्रकाशक (किताबघर) के यहां छप रहा था-वहां भी थोड़ी देर हो रही थी क्योंकि कैसेट की सामग्री को शब्दश: उतारना, विभिन्न प्रकरणों एवं सन्दर्भों के साथ पाठ सामग्री की जांच करना और फिर बिना किसी चूक या प्रमाद के छापना कोई आसान कान न था। डॉ. साहब तब भी अपनी पुस्तकों की सामग्री को मुद्रण पूर्व हर स्तर पर देखते थे और प्रूफ देखकर, आश्वस्त हो जाने के बाद ही, मुद्रणादेश देते ते। इन सारी तकनीकी व्यवस्था और बारीकियों के कारण उन पर कुछ दबाव बना रहता था और दूसरे कार्य भी बाधित होते थे। विलम्ब होने के बावजूद सभी प्रकाशकों से उनके संबंध मधुर और आत्मीयतापूर्ण थे और वे सबके सब उनसे उनकी आगामी कृति छापने, दूसरे संस्करण प्रकाशित करने, उनकी समस्त ग्रंथावली को छापने या उनसे कोई भी सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते थे। कभी-कभी डॉ. साहब प्रकाशकों की कोताही या फिर अधिक कीमत रखने के लिए और अनुबंधानुसार प्रकाशित ग्रंथों के पेपरबैक या सस्ते पाठकीय संस्करण न छापने के लिए उन्हें मीठी फटकार भी लगा दिया करते थे। अपने एक किताब की ऊंची कीमत देखकर उन्होंने अपने एक प्रकाशक से कहा था कि इस किताब को कौन ख़रीदेगा-मैं पाठकों और पुस्तकालयों के लिए किताबें लिखता हूं-संग्रहालयों के लिए नहीं।...इससे तो अच्छा है कि तुम किताबें छोड़कर नोट छापो...नकली नहीं...असली...।

'भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास' ग्रंथ के लिए भी उन्होंने साहित्य अकादेमी से लिखित रूप में अपनी शर्तों को स्वीकार करवाया और तभी अकादेमी

के लिए उक्त योजना से जुड़े औपचारिक अनुबंध पर हस्ताक्षर किए। साथ ही, परियोजना की प्रस्तावित रूपरेखा तैयार करते हुए इसे गोस्वामी तुलसीदास जी की सौदर्यपरक अवधारणा से जोड़ दिया था। ऐसा करने के पीछे उनका आग्रह भारतीय सौंदर्य के उन श्रेष्ठ कलात्मक प्रतिमानों की व्याख्या कर उस स्थापना तक पहुंचना था, जो साहित्य, संगीत और स्थापत्य के क्षेत्र में निर्विवाद थे, शीर्षस्थ स्थान के अधिकारी थे और आज तक जिनकी चुनौती नहीं टूटी है। इस दृष्टि से तुलसीदास, तानसेन और ताजमहल उनके लिए क्रमशः साहित्य, संगीत और स्थापत्य के न केवल उत्कृष्ट प्रतीक बल्कि युगान्तकारी प्रतिमान भी हैं। इस प्रतिमान-त्रयी को वे भारतीय मध्यकाल के उत्कर्ष के रूप में रेखांकित करते हुए सारे विश्व के समक्ष भारतीय सौंदर्य-बोध की श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते थे।

डॉ. साहब की शर्तों के मुताबिक तय हुआ कि वे अपनी सारी पाठ-सामग्री कैसेट के रूप में देंगे। उसे लिखित पाण्डुलिपि के रूप में तैयार करने का ज़िम्मा अकादेमी का होगा। वे सारी सामग्री देखकर कितनी जल्दी हो, मुद्रणादेश देंगे और अक्तूबर 2000 और ज्यादा से ज्यादा दिसंबर 2000 तक पुस्तक मुद्रण के लिए तैयार हो जाएगी। साथ ही, इससे जुड़ी सारी विहित कार्रवाई के लिए मुझे तैयार रहना पड़ेगा। मैंने यह सारा दायित्व गर्व के साथ वहन किया। इस योजना से जुड़ने की प्रसन्नता के सिवा मुझे और चाहिए भी क्या था?

मार्च 1999 में, अकादेमी द्वारा इस योजना से जुड़ा औपचारिक अनुबंध भिजवाने के साथ ही, उन्होंने इसे लिखना और कैसेट पर बोलना आरंभ कर दिया था। साथ ही, यह भी देख-परख लिया कि योजना ठीक-ठीक चलेगी और समय पर पूरी हो जाएगी। कहना न होगा, काम में स्वाभाविक गति आती गई और अगस्त-सितम्बर तक डॉ. साहब ने इसके आरंभिक दो अध्याय-वैदिक कवियों का सौन्दर्य-बोध, तथा भारतीय दर्शन और सौंदर्य-बोध पूरे कर लिए। मैं एक-एक कैसेट को, जो नब्बे मिनट के होते थे, क्रम से अपने टेपरिकॉर्डर पर सुनता और उन्हें लिखता जाता था, उसके बाद मैंने अपने लिए एक कामचलाऊ आशुलिपिक भी रख लिया जो टेपरिकॉर्डर को, निर्देशानुसार चलाता और रोक देता था। इस प्रक्रिया में मुझे अपने दो टेपरिकॉर्डरों की पांच-छह बार मरम्मत करानी पड़ी क्योंकि एक ही पंक्ति को कई-कई बार सुनना और उसे लिखना, दोबारा सुनकर सामग्री की जांच करना, कोई आसान काम नहीं था। दफ्तर से घर लौटने के बाद देर रात तक हम दोनों यह कार्य करते रहते थे। इस बीच पुस्तक के तीसरे और चौथे अध्याय पर कार्य आरंभ हो गया था। डॉक्टर साहब ने प्रस्तावित योजना के अंतर्गत ही कलाओं के इतिहास पर विस्तार से चर्चा शुरू की और उन्हें लगा कि भारतीय कलाओं के इतिहास पर हिंदी ही क्या, अंग्रेजी में भी कोई व्यवस्थित सामग्री नहीं है। विद्वानों ने अपनी-अपनी विशेषज्ञता के अनुरूप कलाओं के कालखंड-विशेष पर कार्य किया है-लेकिन ऐसे विद्वतपूर्ण कार्यों में भी पूर्वापर संबंध नहीं है और इसमें भारतीय स्रोतों और कलानिधियों की अनदेखी हुई है। इस कमी को

पाटने के लिए एक बार फिर नये सिरे से भारतीय कलाओं और कलाओं के इतिहास से संबंधित पुस्तकों की तलाश शुरू हुई। कला का विद्यार्थी होने के कारण मेरे पास जितनी किताबें थी-उनका और फिर रवीन्द्र भवन स्थित तीनों अकादेमियों के पुस्तकालयों से प्राप्त सामग्री का और उनके निजी संग्रह में उपलब्ध पुस्तकों का उनके इर्द-गिर्द ढेर-सा लगा रहता था। लेकिन वे उन्हीं विद्वानों के मन्तव्य और टिप्पणियों को महत्त्व देते थे-जिन्होंने क्षेत्र विशेष में कार्य किया था और ऐतिहासिक दृष्टि के साथ भारतीय सौन्दर्य दृष्टि को रखने और परखने का कार्य किया था। उनकी स्थापनाओं और विश्लेषण के आलोक में ही उन्होंने स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला और संगीत के क्रमिक इतिहास को अगले दो अध्यायों में स्पष्ट किया।

डॉ. शर्मा ने अपने जीवन के अंतिम कुछ महीनों में इस पुस्तक के साथ अनन्य तादात्म्य स्थापित कर लिया था और उन्होंने कभी नहीं सोचा था कि यही कृति उनके अनवरत लेखन कर्म और चिन्तन-चर्चा का अंतिम-सर्ग सिद्ध होगी।

इधर कुछ वर्षों से उनका हाथ कांपने लगा था और उनकी लेखनी थरथराने लगी थी लेकिन पंक्तियां सीधी और लिखावट एकदम साफ़ होती थी। कांपते हाथों की वजह से ही उन्होंने अपनी अंतिम कुछ विशिष्ट कृतियों-इतिहास दर्शन (के कुछ अंश), भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश (दो खण्डों में) और प्रस्तुत ग्रंथ भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास कैसेट पर बोलकर तैयार करवाया था।

इतिहास दर्शन और अपनी धरती अपने लोग जैसे ग्रंथों की लेखन योजना में जुटने और प्रकाशन संबंधी औपचारिकता पूरी होने के दौरान डॉ. साहब बुरी तरह अस्वस्थ हो गये। अपने अस्वस्थ होने के दोष वे दिल्ली के पानी और यहां फैले प्रदूषण को देते थे। सांस लेने की तकलीफ के बारे में उन्होंने पहले कभी शिकायत नहीं की थी लेकिन उन जैसे मितभोजी, नियमित और अनुशासित चर्या वाले आदमी को अप्रत्याशित रूप से अस्वस्थ होना पड़े-अस्पताल जाकर आपरेशन कराना पड़े-यह उन्हें गवारा न था लेकिन अपने गिरते स्वास्थ्य और इलाज़ के दौरान उन्हें इन तमाम यंत्रणाओं को झेलना पड़ा। तब भी वे अपनी अगली योजनाओं पर मिलने वाले से बातें करते थे। उन्हें पूरी उम्मीद थी कि वे ठीक हो जायेंगे और निर्धारित समयावधि में अपना कार्य पूरा कर लेंगे। अपनी दवाइयों, खान-पान और इलाज़ वग़ैरह के बारे में समय-समय पर और पूछने पर वे बताते भी रहते। अपनी इस अस्वस्थता के चलते उन पर एक बात की पाबंदी लग गई और वह थी-सुबह-शाम खुले में घूमने की और घूमते हुए बतियाने की, अमूमन विकासपुरी के डिस्ट्रिक्ट पार्क में, जो उनके आवास से सौ मीटर की दूरा पर था। डॉक्टरों को डर था कि यदि वे सैर करते हुए कभी गिर पड़ें तो उनकी हड्डी टूट सकती है और फिर सबके लिए परेशानी बढ़ जायेगी।

तब डॉक्टर साहब से उनके आवास पर ही हम लोगों के मिलने का सिलसिला कुछ अधिक हो गया। मैं उनकी ज़रूरत की किताबें अकादेमी से या दूसरे पुस्तकालयों से लेकर उन्हें खुद या फिर अपने बेटों के माध्यम से भिजवा दिया करता। कभी-कभी

प्रस्तावित विषय के अनुरूप यदि कोई मिलती-जुलती किताब या अन्य सूचना मुझे मिल जाती तो वह भी भिजवा देता।

विकासपुरी या दिल्ली के बहुत से इलाकों में, शाम के वक्त बिजली चली जाती है। अपनी दफ्तरी व्यस्तता के कारण और साहित्यिक आयोजनों के चलते भी मैं कभी-कभी चाह कर भी उनके पास जा नहीं पाता था। ऐसी स्थिति में, वे मुझे कभी-कभी पोस्टकार्ड लिख दिया करते थे कि अमुक पुस्तकों का काम पूरा हो गया है-उन्हें मंगवा लो और साथ ही कोई पुस्तक विशेष जुटाने की सूचना भी दे देते।

इस बीच, डॉक्टर साहब के विशिष्ट साहित्यिक योगदान के लिए साहित्य अकादेमी द्वारा उन्हें अकादेमी के सर्वोच्च सम्मान महत्तर सदस्यता से अलंकृत किए जाने की घोषणा हुई थी। इस घोषणा से सारा हिंदी समाज प्रसन्न था। उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर कई आलेख प्रकाशित हो रहे थे और कई साहित्यिक आयोजन भी हो रहे थे। इधर अकादेमी के पदाधिकारीगण यह जानते थे कि डॉ. साहब कहीं आते-जाते नहीं। घोर व्यस्तता से भरे उन दिनों में उनसे कहीं आने-जाने के बारे में कुछ निवेदन करना भी कठिन था। आमतौर पर महत्तर सदस्यता का सम्मान, अकादेमी के अध्यक्ष द्वारा लेखक के शहर में, उनके अपने अंतरंग मित्रों और प्रशंसकों के सान्निध्य में ही दिया जाता है। तो भी रामविलास जी से जुड़ी इस महत्तर सदस्यता का आयोजन कहां हो, इस बात पर सहमति नहीं हो पाई थी। 5 मई 1999 की शाम, विद्वानों और उनके परिवारजन और प्रशंसकों के बीच साहित्य अकादेमी के सभागार में ही इसकी व्यवस्था हो सकती है-इस पर कोई विवाद भी नहीं था। लेकिन वहां तक जाने में और वहां से लाने में, फिर उन्हें इतनी देर तक बिठाए रखना, कष्टकर होगा-यह सब ध्यान में रख कर और उनसे सलाह-मशविरा कर, यह तय हुआ कि उनके घर के एकदम पास, सड़क के उस पार कोई चार बांस की दूरी पर आक्सफोर्ड स्कूल के नेहरू सभागार में उन्हें महत्तर सदस्यता से अलंकृत किया जाए। इस आयोजन में हिंदी के विशिष्ट आलोचक उनके कृतित्व के बारे में अपने विचार भी रखेंगे। अकादेमी के अध्यक्ष, सचिव और कार्यक्रम के संयोजक नाते मैं भी इसमें उपस्थित रहूंगा। आक्सफोर्ड स्कूल की प्रबंध समिति के अध्यक्ष, श्री चन्द्रप्रकाश प्रभाकर, (बर्मी से कई महत्त्वपूर्ण कृतियों के हिंदी अनुवादक और इरावदी प्रकाशन के स्वामी), पिछले कई वर्षों से प्रयत्नशील थे कि कैसे अपने स्कूल में रामविलास जी को बुलाया जाए। अपनी कृतियों के साथ वे उनके घर पर जाकर उनसे मिले भी थे। डॉ. साहब ने उनसे वादा किया था कि वे उनकी रचनाओं के बारे में दो शब्द अवश्य लिखेंगे। तभी आक्सफोर्ड स्कूल के परिसर में आने को बड़े उत्साही दीखें और उक्त आयोजन के समय वहां उत्सव जैसा माहौल था।

डॉ. साहब की तबीयत बहुत अच्छी नहीं थी लेकिन हमारे आनन्द में कोई विघ्न न हो-इसलिए वे इस कार्यक्रम में सोत्साह सम्मिलित हुए। मैं स्वयं उन्हें कार पर बिठाकर सभागार के द्वार तक लिवा लाया था। भाषण आदि के बाद, कार्यक्रम का

प्रवर्तन और प्रशस्ति वाचन मेरे द्वारा ही किया गया था। हिंदी के विशिष्ट लेखकों, साहित्य प्रेमियों के साथ सूचना माध्यम से जुड़े तमाम अधिकारी और पत्रकार भी वहां उपस्थित थे।

इस सभा में अपना विद्वत्पूर्ण वक्तव्य रखनेवालों में हिंदी के मूर्धन्य आलोचक और हिंदी परामर्श मंडल के संयोजक प्रो. डॉ. नामवर सिंह, डॉ. नित्यानंद तिवारी, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, श्री भगवान सिंह आदि थे। अकादेमी के सचिव और अध्यक्ष ने भी अपने विचार रखे। अकादेमी की ओर से डॉक्टर साहब की महत्तर सदस्यता की संस्तुति संबंधी एक परिचय-पुस्तिका उनके स्वीकृति वक्तव्य के साथ छपी थी। लगभग तीन घंटे चले इस आयोजन की थकान डॉक्टर साहब के चेहरे पर साफ़ दीखने लगी थी। गर्मी बहुत अधिक थी। इस तरह के उत्सवी माहौल की गहमागहमी को डाक्टर साहब काफ़ी पहले बहुत पीछे छोड़ आए थे। तो भी अंत में उन्होंने अपनी बात रखी-जिसमें साहित्यिक मूल्यों, संस्कृत और हिंदी समेत समस्त भारतीय भाषाओं के साथ क्रमश: विलुप्त होती जाती बोलियों को जोड़ने की ज़रूरत और उसमें साहित्य अकादेमी की सराहनीय भूमिका पर ज़ोर तो था ही-साथ ही, यह भी अपेक्षा की गई थी कि ग्रियर्सन द्वारा किए गए भारत के भाषा सर्वेक्षण के कार्य को-नये सिरे से करवाये जाने की जरूरत है। अकादेमी जैसी बड़ी संस्था ही इस कार्य को करवाने में सक्षम है। मुझे ऐसा लगा कि यदि डॉक्टर साहब यह कार्य किसी संस्था के वित्तीय सहयोग से, एक अच्छी टीम स्वयं अपने संरक्षण में लेकर करवा पाते तो उनका एक मिशन अवश्य पूरा होता और इस ऐतिहासिक योजना को एक भाषावैज्ञानिक और सर्वथा विश्वसनीय आधार मिल पाता। अपनी पुस्तकों में तो वे भौगोलिक और भाषाधारित राज्यों के गठन या पुनर्गठन के बारे में लिखते ही रहे थे-लेकिन उस दिन किसी की आलोचना किए बिना, एक भाषावैज्ञानिक और समाज-चिन्तक के नाते भाषासर्वेक्षण संबंधी उनका संक्षिप्त वक्तव्य कहीं-न-कहीं उनके असन्तोष और असहायता को व्यक्त कर रहा था। इस कार्य में केवल वित्त ही नहीं, विद्वानों और भाषाविदों के अलावा क्षेत्रीय बोलियों के विशेषज्ञों और शोधकर्ताओं की ज़रूरत है, इससे भी वे अवगत थे।

सप्ताह भर बाद, मुझे यह पता चला कि महत्तर सदस्यता वाले कार्यक्रम की, रात को ही, डॉक्टर साहब की तबीयत बिगड़ी थी और वे ज्वर से भी पीड़ित रहे। मुझे ऐसा लगता है-इसके बाद आने वाले समय में भी वे कभी अपनी स्वाभाविक दिनचर्या और प्रस्तावित कार्य-योजना में समुचित तालमेल बिठा नहीं पाये। स्वास्थ्य संबंधी विकारों से उनके दैनंदिन जीवन में जो भी विचलन आया हो-अपने मिलनेवालों को अब भी वे पर्याप्त समय दे रहे थे। वे अपने स्वास्थ्य के बारे में कोई ऐसी नकारात्मक सूचना नहीं देते थे-जो आगंतुक को बेचैन या परेशान करे। लेकिन मुझे उनके घर जाकर जब यह पता चलता कि वे डॉक्टरी चेक-अप के लिए गए हैं तो मैं समझ जाता कि हमारे अनुरोध पर डॉक्टर साहब महत्तर सदस्यता वाले आयोजन में इतनी लम्बी भागीदारी करते रहे-वह तनाव भी संबंधित कई कारणों में एक कारण अवश्य

रहा होगा। ऐसे में मैं उनसे मिले बिना घर लौट आया करता था। हालांकि मैं अप्रैल के बाद उनसे लगातार मिलता रहा।

डॉ. साहब ने यह तो समझ लिया था कि उनका स्वास्थ्य अब पूर्ववत उनका साथ नहीं दे सकता लेकिन वे जिस अदम्य जिजीविषा के धनी थे, उसी ने उन्हें लगातार चौकस और सक्रिय बना रखा। डॉक्टरों द्वारा दवा और आक्सीजन दिए जाने तथा सुइयां चुभोने के बावजूद उन्हें ऐसा लगता रहा कि वे अगले कुछ दिनों में कम-से-कम इतने स्वस्थ तो ज़रूर हो जायेंगे कि इस पुस्तक को ही नहीं बल्कि अगली योजनाओं को भी देर-सवेर पूरा कर सकेंगे। अपनी आयु के अगले तीन-चार वर्षों के लिए उन्होंने कई योजनाएं बना रखी थीं। इसलिए घर पर उन्हें देखने आने वाले उनके परिजनों, पाठकों, परिचितों और प्रशंसकों को इनके बारे में बताते हुए भी वे यह आभास नहीं होने देते थे कि वे खुद अपने से ही किस तरह जूझ रहे हैं।

कई बार उनसे मेरी उनके कमरे में भेंट भी होती रही। यह कमरा घर के पीछे किताबों से अटा पड़ा था और उनकी देखभाल के लिए उनके बेटे-बेटियां, पुत्र-वधू और नौकर मुस्तैद रहते थे। लेकिन जीवन की ऐसी ही अंतिम तीन-चार शामों में उनसे मिलकर कम कम मुझे तो यही लगने लगा था कि वे अब हमारे बीच बहुत दिनों तक नहीं रहने वाले, नहीं रुकने वाले।

इसके बाद 24 अक्तूबर की शाम मैं उनसे मिला-वे फ़ोन पर किसी से बातें कर रहे थे-और पूरी आत्मीयता के बावजूद सर्दी में भी उनके माथे पर पसीना था और वे कह रहे थे—"अरे भाई फिर कभी-मेरा गला ज्यादा बोलने से सूख जाता है।" लेकिन प्रश्नकर्ता के पास जो लंबी प्रश्नावली थी-वह उसे पूरी की पूरी समाप्त करने की ज़िद के साथ बैठा हुआ था। डॉ. शर्मा ननुनच करते हुए भी उत्तर देते गए-इन उत्तरों से जुड़े कुछेक वाक्यांश जो मेरे जेहन में रह गए थे-उन्हें मैंने बाद में, अपनी डायरी में उतार लिया था।

नवंबर (1999 ई.) में मेरे ससुर जी का निधन हो गया था और मुझे दो-दो बार भागलपुर जाना पड़ा। यह सूचना मेरे बेटे ने उन्हें फोन पर दी थी। डॉ. साहब ने तत्काल मुझे, मेरे घर के पते पर पत्र लिखा जिसमें मेरी पत्नी के प्रति समवेदना प्रकट की गई थी। उन्होंने यह भी लिखा कि जब फुरसत मिले तब मिल लेना। इसी दौरान कबीर संगोष्ठी में भाग लेने के लिए मुझे कलकत्ता भी जाना पड़ा। तब प्रस्तुत पुस्तक पर तेज़ी से काम चल रहा था। स्वाभाविक ही था-कि इस कार्य में थोड़ी शिथिलता आ गई। डॉक्टर साहब मुझे विषय के अनुरूप कभी दो कैसेट्स तो कभी तीन कैसेट्स देते थे और कहते थे-पहले उन्हें काग़ज़ पर उतार कर दिखाओ, अगला कैसेट तभी दूंगा-और वे अगले अध्याय में क्या कुछ लिखने जा रहे हैं-इसके बारे में बताने लगते।

फ़रवरी (2000) के पहले सप्ताह तक किसी तरह सब कुछ ठीक-ठाक चलता रहा। वे प्रस्तुत ग्रंथ की तैयारी में पूरी तरह जुटे थे। अप्रैल-मई 2000 तक इस योजना को पूरा करने के बाद वे किसी दूसरी योजना को अपने हाथ में लेने वाले थे। कबीर

और तुलसी पर अलग से और नई दृष्टि से काम करने की उनकी इच्छा थी। मैं इधर साहित्य अकादेमी की गतिविधियों में, विशेषकर साहित्योत्सव से जुड़े कार्यक्रम के बाद कभी संगोष्ठियों (दिल्ली, वाराणसी तथा जामनगर) तथा प्रकाशन एवं कार्यक्रम संबंधी अन्य व्यस्तताओं में उलझा रहा। अकादेमी के निर्णयानुसार पंत जन्म शताब्दी समापन समारोह के कार्यक्रमों को भी मैं संचालित कर रहा था। लेकिन डॉक्टर साहब से मिले कैसेट्स को हाथ से लिखने और फिर कम्प्यूटर पर कंपोज कराने और पूरे पन्ने की सामग्री के प्रूफ देखकर उन्हें दोहरे आकार में फोटोकॉपी करवा कर उन्हें समय-समय पर भिजवाता रहा। इससे उन्हें सामग्री की जांच करने और हाशिये पर कुछ निर्देश देने में सुविधा होती रहती थी। कुल मिलाकर, वे कार्य की प्रगति से और प्राप्त सुविधाओं से प्रसन्न थे। काम के प्रति उनकी एकाग्रता, अध्ययन और अनुशीलन वृत्ति के तो हम सब प्रशंसक थे। इस योजना के बारे में भी कई विद्वानों और पत्रकारों ने उनसे पूछताछ की थी और कुछ विद्वान संपादक अपनी साहित्य पत्रिकाओं के लिए इस ग्रंथ की तैयार सामग्री का कोई अंश प्रकाशित करने का अनुरोध भी उनसे कर चुके थे। महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति और 'बहुवचन' के संपादक श्री अशोक वाजपेयी, 'रंगायन' के संपादक पीयूष दईया और 'कसौटी' के संपादक श्री नन्दकिशोर नवल के नामों का उल्लेख करते हुए-वे उन्हें वांछित सामग्री भिजवाना भी चाहते थे। श्री दईया को प्रेषित चार कैसेटों के काग़ज पर उतार न पाने या उन्हें कंपोज़ न कर पाने के कारण वे बाद में लगभग तीन महीनों तक बहुत उद्विग्न रहे थे और इस बात का उन्हें पछतावा भी था कि उन्होंने वे चारों कैसेट उन्हें क्यों सौंप दिये। हालांकि बाद में वे कैसेट्स मुझे प्राप्त हो गये थे लेकिन इससे उनके कार्य पर और उनकी योजनावधि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था।

फरवरी 2000 के तीसरे सप्ताह में उनके स्वास्थ्य में फिर थोड़ी गिरावट आई। 16 फरवरी परिवार वालों के साथ एक बेहद सुखद और भरी-पूरी शाम बिताने के बाद 28 फरवरी को उनकी तबीयत अचानक ख़राब हुई और दूसरे ही दिन से उनका इलाज़ शुरू हो गया। इस प्रक्रिया और सेवा में उनके सुपुत्र श्री विजयमोहन शर्मा, जो वरिष्ठ इंजीनियर हैं, लगातार सक्रिय रहे और दिल्ली के बड़े-बड़े अस्पतालों-आल इंडिया मेडिकल साइंसेज और अपोलो में उनका इलाजा करवाते रहे। मैं दूर से ही, उनके बारे में, उनके परिवार के लोगों से उनकी स्वास्थ्य संबंधी सूचनाएं सुनता रहता था—लगभग सभी डॉक्टरों ने उनके गिरते स्वास्थ्य को रोकने की कोशिश को अंतिम प्रयास ही बताया।

विजयमोहन शर्मा जी एक दिन, 22 फरवरी की रात कोई साढ़े आठ बजे मेरे आवास पर आये और कहने लगे, पिताजी की हालत बहुत ख़राब है—उन्हें आपके पड़ोसी डॉक्टर मित्र डॉ. एम.पी. सिंह को दिखाना है। डॉ. सिंह का 'हार्ट केयर सेंटर' मेरे आवास (एम जी-वन/26, विकासपुरी) के ठीक नीचे हैं। इस बीच उन्होंने डॉ. रामविलास जी के आवास (सी 358, विकासपुरी) के पास कोई पचास-साठ क़दम

दूर अपना दूसरा और बड़ा 'हार्ट केयर सेंटर' खोल लिया था, जिसके ऊपर उनका आवास भी है। कुल मिलाकर यह सुविधाजनक ही होता कि डॉ. एम.पी.सिंह की निगरानी में, जहां तक संभव हो-उनका इलाज़ चलता। डॉ. सिंह ने डॉक्टर साहब की तत्काल जांच की और संबंधित दवाइयां दीं। उस रात अपनी शारीरिक पीड़ा और वार्धक्य के बावजूद डॉ. शर्मा ने जिस दिलेरी से डॉक्टर सिंह और फिर दूसरे डॉक्टरों की जांच के दौरान उनकी आज्ञाओं का पालन किया वह मुझे आश्वस्त कर गया कि इस तरह की परेशानियां अस्थायी हैं। 'उफ' करने या 'आह'...भरने जैसी कोई ऊहा डॉक्टर साहब के चेहरे पर नजर नहीं आती थी। कोई पांच-छह दिनों के बाद, डॉ. एम.पी. सिंह मेरे घर के नीचे अपनी क्लिनिक में मिले। उन्होंने बताया, "साहा साहब, ज़मीनी सच्चाई यह है कि डॉ. शर्मा के लिए अब इस कष्ट से उबर पाना लगभग असंभव है। मैंने उनके घरवालों को समझा दिया है कि इस उम्र में उनके हृदय का आपरेशन हो नहीं सकता। दिल के वाल्व सिकुड़ चुके हैं-हृदय में खून का संचार हो नहीं पा रहा है। दवाइयों के भरोसे जहां तक संभव है-उन्हें रोके रखने की कोशिश की जा सकती है। अब वे जैसा चाहें खायें-पीयें... क्योंकि..."

मेरे तो पांव तले की जमीन खिसक गई। यह क्या? तो क्या डॉ. साहब के जीवन का अंत इतने पास है? और न चाहकर भी मुझे विजय जी को यह सब बताना पड़ा। इस बीच वे कई डॉक्टरों से और विशेषज्ञों से ऐसी ही बातें सुन चुके थे। अब मृत्यु की अवश्यंभाविता से कौन मुँह चुरा सकता था? लेकिन इलाज़ से जुड़ी भाग-दौड़, दवाइयों की चक्कर-घिन्नी और तमाम सुविधाओं और परिवार के सदस्यों आत्मीयों एवं प्रशंसकों की प्रार्थना के बावजूद डॉ. साहब का स्वास्थ्य निरंतर छीजता चला गया। देह के साथ उनकी सेहत दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही थी। आंखें धंस रही थी-दृष्टि धुंधली पड़ गई थी-आवाज़ लड़खड़ाने लगी थी-और उन्हें अब एक करवट से दूसरी करवट के लिए भी लोगों की जरूरत पड़ने लगी थी।... उनकी सेवा-सुश्रूषा में, दवा में इलाज़ में कहीं कुछ उठा नहीं रखा गया लेकिन दुनिया भर की सारी उपस्थिति और सुविधाओं के बावजूद सभी यह समझ रहे थे कि अगले कुछ दिन डॉक्टर साहब के लिए बेहद भारी साबित हो सकते हैं।

वे अपनी तमाम ऊर्जा को समेटकर कुछ कहने की कोशिश करते थे और उनकी अस्फुट वाणी में जो संकेत या संदेश निहित होते थे उन्हें पकड़ पाना धीरे-धीरे अबूझ होता जा रहा था। लेकिन उन्होंने अपनी पुस्तक को प्रकाशित होते देखने की मंशा अवश्य संजो रखी थी और वे इस सच को नकार रहे थे कि अब आसन्न मृत्यु उन्हें यह कार्य पूरा नहीं करने देगी। उनका टी.वी. के सामने-अपने पांवों को मेज़ पर फैलाकर, इत्मीनान से क्रिकेट देखना, आगंतुकों को क्रिकेट की बारीकियां और स्कोर के बारे में बताना, आज सुबह बी.बी.सी. पर यह समाचार आया है-फलां संपादक ने यह पत्र लिखा है, वॉयस आव अमेरीका ने डब्लू.टी.ओ. के बारे में क्या कहा है, पता है-जैसी बातें अब सुन नहीं पड़ती थीं। डिस्कवरी चैनल की हिंदी, आर.एस.एस. की गतिविधियां

जैसी नई-पुरानी बहस भी उनके सिवा अब कौन छेड़ सकता था? फरवरी-मार्च 2000 में भारतीय क्रिकेट टीम के बारे में, उन्होंने क्रिकेट से जुड़े स्कैम के बारे में पूछा था—और जब उनके पसंदीदा खिलाड़ी सचिन के बारे में मैंने उन्हें बताया कि उसके नाम कोई 'स्कैम' नहीं जुड़ा है तो इसे सुनकर वे आश्वस्त लगे थे।

कुछ-कुछ अंतरालों के बाद मैं जब भी उनके पास जाता वे मेरा हाथ अपने हाथों में ले लेते और उन्हें देर-सवेर सहलाता रहता। उनकी हथेलियां अब भी स्नेह और वात्सल्य की ऊष्मा से मेरी हथेलियों को थाम लेती थीं। मैंने उनसे पूछा था कि क्या हाथों को सहलाने से उन्हें आराम मिलता है तो वे मुस्कराकर कहते—''आराम तो क्या मिलेगा लेकिन ध्यान ज़रूर बंट जाता है।'' मैं समझ जाता कि वे किस आंतरिक पीड़ा से लड़ रहे हैं। इसी तरह एक दिन उन्होंने हंसते-हंसते यह बताया, 'मैंने अभी-अभी एक स्वप्न देखा है-जिसमें मैंने यह पाया कि मैं मर चुका हूं और मेरे चारों ओर मेरे परिवार के लोग रो रहे हैं। लेकिन जब मेरी आंख खुली तो पाया कि अरे मैं तो अभी जीवित हूं।''

यह सुनकर, मैंने अपनी आंखों में उभरते आंसुओं को रोक लिया था और इस बात के लिए अपने दिल को मज़बूत कर लिया था कि डॉ. साहब हमारे बीच से जाने ही वाले हैं। जिस विद्वान के सामने मैंने कभी किसी वयोवृद्ध लेखक के निधन या किसी लेखक की असामयिक मृत्यु के बारे में जानते हुए भी-कभी उन्हें सूचना तक नहीं दी थी। अब वही कड़वा सच मुझे हैरान कर रहा था और डॉ. साहब अंदर ही अंदर मौत से पंजा लड़ाते हुए-अपनी लड़ाई को स्वयं वाणी दे रहे थे।

अपनी कुछ अंतिम मुलाकातों में जब वे मृत्यु शय्या पर पड़े थे अपने हाथों में मेरा हाथ लिए काफ़ी रुक-रुककर और धीमे-धीमे जो कुछ कहते, उनमें तुलसीदास को केन्द्र में रखकर एक बड़ी पुस्तक तैयार करने की चाह उन्होंने जताई थी। इन दिनों उनके परिवार के लोग देर-सवेर डॉ. साहब के कहने पर रामायण से उनके इच्छित प्रसंगों को पढ़कर सुनाते थे। संभवत: इसीलिए उन्होंने मुझसे यह कहा था कि मुझे तुलसीदास पर एक किताब अलग से लिखनी है। उन्होंने बताया था—''मैं उन्हें कभी-कभी राम से भी बड़ा पाता हूं। तुलसीदास को राम से भी बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी थी।'' और वे मानस के कुछ प्रसंग या चौपाइयों का अस्फुट उल्लेख करने लगते थे-जो मेरी पकड़ से बाहर थे। वे यह समझ रहे थे कि सामने वाला शायद उनकी बात ठीक से सुन नहीं पा रहा है या ठीक से समझ नहीं पा रहा है। इसलिए वे मुस्करा भर देते थे। उनकी वह आत्मीय और धीरे-धीरे विरल होती जाती मुस्कान, उनकी बेबसी और लाचारगी की ऐसी अथक कहानी थी, जो मुझे अंदर तक चीर जाती थी-जिन्हें तब झेल पाना और इतने दिनों बाद फिर से महसूस करना भी बहुत यातनादायक है।

एक दिन शाम को मैं उनकी तबीयत अचानक बिगड़ जाने की सूचना पाकर सीधे अकादेमी से उनके घर भागा-भागा पहुंचा था। उन्होंने मुझे अपने घरेलू नौकर शंकर को बुलाने का बहुत आग्रह किया। मैं इसे टालता रहा क्योंकि वे मुझसे बार-बार चाय

पीने का आग्रह करते रहे। उनके बार-बार कहने पर मैं शंकर को उनके किचन से बुलाकर ले आया। डॉ. साहब ने उसे संकेतों में चाय बनाने और मुझे पिलाने के लिए कहा। यह उनकी मृत्यु के दो सप्ताह पहले की बात है।

जैसा कि मैंने पहले बताया, मेरे उनके घर आने के बाद उनके परिवार के लोग कुछ निश्चिंत हो जाते थे और डॉ. साहब से टूटे-फूटे वाक्य में थोड़ी-बहुत जो बातें होती थीं वही मेरे लिए उनके अंतिम दिनों का प्रसाद था। अपने तकिये के पास रखी एक उल्टी तश्तरी पर चम्मच ठोक-ठोक कर वे अपनी ज़रूरत के समय घरवालों को या फिर शंकर को बुलाया करते थे। उन्हें कभी एक करवट से दूसरी करवट लिटाने के लिए दो-तीन लोगों की ज़रूरत पड़ती थी और उनके चश्मे को बार-बार ठीक करना पड़ता था। उनकी नाड़ियों में गुलाबी ट्यूब घुसा होता और पलंग से लगी मूत्र नली और शीशी टंगी होती। यह सब देखना उस सिंह को किसी यातना पिंजरे में देखने जैसा था, जिसकी उपस्थिति और दहाड़ से कभी सारा अरण्य थर्रा उठता था।

यह मेरा दुर्भाग्य ही था कि मैं अपनी चेन्नई यात्रा के कारण डॉक्टर साहब को हिंदी अकादेमी, दिल्ली सरकार द्वारा प्रदत्त शताब्दी सम्मान के अवसर पर उनके आवास पर उपस्थित नहीं हो पाया था। दिल्ली की मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित ने 27 मई 2000 की शाम उन्हें संवर्धना फलक, शाल आदि के साथ ग्यारह लाख रुपये प्रदान कर सम्मानित किया। हालांकि डॉ. शर्मा ने विभिन्न संस्थाओं से प्राप्त सम्मान या पुरस्कार राशि को न कभी स्वीकार किया और न उसका उपयोग कभी अपने लिए या परिवारजन के लिए किया। आशा है, डॉ. शर्मा की स्मृति में गठित निधि या ट्रस्ट उक्त राशि का उपयोग उनकी स्मृति को बनाये रखने के लिए जल्द ही उपयुक्त संग्रहालय का निर्माण करेगी।

मैंने कई बार डॉ. साहब की आंखों में जमी कीच को तौलिये से पोंछा था, चश्मे का शीशा साफ़ कर उन्हें पहनाया था और उनकी थोड़ी-बहुत सेवा करते हुए यह प्रार्थना दोहराता रहता था कि क्या ईश्वर उन्हें कुछेक साल और नहीं दे सकता! अपने इन कष्टपूर्ण दिनों में और जीवन और मृत्यु की लड़ाई की अंतिम घड़ियों में भी मैंने कभी ग़लती से भी डॉ. साहब को 'हे भगवान' या हे 'हे राम' कहते नहीं सुना। वे किस ईश्वर को मानते थे, किस परमात्मा या परम सत्ता में विश्वास रखते थे-यह मैं नहीं जानता। लेकिन मेरी इच्छा थी कि अपराजेय पौरुष के धनी और अपने जीवन में ही एक गाथा पुरुष बन गए डॉक्टर साहब किसी दिन कमरे के कोने में रखे आक्सीजन के सिलेंडर, सिरहाने रखी दवाइयां, हैंगर से झूलती ग्लुकोज़ की बोतलें और देह में लगी रबड़-ट्यूबों को फेंक कर, किसी देवदार वृक्ष की तरह बांहें फैलाकर उठ खड़े होंगे और अपनी स्नेहभरी मुस्कान से धन्य करते हुए कहेंगे, "हां भाई साहा, बैठो, मेरी किताबें लाये हो न ?"

□

# भारती-भवन का मसीहा

गजानन वर्मा

*पंडित सूर्य नारायण व्यास का जन्म 2 मार्च 1902 को हुआ था और निधन 22 जून 1976 को। अपने जीवन-काल में उन्होंने अपनी जन्म-स्थली उज्जयिनी को उसका गौरव वापस दिलाने के साथ ही भारतीय संस्कृति के संरक्षण में भी अभूतपूर्व कार्य किया था। उनके जन्म शताब्दी वर्ष में उनकी स्मृति में लिखे गए इस लेख में श्री व्यास जी के बहु आयामी व्यक्तित्व के संबंध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराई गई है।*

कभी-कभी कोई सामान्य स्थान, व्यक्ति विशेष की गरिमामय उपस्थिति के कारण तीर्थस्थली, साधनास्थली या ऐतिहासिक स्मारक की संज्ञा धारण कर लोगों की स्मृति में स्थायी रूप से बैठ जाता है। ऐसा ही है स्व. पद्मभूषण, साहित्य वाचस्पति डॉ. सूर्यनारायण व्यास का उज्जैन स्थित घर भारती भवन, जो आज अपने अतीत की गौरवपूर्ण गतिविधियों की कथा समेटे सूना सूना सा रहवासी भवन मात्र है। जिन लोगों ने उन दिनों का वैभव देखा है वे जब उधर से निकलते हैं तो उनके स्मृति पटल पर सारे दृश्य प्रकट हो जाते हैं। आचार्य श्री श्रीनिवास रथ ने अपने संस्मरण में लिखा है- श्री सूर्यनारायण व्यास अपने हस्ताक्षर सू. ना. व्यास के रूप में किया करते थे। उनके बिना आज सारा उज्जैन सूना है। उनके वे हस्ताक्षर आज सारा सूना-सूना पन लेकर भारती भवन पर छाये हुए हैं। व्यास जी व्यक्तित्व का प्रभाव इतना विराट था कि आज भी इस जड़ भवन पर जीवंत छाया हुआ सा प्रतीत होता है।

यह भारती भवन आज से 80 वर्ष पूर्व क्रांतिकारियों का गुप्त रूप से शरणस्थली था। इसका निवासी सशस्त्र क्रांति में भागीदार था। यहां से गुप्त रेडियो स्टेशन संचालित होता था। यह स्थान देशभक्ति का पावन तीर्थ बना, भारतमाता की बेड़ियां काटने की योजना स्थली बनी। क्रांतिकारी साहित्य के प्रकाशन का केन्द्र बना। इन सबके बदले में व्यास जी ने जो पुरस्कार पाया वह था इण्डियन डिफेंस एक्ट के अंतर्गत जेल यातना और सन् 1946 में एक वर्ष की नज़रबंदी। भारती भवन का यह मसीहा जबरदस्त देश भक्त था। क्रांतिकारियों के बीच उसे विश्वस्त सहचर माना जाता था, किंतु रियासत की पुलिस के रिकार्ड में उसे एक खतरनाक राजनीतिज्ञ के रूप में दर्ज किया गया था। भारती भवन का यह एक भीतरी स्वरूप था।

इसका बाहरी स्वरूप रौबदार और आकर्षक था। समाज के हर श्रेणी के लोग साहित्यकार, आलोचक, विद्वान, राजनीतिज्ञ, गायक, कलाकार, अभिनेता, फिल्मकार व्यापारी, उद्योगपति, जमींदार, जागीरदार सभी उनका सानिध्य और आशीर्वाद पाने अथवा उनसे अंतरंग चर्चा परामर्श हेतु यहां खिंचे चले आते थे। ऐसा चुम्बकीय आकर्षण था उनके व्यक्तित्व में। साहित्य और ज्योतिष दोनों ही क्षेत्र में दूर-दूर तक उनकी ख्याति थी। प्रात: 7 से 12 और अपरान्ह् 3 से 6 के बीच वे लोगों से मिला करते थे। मिलने के लिए पर्ची भेजकर समय लेना पड़ता था। भवन के सामने वाहनों की कतार लगी रहती। सारा वातावरण प्रभावशाली होता, पर कोई निराश नहीं जाता था। सभी की समस्या का आत्मीय निदान, समाधान होता था। यह उदारता और बड़प्पन भारती भवन की विशेषता थी।

पं. सूर्यनारायण व्यास साहित्य और ज्योतिष के आकाश में दैदीप्यमान सूर्य की भांति चमके। उनकी कुछ भविष्यवाणियां सही साबित होने से उनकी ख्याति में वृद्धि हुई। पता नहीं उनकी जन्मपत्रिका में कौन-कौन से प्रबल नक्षत्र थे जिन्होंने एक साथ मिलकर उन्हें सारे देश में यश और कीर्ति से सुशोभित किया। उन्हें राजयोग प्राप्त था उनका बृहस्पति प्रबल था। वे स्वयं अपने घर से बाहर बहुत कम जाते थे किंतु उनके यहां राजा-रंक सभी बिन बुलाये चले आते थे और अपनी मनोकांक्षा पूरी कर चले जाते थे। हर व्यक्ति के जीवन में 15-20 वर्ष का एक कालखण्ड ऐसा आता है जिसमें व्यक्ति चहुमुखी उन्नति, यश, कीर्ति, धन, नाम आदि सभी से सम्पन्न हो जाता है।

वागर्थ के सम्पादक श्री प्रभाकर श्रेत्रिय व्यासजी के व्यक्तित्व पर लिखते हुए उन्हें भारतीय संस्कृति के महिमामय प्रतीक कहते हैं। उनका मानना है कि व्यास जी का मूल्यांकन ऊर्ध्वरेखा में करना असंभव है। वे एक साथ ज्योतिषविद् तत्व चिंतक, इतिहास संशोधक, साहित्यकार, पत्रकार, कर्मठ कर्मकर्ता, उग्रक्रांतिकारी हिमशीतल मनुष्य और आत्मानुशासित व्यक्ति थे।

मराठी के सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. करन्दीकर के अनुसार व्यास जी जीवित

विश्वकोश थे।

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने कहा है—*"श्री सूर्य नारायण व्यास ज्ञान और कर्म, अकड़ और नम्रता, विद्वता और साहित्यकता का एक सलोना संगम हैं।"*

पं. सूर्यनारायण व्यास का जन्म 2 मार्च, 1902 महर्षि सांदीपनि वंशावली में हुआ था जिन्होंने भगवान श्रीकृष्ण को उज्जयिनी में विद्या पढ़ाई थी। कदाचित यही कारण है कि व्यास जी के संस्कारों में उज्जैन के प्रति अटूट श्रद्धा भाव रहा। उज्जैन को पुराना गौरव दिलाने के लिए उन्होंने सारे जीवन अथक तपस्या की। वे इस नगरी के लिए समर्पित रहे। उज्जैन को उनकी देन एक कर्मठ व्यक्ति का 'वन मेन शो' है। यदि व्यास जी अटूट लगन के साथ नहीं जुटते तो आज अखिल भारतीय कालिदास समारोह, विक्रम कीर्ति मंदिर, कालिदास अकादमी, शिक्षा अनुसंधान और कला संस्थान आदि का अस्तित्व यहां नहीं होता। ये संस्थान एक अकेले व्यक्ति के पुरुषार्थ के फल हैं। उनकी स्थापना के लिए उन्होंने कितना विरोध झेला, कितना संकट उठाया, यह आम लोगों को मालूम नहीं है। फिर भी अंत में वे अपने लक्ष्य में सफल हुए, यही उनकी कर्मठता का पुरस्कार है। कहा जाता है कि कालिदास स्मृति मंदिर के निर्माणार्थ अंतिम समय में व्यास जी ने लगभग तीन लाख रुपए की जीवन भर की संचित राशि भेंट कर दी थी।

यदि आज ये चीजें उज्जैन में नहीं होती तो उज्जैन पण्डों पुजारियों, मेलों-ढेलों और मंदिरों वाला एक धार्मिक नगर मात्र रह जाता। साहित्य कला और संस्कृति से सम्पन्न इसका पौराणिक व ऐतिहासिक महत्व शून्य में चला जाता। ये वही सूर्यनारायण व्यास थे जिन्होंने विक्रम मासिक पत्र के लिए ग्वालियर महाराज द्वारा दिया जाने वाला अनुदान ठुकरा दिया था। किंतु जब विक्रम विश्वविद्यालय की स्थापना की समस्या आई तो उन्होंने महाराज के सामने अपनी झोली फैला दी। जो काम पं. मदनमोहन मानवीय ने बनारस में और हरिसिंह गौड़ ने सागर विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए किया वही काम व्यास जी ने उज्जैन में विक्रम विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए किया।

बहुत कम लोगों को यह बात मालूम होगी कि अखिल भारतीय कालिदास समारोह जो आज विशाल रूप में सबके सामने होता है इसका लघु रूप में बीजारोपण कई वर्ष पहले हो चुका था। व्यास जी की प्रेरणा और मार्गदर्शन में कुछ उत्साही युवा कलाकार सिंहपूरी और महारामवाड़ा में कंदील लालटेन के उजाले में कालिदास के नाटकों को खेलते, संस्कृत के श्लोकों का पाठ करते और कालिदास के प्रति अपनी भावांजलियां अर्पित करते थे।

व्यास जी, नाम के पीछे कभी नहीं भागे। बस, उन्हें एक ही धुन थी उज्जैन को ऊंचा उठाना। इसके लिए यदि मन में संकल्प ले लिया है तो फिर चाहे जो भी बाधा आवे, सोचे हुए काम को साकार करना ही है। इसी लगन और कर्मठता के परिणाम

हैं उज्जैन के वर्तमान सभी संस्थान।

महाकाल मंदिर में मोजेक टाईल्स, चांदी के पत्तर जड़े द्वार और शिवलिंग के आसपास चांदी के जलधारी सब उन्ही की देन है, लेकिन कहीं भी उसके नाम का पट्ट दिखाई नहीं देता। वे लोगों को अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार प्रेरित कर देते थे कि भक्तगण उनकी भावनानुकूल कार्य की पूर्ति कर देते थे। कौन जान पायेगा कि अवन्ति जनपद के स्वर्णिम अतीत को वर्तमान में डालने के लिये यह जागरुक प्रहरी सदियों बाद यहां अवतरित होकर इतना काम कर गया।

जब उज्जैन में पहला अखिल भारतीय कालिदास समारोह मनाया गया तो उसमें भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पधारे थे। वे अपनी गरिमा के समस्त विधि विधानों को एक तरफ रखकर भारती भवन में महर्षि व्यास की पीठ को नमन करने पहुंचे थे। इन्हीं राष्ट्रपति ने सूर्यनारायण व्यास को पद्मभूषण की उपाधि से नवाजा था। हिंदी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें साहित्य वाचस्पति की उपाधि प्रदान की और विक्रम विश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि की उपाधि से गौरवान्वित किया।

उज्जैन के प्रति व्यास जी के समर्पण की कथा यहीं समाप्त नहीं होती, बल्कि फिल्मों तक उनके द्वारा उज्जैन की महिमा पहुंचती है। बम्बई में तत्कालीन प्रकाश पिक्चर्स के स्वामी और दिग्दर्शक श्री विजय भट्ट व्यास जी के निकट थे और उनके प्रति श्रद्धावनत भी। व्यास जी की प्रेरणा, सुझाव और मार्गदर्शन में उन दिनों दो फिल्मों का निर्माण हुआ था-एक फिल्म थी सम्राट विक्रमादित्य और दूसरी थी महाकवि कालिदास। ये दोनों फिल्में देश में खूब चलीं और सराही गई। इन फिल्मों में व्यास जी के तथ्यपूर्ण सुझावों के साथ उज्जैन के पौराणिक महत्वपूर्ण स्थलों का फिल्मांकन किया गया था।

व्यास जी ने उज्जैन से विक्रम नामक मासिक साहित्यिक पत्रिका के प्रकाशन की शुरूआत जोर-शोर से की थी। यह बात सन् 1940-41 के आसपास की है। इसके संपादन के लिए स्व. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' को बनारस से बुलाया गया था। उग्रजी यहां 2 वर्ष रहे। वह समय देश में स्वाधीनता आंदोलन के उत्कर्ष का था। उग्रजी प्रतिमाह 16 पृष्ठों का संपादकीय विक्रम में लिखते थे। देश की ज्वलंत समस्याओं पर बेबाक तीखी टिप्पणियां होती थी उसमें। इस कारण अल्प काल में विक्रम की ख्याति सारे देश में हो गई और उसे एक श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका का दर्जा प्राप्त हो गया। 16 पृष्ठों के संपादकीय के कारण विक्रम को हिंदी का माडर्न रिव्यू कहा जाने लगा। बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत की सरकारों ने उसे शासकीय मान्यता दी। इससे उसकी ग्राहक संख्या और आमदनी में वृद्धि हुई। लेकिन कुछ ही दिनों बाद एक संपादकीय टिप्पणी से उत्तेजित होकर तत्कालीन मध्य भारत शासन के एक वरिष्ठ मंत्री ने राज्य की शालाओं में विक्रम की वार्षिक ग्राहकी समाप्त कर दी। परिणामस्वरूप विषम आर्थिक संकट पैदा हो गया। इस स्थिति को सुधारने के

लिये उच्चस्तरीय प्रयत्न किये गये। सुझाव आये कि यदि सम्पादकीय के माध्यम से उक्त टिप्पणी पर खेद प्रकाश किया जाए तो शासन पत्रिका को संरक्षण दे सकता है। लेकिन संपादक श्री सूर्यनारायण व्यास ने अपने आदर्श, सिद्धांत और स्वाभिमान की रक्षा के साथ सभी प्रलोभनों को ठुकराकर विक्रम का प्रकाशन बंद करना ज्यादा उचित समझा।

व्यास जी उज्जैन से एक अखिल भारतीय स्तर का दैनिक समाचार पत्र निकालने का स्वप्न भी संजोए हुए थे। उन्होंने इस संबंध में कई साधन संपन्न व्यक्तियों की नब्ज टटोली, पर काम नहीं बन सका। मुख्य बाधा यह थी कि निकट ही एक औद्योगिक नगर इंदौर होने के कारण वहां के लोगों की मानसिकता इंदौर को छोड़ उज्जैन को महत्व कैसे दे सकती थी। अत: उनका यह सपना साकार न हो सका।

व्यास जी कट्टर देशभक्त, स्वाभिमानी, अनुशासन प्रिय और स्वदेशी वस्तुओं के समर्थक थे। उन्होंने जीवन भर खादी धारण की। यहां तक कि उनके लेटर फार्म भी स्वदेशी काग़ज पर छपे होते थे। वे प्राय: अपने अंतरंग परिचितों कुटुम्बियों को मालवी भाषा में पत्र लिखा करते थे। वे बड़े विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। पान खाने का उनको बड़ा शौक था। सबको अपने हाथ से पान बनाकर खिलाते। यदि कोई व्यक्ति किसी कारण पान खाने से मनाकर देता तो वे नाराज हो जाते थे। उनका सेवक नानूराम प्रतिदिन 100 कपूरी पांन गोपाल मंदिर चौक से खरीदकर लाता था। उनकी टेबल पर गीले टाट में लिपटे पान, कत्था और चूना रखा रहता। लोंग, इलायची, सुपारी भरी एक मुरादाबादी नक्कासीदार खुशनुमा डिबिया पड़ी रहती थी।

उन दिनों व्यास जी की लिखी एक पर्ची पर जरूरतमंद व्यक्ति को नौकरी मिल जाती थी। शासकीय, अशासकीय सभी अधिकारियों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों तक उनका प्रभाव था। उनके इस परोपकारी और निस्वार्थ स्वभाव ने सैकड़ों युवाओं को जीविका की समस्या से मुक्त किया था। मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है-यह आदर्श व्यास जी के जीवन का मंत्र था।

उज्जैन और उसकी गौरव गरिमा के लिए जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन होम कर दिया उसके नाम पर आज तक न तो कोई प्रतिमा स्थापित की गई है, न किसी सड़क का नाम उनकी स्मृति में रखा गया है और न कोई डाक टिकट ही प्रचलित हुआ है। उज्जैन और देश की जनता तथा सरकार की इससे बड़ी कृतघ्नता और क्या हो सकती है। लज्जा का विषय है कि जहां इन सभी का दायित्व बनता है वहां आज उनके पुत्रों को उनके पिता की गौरवशाली स्मृति को जीवित रखने के लिए दौड़ भाग करनी पड़ रही है। किसी समय उज्जैन नगर निगम ने उनके नाम से उद्यान व सड़क की घोषणी की थी, वह आज तक कार्यान्वित न हो सकीं। भूलना और अवहेलना करना हम भारतीयों का गुण है। यही नहीं, मध्य प्रदेश के पूर्व मुख्य मंत्री श्री अर्जुन सिंह ने एक बार घोषित किया था कि व्यास परिवार को मिलने वाली पेंशन में वृद्धि कर

दी जाएगी, वह घोषणा भी ठण्डे बस्ते में गुम हो गई ऐसा बताया जाता है।

हम भर्तृहरि, विक्रमादित्य या वराहमिहिर आदि के नाम पर समारोह करते हैं, किंतु सूर्यनारायण व्यास स्मृति समारोह के नाम से अलग कोई समारोह उज्जैन में नहीं होता। हां, कालिदास समारोह के अवसर पर निबंध पाठ के रूप में अवश्य व्यास जी को थोड़ा बहुत याद कर लिया जाता है। विदेशों में भारत जैसी मानसिकता नहीं है। वे अपने देश के साहित्यकारों कलाकारों के लिए अपनी जान छिटकते हैं। उनके यहां इसे राष्ट्रीय गौरव माना जाता है। शेक्सपियर को इग्लैंड किसी कीमत पर भुलाता नहीं- उसे सर्वोच्च स्थान देता है। ऐसी भावना हमारे खून में नहीं पायी जाती। हम चार दिन की चांदनी का मजा लेकर अंधेरे में खो जाते हैं।

जो सूर्य कभी उज्जैन के आकाश पर प्रखरता के साथ चमका था, समय के परिवर्तन ने उसकी प्रखरता धीरे-धीरे कम करना शुरू कर दिया। बलवान समय ने दुख, बीमारी और दरिद्रता के बाद आकाश पर फैला दिए। स्वाधीनता के बाद देशी राजा महाराओं का प्रभाव धीरे-धीरे घटता गया। व्यासजी की ज्योतिष-आधारित आय के स्रोत सूखने लगे। आर्थिक संकट और रुग्णता ने उनकी शारीरिक ऊर्जा को समाप्त कर दिया वे टूट गये। उनकी कार गेरेज में चली गई, टेलीफोन की घंटी खामोश हो गई। आने जाने वाली भीड़ घटती गई। यह कोई नई बात नहीं है। समय चक्र में सभी जगह सभी के साथ यह घटता है। सुख और स्वार्थ के साथी तो सब होते हैं, पर दु:ख के समय लाभ उठाने वाले भी किनारा कर लेते हैं। अपनी बीमारी के समय जीवन के अंतिम दिनों में तत्कालीन कलेक्टर श्री समर सिंह ने उनके उपचार हेतु शासकीय अनुदान का जब प्रस्ताव रखा तो व्यास जी ने अपने जन्मजात स्वाभिमान के साथ एक झटके में से उसे अस्वीकार कर दिया। सारा जीवन वे अपने बलबूते पर जीए और कभी किसी के सामने दैन्य प्रकट नहीं किया। अत: जिस शान से जीए उसी शान से इस संसार को छोड़ गए। उनका निधन 22 जून 1976 को हुआ। आज वे इतिहास-पुरुष के रूप में हमारे बीच हैं।

□

# कश्मीर के कृष्ण-भक्त कवि परमानंद

डॉ. शिबनकृष्ण रैणा

***भक्ति, ज्ञान और प्रेम की रसधारा से कश्मीरी काव्य को सिंचित करने वाले कृष्ण भक्त कवि परमानंद को कश्मीरी भक्ति साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त है। इनकी कविता में धर्म और कर्म का सुन्दर उन्मेष, संसारिकता, जीवन की सार्थकता एवं मानवीय चेतना के आध्यात्मिक विस्तार का सफल सुंदर निरूपण मिलता है।***

कश्मीरी साहित्य का आरंभ प्रसिद्ध संत कवयित्री ललद्यद से होता है। यह बात 14 वीं शताब्दी की है। ललद्यद से पूर्व कश्मीरी में रचित (शितिकंठ के महानयप्रकाश को छोड़कर) किसी अन्य साहित्यक कृति या साहित्यकार का उल्लेख नहीं मिलता। ललद्यद का वाक्-साहित्य दार्शनिक चेतना का आगार है जिस पर शैव, वेदांत तथा योगदर्शन की छाप स्पष्टतया अंकित मिलती है। ललद्यद ने जिस भक्ति को अपनी काव्य-साधना का माध्यम बनाया, वह निर्गुण भक्ति थी। आगे चलकर 16 वीं शती के आसपास कश्मीरी कविता धर्म-दर्शन के नीरस वायु मंडल से निकलकर प्रेम व सौंदर्य के स्वच्छंद वातावरण में सांसें लेने लगी। हब्बा खातून, अरणिमाल, ख्वाजा हबीब अल्लाह नौशहरी आदि इस काल की कविता के उल्लेखनीय कवि हैं। 1750 ई. से 1900 ई. तक जो काव्य-रचना हुई उसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग के अंतर्गत वह काव्य आता है जिसका मूलाधार सूफी दर्शन है। इस काव्य-वर्ग के कवियों ने फारसी काव्य पद्धति का अनुसरण किया तथा कश्मीरी में फारसी मसनवियों के आधार पर अनेक प्रेम-काव्य लिखे। ये सभी कवि

प्राय: मुसलमान थे। इनमें उल्लेखनीय हैं—स्वच्छक्राल, महमूद गामी, वली अल्लाह मत्तू, मकबूल शाह क्रालवारी, शमस फकीर आदि। दूसरे भाग के अंतर्गत वह काव्य आता है जिसका मूलाधार कृष्णभक्ति व रामभक्ति है। इस काव्य-वर्ग के कवियों ने भारतीय काव्य-पद्धति का अनुसरण किया तथा कृष्ण एवं राम संबंधी चरित्-काव्यों को कश्मीरी में वाणी दी। ये कवि प्राय: हिंदू थे जिनमें उल्लेखनीय हैं-कविवर परमानंद, कृष्ण राजदान, लक्ष्मण रैणा बुलबुल, प्रकाशराम आदि। भक्ति, ज्ञान और प्रेम की रसधारा से कश्मीरी काव्य को संचित करने वाले कृष्ण-भक्त कवि परमानंद को कश्मीरी भक्ति साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इनकी कविता में धर्म और कर्म का सुंदर उन्मेष तथा संसार की असारता, जीवन की सार्थकता एवं मानवीय चेतना के आध्यात्मिक विस्तार का सफल-सुंदर निरूपण मिलता है। इनका अधिकांश कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत है। कवि ने कृष्ण चरित् का उपयोग भक्ति के रागात्मक स्वरूप एवं मानवीय दर्शन के अंतर्गत किया है जो सगुण-निर्गुण के भेद से ऊपर है।

कविवर परमानंद का वास्तविक नाम नंदराम था। इनका जन्म 1791 ई. में अमरनाथ तीर्थ के मार्ग में पड़ने वाले प्रसिद्ध धार्मिक स्थान मटन के निकट एक छोटे से गांव सीर में हुआ था, पिता का नाम कृष्ण पंडित तथा माता का नाम सरस्वती था। डॉ. शशिशेखर तोषखानी के अनुसार मटन कुंड का झलमल जल और पास की अनेकानेक जल-धाराएं, चीड़ वन और छनकर आती हुई हवा, ऊंचे, गिरि शिखर, शांत प्रकृति इस परिवेश में नंदराम के व्यक्तित्व के कवि और विरक्त संत, इन दोनों रूपों को विकास का उपर्युक्त वातावरण मिला। शिक्षा उन्होंने फारसी मकतब में किसी मुल्ला से पाई थी और जो दल-के दल साधु, संन्यासी और तीर्थयात्री मटन आया करते थे उनके संपर्क में आकर परमानंद का परिचय महाभारत, भागवत, शिवपुराण तथा वेदांत दर्शन से हुआ। उत्तर भारत में वैष्णव संत-कवियों की वाणी, कबीर और सिक्ख गुरुओं के शब्द और साखियों से लेकर सूर के पदों तक इसी माध्यम से उनके पास पहुंचे।... पच्चीस वर्ष की आयु में परमानंद अपने पिता के बाद गांव के पटवारी बने पर कबीर की तरह "मन लागो यार फकीरी में" का भाव लेकर वे पटवारी का बोझ घर चलाने भर के लिए जैसे-तैसे संभाले रहे।

परमानंद के पिता कृष्ण पंडित ने उनकी शादी बाल्यकाल में ही मालद्यद नाम की एक लड़की से कर दी। परमानंद जितने सरल और शांत स्वभाव के थे, उनकी पत्नी मालद्यद उतनी है कर्कश और उग्र स्वभाव की थी। गृहस्थ-सुख से वंचित रहने के कारण परमानंद ज्यादातर साधु-संतों की संगत में रहते। परमहंस स्वामी आत्मानंद जी के साथ इनका काफी समय बीता और उनके संपर्क में रह कर वेदांत का पूर्ण अध्ययन किया। एक सिक्ख साधु के सान्निध्य में रहकर उन्होंने गुरु ग्रंथ साहब का भी अध्ययन किया। कहते हैं परमानंद के जीवन के अंतिम वर्ष शारीरिक और मानसिक कष्ट में बीते। दो पुत्रों की अकाल मृत्यु ने उनके दिल को ऐसी चोट पहुंचाई

जिसे वे झेल न पाए। अपनी लड़की के पुत्र को गोद लिया, और अपने स्वभाव और रुचियों में वह कवि से इतना भिन्न था कि परमानंद उससे वह भावानात्मक संबंध न बना सके जिसकी उन्हें अकेलेपन में आवश्यकता थी। बढ़ती हुई वृद्धावस्था और तद्जनित शारीरिक अशक्तता के कारण उनकी आंखों की रोशनी कम और श्रवण-शक्ति क्षीण हो गई। अपनी असहाय स्थिति का मार्मिक वर्णन कवि ने फारसी में रचित इन पंक्तियों में किया है—

*हमें गुफ्तम खुदावंदा करमकुन*
*नमे गुफ्तम खुदावंदा करम कुन,*

(हे खुदा! मैंने तुमसे कहा था कि मुझपर करम (कृपा) करो। यह तो नहीं कहा था कि मुझे बहरा बना दो।)

''परमानंद के जीवन के एकाकीपन की व्यथा को बहुत कुछ उनके प्रतिभावान शिष्यों ने पाट दिया जिनमें लक्ष्मण रैणा बुलबुल जैसे कवि तथा नारायण मूर्चगर (मूर्तिकार) जैसे चित्रकार थे। इन्हीं के बीच भजन गाते- बजाते हुए इस कवि ने कश्मीरी को अपनी महान काव्य-कृतियां दीं।' (डॉ. तोषखानी)

परमानंद की काव्य-प्रतिभा उनके युवाकाल से ही विकासोन्मुखी रही। प्रारंभ में उन्होंने ''गरीब'' उपनाम से फारसी में कार्यरचना की और बाद में कश्मीरी को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। बीज-बीज में मौज में आकर पंजाबी, ब्रज और खड़ी बोली के अटपटे सम्मिश्रण, जिसे उन्होंने ''भाखा'' की संज्ञा दी है, मैं भी उन्होंने कुछ गीत लिखे, जो काफी दिलचस्प हैं।... कालक्रम की दृष्टि से परमानंद के काव्य को विभिन्न वर्गों के अंतर्गत विभाजित करना उसके मूल्यांकन के लिए विशेष सहायक नहीं हो सकता क्योंकि स्पष्ट संकेत-सूत्रों के अभाव में इस बात का निर्णय करना असंभव है कि कवि ने कौन-सी रचना कब लिखी। पर काव्य-मूल्यों की दृष्टि से परमानंद के कृतित्व के श्रेष्ठतम अंशों को सरलता से अधोरेखित किया जा सकता है। उनकी प्रतिभा का पूर्ण प्रतिफलन उनकी तीन काव्य-कृतियों—''राधा-स्वयंवर'', ''सुदामा-चरित'' और ''शिव लग्न'' के अतिरिक्त 'पेड़ और छाया'', ''कर्मभूमिका'', ''सहज व्यचार'' जैसी स्फुट कविताओं तथा प्रतीकात्मक रचनाओं में देखा जा सकता है।

''कृष्ण चरित'' पर आधारित राधा -स्वयंवर शीर्षक काव्य-रचना में कविवर परमानंद की अद्‌भुत कवित्व शक्ति एवं अनन्य भक्ति-भावना का परिचय मिल जाता है। लगभग 1400 छंदों वाली इस वृहदाकार काव्यकृति में, जो कृष्णचरित संबंधी विविध आयाम उभरे हैं, का मूलाधार भागवत पुराण का दशम-स्कंध है। संपूर्ण काव्य एक आध्यात्म-रूपक बन पड़ा है। कृति के प्रारंभ में ही कृष्ण को ''चित्-विमर्श देदीप्यमान भगवान'' कहकर कवि ने पात्रों और कथा सूत्रों के प्रतीकात्मक स्वरूप को उद्‌घाटित किया है—

*गोकुल हृदय म्योन तति चोन गूर्यवान*
*च्यत विर्मश दीप्तीमान भगवानो...*
*हृदय मेरा गोकुल*
*विचरती जहां तेरी गायें हैं,*
*गोपियां हैं मेरे मन की वृत्तियां*
*पीछे-पीछे जो तेरे दौड़ पड़ती हैं...*
*हे चित्त-विमर्श देदीप्यमान भगवान्।*

''राधा-स्वयंवर'' में वर्णित मुख्य प्रसंग इस प्रकार है-कृष्ण और राधा का जन्म, गोचारण करते एक-दूसरे पर मुग्ध हो जाना, किशोरनुराग का वर्णन, वनलीला, मुरली वादन, रास क्रीड़ा, गोपिका चीरहण, मां द्वारा बिटिया को झिड़कना किंतु मुरली की धुन सुनते ही बेटी से पहले दौड़ पड़ना, राधा की सगाई, राधा और रुक्मिणी का सामंजस्य आदि इन सभी कथा-प्रसंगों से होती हुई काव्यकृति की परिणति राधा-कृष्ण के परिणय में हो जाती है और अपने शीर्षक ''राधा-स्वयंवर'' को सार्थक करती है।

''राधा स्वयंवर'' में परमानंद की काव्य प्रतिभा और उनकी कवित्व शक्ति की उत्कर्षता पाठक को बरबस अभिभूत कर लेती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है। लोकापवाद के भय से मां अपनी बेटी राधा को टोकती है—

राधा से मां बोली—

*बिटिया लाज रखो मां की*
*नहीं तो तात से पिटवाऊंगी तुमको,*
*बोली राधा*
*मां, भोली हो तुम*
*कौन है किससे खेल रहा*
*वहां तो कोई भी नहीं बिन कान्ह।*
*कान्ह ही ग्वालबाल और बालाएं*
*कौन वहां जो कान्ह नहीं*
*लोग यों ही बातें उड़ाएं...।*
*मुरली नाद उठा इतने में*
*दूर-दूर और निकट-निकट,*
*बौराई मां और निकल पड़ी बिटिया के पीछे-पीछे...।*

''राधा-स्वयंवर'' में श्रीकृष्ण और राधा के विवाह का वर्णन अतीव सजीव बन पड़ा है।

राधा को कवि ने प्रकृति का प्रतीक और कृष्ण को पुरुष का प्रतीक माना है। इस विवाह का प्रबंध करने के लिए प्रकृति की विभिन्न शक्तियां योगदान करती हैं—

*वाव लूकपाल द्राव लछ डुवनावान*
*इंद्राज़अ वथ लिव नावान,*
*बसंत रंग-रंग पोश वथरावान*
*सिरिय चंद्रम हृदयथ शमा चरागान...।*

(वायुदेव स्वयं मार्ग साफ करने लगे। इंद्रदेव पानी का छिड़काव करने लगे तथा वसंतदेव मार्ग पर रंग-बिरंगे फूल बिछाने लगे। सूर्य और चंद्र देव ने अपने प्रकाश से सकल दिशाओं में जगमगाहट कर दी। यामिनी देवी के हाथों में मेघ-छतरी सुशोभित हो रही थी तथा पक्षी अपने पंखों से आकाश में पंखा झल रहे ते। जैसे ही बारात वृषभानु के घर पहुंची तो वहां के सभी लोग बारात का स्वागात करने के लिए निकल पड़े। घर के भीतर अग्निदेव भांति-भांति के पदार्थ तैयार करने में लगे हुए थे जिन्हें स्वादिष्ट बनाने के लिए अमृतरस का प्रयोग किया जा रहा था।)

परमानंद की दूसरी महत्वपूर्ण कृति है "सुदामाचरित"। 250 छंदों वाली इस अपेक्षाकृत लघु काव्य-रचना में कृष्ण की बाल-लीलाओं, ग्वालिनों की यशोदा से शिकायत, मीत सुदामा का विपदाग्रस्त जीवन, मीत की याद, अनुग्रह, मित्र-मिलन आदि का वर्णन है। "राधा-स्वयंवर" की तरह इस काव्य-कृति में भी एक आध्यात्मिक रूपक की परिकल्पना की गई है। डॉ. तोषखानी के शब्दों में-"एक महत भाव, एक दार्शनिक विच्रार-सूत्र राधा स्वयंवर की तरह तरह सुदामाचरित के केंद्र में भी स्थित है और संपूर्ण काव्य में रक्तवाहिनी नाड़ियों की भांति उपनी ऊर्जा संचारित करता है। ईश्वर और मनुष्य, जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर नैकट्य की एक मैत्री-संबंध के रूप में परिकल्पना परमानंद से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व सूरदास ने भी की थी और बीसवीं शती के जर्मन कवि रिल्के ने भी। परमानंद के अनुसार दोनों से पार्थक्य अथवा दूरी की प्रतीति का कारण जीव का अहंभाव है। पार्थक्य का बोध पृथक इच्छा का परिणाम है, अन्यथा जीव का परमात्मा से अभेद है। जब सद्बुद्धि (सुशीला) की प्रेरणा से सुभेच्छा का उन्मेष होता है तो जीव (सुदामा) पुन: ईश्वर की ओर अपनी यात्रा आरंभ करता है और सभी दु:ख का अवसान हो जाता है। रूपक और अन्योक्ति परमानंद की प्रिय तकनीक है। सुदामाचरित में इस तकनीक के प्रयोग द्वारा कवि ने कृष्ण-सुदामा मैत्री प्रसंग को आत्माबोध का आध्यात्मिक धरातल प्रदान किया है। सतह से गहरे अर्थों की ओर ले जाने का परमानंद का यह प्रयत्न उनके काव्य की एक बड़ी विशिष्टता है। सुदामाचरित को यह बात एक महत्वपूर्ण काव्य कृति बनाती है। इसमें उनके काव्य की एक बड़ी विशिष्टता है। इसमें कृष्ण और सुदामा अपने सहज व्यक्तित्वों को बनाए रखते हुए भी प्रतीक पात्रों के रूप में कथा को गति और अर्थ प्रदान करते हैं।

"सुदामा चरित" मुख्यतया भगवान श्रीकृष्ण और उनके बाल सखा सुदामा के सम्मिलन की प्रसिद्ध घटना पर आधारित है। इस काव्य कृति में आध्यात्मिकता के भी

दर्शन होते हैं। साधक (सुदामा) अविद्या के कारण साध्य (श्रीकृष्ण) से विमुख हो जाता है तथा अनेक प्रकार की दुविधाओं में उलझ जाता है। आत्मबोध हो जाने पर वह साध्य को पुन: प्राप्त कर लेता है। भगवान श्रीकृष्ण और सुदामा के मिलन-प्रसंग को चित्रित करने में परमानंद का कवि-हृदय यों विभोर हो उठा है—

*वुनि ओस वातनय द्वारिका मंदरो*
*सखिरित रुद्मुत शामसंदरो,*
*ब्रोंठ नेरि यारस त सूल्य रूकमनी*
*अथन ह्यथ पोशमाल दोनवय बअच...।*

(अभी सुदामा द्वारिका पुरी पहुंचे भी न थे कि भगवान श्रीकृष्ण रुक्मिणी समेत उनके स्वागत के लिए तैयार हो गए। दोनों पति-पत्नी के कर कमलों में पुष्पमालाएं सुशोभित हो रही थी। श्रीकृष्ण रुक्मिणी से कहते हैं-आज मेरा पुराना मित्र आ रहा है, क्या तुम्हें प्रसन्नता नहीं हो रही? जो कोई भी भगवान को पाने के लिए एक कदम बढ़ाता है, भगवान उसे प्राप्त करने के लिए दस कदम आगे बढ़कर आते हैं। उनके नैकट्य में आने पर वे भी दोनों पति-पत्नी आनंदित होकर हड़बड़ाते हुए नंगे पांव भागे। आगे-आगे श्रीकृष्ण थे और पीछे-पीछे रुक्मिणी जी। भगवान को देख भक्त सुदामा ने अपने आप को श्रीकृष्ण की बांहों में सौंप दिया। दोनों को ऐसा लगा मानों स्वप्न देख रहे हों। भगवान सुदामा को अपनी गोद में बिठाकर अंदर महल में ले आए। रुक्मिणी जी ने उनके पैर थामे थे। तत्पश्चात् भगवान ने सुदामा के हाथ-पैर धोए क्योंकि उसने सच्चे मन से भगवान के नाम की माला जपी थी। तब भगवान सुदामा की फटी-पुरानी गुदड़ी को टटोलने लगे, वैसे ही जैसे कोई योगी परम तत्व को टटोलता है। दो बार भगवान ने तंडुल अपने मुंह में डाले और तीसरी बार रुक्मिणी ने हाथ पकड़ लिया। सुदामा यह सबकुछ चकित होकर देखने लगे। उन्होंने चारों ओर नज़र दौड़ाई और लगा जैसे वहां पर कोई न हो, केवल भगवान ही सर्वत्र व्याप्त हों...।)

"सुदामाचरित्र" के ही अंतर्गत श्रीकृष्ण जन्म-प्रसंग यों वर्णित हुआ—

*गटि मंज गाश आव चान्ये जे नय*
*जय जय जय दीवकी नंदनय।*

(तेरे जन्म लेने पर अंधकार प्रकाश में बदल गया। हे देवकी-ननंदन! तेरी जय-जयकार हो। तू देशकाल से परे तथा अगोचर है किंतु फिर भी तेरे जन्म लेने से सभी का मन आनंदित हो रहा है। यशोदा ने तेरे ऊपर फूलों की वर्षा की तथा सभी ने तुझे गोद में उठा-उठाकर झुलाया। सकल गोप-गोपिकाएं यशोदा के पुत्र-जन्म पर बधाई देने के लिए आई। कृष्ण को देखकर वे उसकी चिरायु की कामना करने लगीं। पूरे नगर में खुशियां मनाई गई...।)

"शिवलग्न" परमानंद की तीसरी काव्यकृति है जिसका प्रतिपाद्य पार्वती-परिणय है। 280 छंदों में निबद्ध इस प्रबंधात्मक कृति में भी अन्योक्ति का प्रयोग हुआ है। कवि के अनुसार शिव और शक्ति क्रमशः पुरुष और प्रकृति के प्रतीक हैं और इन्हीं के संयोग से इस सृष्टि का निर्माण हुआ है।

प्रबंध काव्य-रचनाओं के अतिरिक्त परमानंद ने स्फुट कविताएं भी लिखी हैं जिनमें कुछ प्रमुख हैं- कर्मभूमिका, पेड़ और छाया, अमरनाथ यात्रा, सहज-विचार आदि। स्फुट कविताओं में कवि ने तत्व-ज्ञान की बड़ी ही सटीक और गारगर्भित व्याख्या की है। इन कविताओं को पढ़ने के उपरांत ज्ञात होता है कि परमानंद वास्तव में उच्चकोटि के तत्वद्रष्टा थे। अपने जीवन के चिरकालीन अनभवोपरांत ही वे ऐसी व्याख्याएं प्रस्तुत कर सके हैं। उनकी पैनी जीवन-दृष्टि से संयुक्त दो पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

*कर्म बूमिकायि दीजि दर्मकु सग*
*संतोष ब्यालि बवि आनंदुक फल।*

(कर्मरूपी भूमि में संतोष के बीज का धर्म के पानी से सींचने पर जो प्राप्ति होगी, वह आनंदरूपी फल होगा।) पूर्व में कहा जा चुका हैं कि परमानंद हिंदी में भी कविताएं करते थे। इनकी हिंदी कंविताओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

श्रीकृष्ण का जन्म होने पर भगवान शंकर के मन में उन्हें देखनने की इच्छा हुई। वें एक योगी का रूप धारणकर तथा हाथ में भिक्षा-पात्र लिए गोकुल गांव की ओर चल दिए-

*भिख्या मांगन सांग बनायो, आयो सदासिव गोकुल में।*
*दर्शन करने को ध्यान धरायो, आयो सदाशिव गोकुल में।*
*नंगे सिर और नंगे पैर, नंदेश्वर का सवारी था,*
*अंग में भस्मा भभूत चढ़ाए, आयो सदाशिव गोकुल में।*
*हाथ में त्रिशूला, कान में मुंदरा, सुदर मुख को करा कराल,*
*घंटा शब्द और शंक बजायो, आयो सदाशिव गोकुल में।*
*गल में नागेंद्र, हारा पग में, जल में जैसे उठी तरंग,*
*गोकुल में भूकंप मचायो, आयो सदाशिव गोकुल में...।।*

परमानंद की हिंदी कविताओं में पंजाबी शब्द-प्रयोग का आधिक्य है। कहीं-कहीं पर कवि ने कश्मीरी, हिंदी तथा पंजाबी भाषाओं के मिश्रित रूप में कविताएं की हैं-

*ना तुम देखो कृष्ण श्यामा*
*पतिया हमारा पारा लूको,*
*बाजीगर ने बाजीगरी की*

*जिगर हमारा पारा लूको।*
*आखूंगा हम ना कह सकूंगा*
*ना कहूं तो मर जाऊंगा,*
*रिस के नसना, उसका हंसना*
*चोरों का अलंकारा लूको...॥*

कविवर परमानंद के कुछ चित्र कश्मीर में उपलब्ध हैं जिनसे उननके भव्य व्यक्तित्व का भान होता है। उनकी आंखें चमकीली तथा नाक उभरी हुई थी। ललाट प्रशस्त तथा देह गठीली थी। परमानंद के दो पुत्र हुए थे किंतु दोनों का निधन अल्पायु में ही हुआ। अपनी दीन-हीन स्थिति का उल्लेख कवि ने एक स्थान पर यों किया है-

*कुन तअ कीवल, सोरमुच आश,*
*नअ पुतुर तअ नअ रूदमुत गाश।*

(मैं अकेला रह गया हूं। मेरी आशाएं मिट गई हैं। नि:संतान हूं तथा आंखों की ज्योति भी समाप्त हो गई है।)

कश्मीरी साहित्य के ये महान कृष्ण-भक्त कवि सन 1879 ई. में दिवंगत हुए।

□

# उग्र द्रष्टा, परमस्त्रष्टा : मुक्तिबोध

देवशंकर नवीन

*कवि मुक्तिबोध की अपनी ही पंक्तियां हैं, "मेरे बाल-मन की पहली भूख सौंदर्य और दूसरी विश्व मानव का सुख दु:ख इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि कि अनेक आन्तरिक द्वन्दों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका।"*

किसी भी बड़े कवि का बड़प्पन इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने आस-पास से कितना परिचित है और इसके लिए कितना चिंतनशील है, उसका जनसंबंध कितना वास्तविक और बुनियादी है, उसके सामाजिक सरोकारों और मानवीय संवेदनाओं का धरातल कितना ठोस है!...इस मामले में युगचेता कवि गजानन माधव मुक्तिबोध का कोई जवाब नहीं! मध्यप्रदेश के श्योपुर (ग्वालियर) में 13 नवम्बर 1971 को इनका जन्म हुआ और 11 सितम्बर 1964 को निधन। मात्र 46 वर्ष और 10 महीने की आयु इनके हिस्से में आई। लगभग अठारह वर्ष की आयु से इन्होंने कविता लिखना शुरू कर दिया था। यद्यपि उस समय इनकी कविताएं श्रृंगार और प्रेमपरक हुआ करती थी। पर, उनमें समय के तल्ख अनुभवों की एक बड़ी दुनिया दिखाई देती है।

कवि मुक्तिबोध की अपनी ही पंक्तियां हैं, 'मेरे बाल-मन की पहली भूख सौंदर्य और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुख इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम

था कि इन अनेक आन्तरिक द्वंद्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका।'

मुक्तिबोध का यही द्वंद्व इनके रचना संसार की खूबियों को उत्कर्ष देता है। कवि ने अपनी जिन दो भूखों की चर्चा की और उनके संघर्ष को अपने साहित्यिक जीवन की उलझन बताई है, वह उनकी शिष्टोक्ति है, असल में इन दोनों में कोई संघर्ष है नहीं। सौंदर्य की प्यासी हर आंख वाले व्यक्ति के मन में व्यार का अथाह समुद्र होता है, ऐसा समुद्र् जो अपने तटीय बन्धनों को तोड़-फोड़कर उदारतापूर्वक अपना प्रेम-स्रोत समष्टि में लुटाने को पहुंच जाता है। सौंदर्य की भूख से विश्व मानव के सुख-दुख की भूख में इनकी विचार-तब्दीली, इनकी इसी उदारता का परिचायक है और मेरी समझ से किसी भी श्रेष्ठ कवि की वैचारिक श्रेष्ठता के लिए यह पहली, बल्कि एकमात्र शर्त है। मानवीय सुख-दुख के प्रति चिंतनशील और प्रेम से लबालब भरे हृदय के बिना कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति सृजनशील हो ही नहीं सकता। चूंकि मुक्तिबोध में यह क्षमता थी, इंसीलिए मात्र 29 वर्ष के लेखन काल में इन्होंने हिंदी साहित्य को कविताओं, कहानियों, आलोचनात्मक निबंधों से संख्यात्मक और गुणात्मक-दोनों स्तरों पर समृद्ध किया।

अपने वर्तमान परिवेश और समाज के गंभीर अध्येता, अतीत के प्रति जागरूक और भविष्य के प्रकत चिंतनशील मुक्तिबोध क़ी कविताएं यदि हर समय में इतनी जीवंत, मूर्त्त और प्रभावी दिखाई देती हैं, तो उसका एकमात्र कारण कवि का युगबोध ही है। प्रो. केदारनाथ सिंह के शब्दों में कहा जाए तो 'मुक्तिबोध की कविताएं अपने समय के जीवित इतिहास को कविता में बदलने की कठिन चुनौती का सामना करनेवाली कविताएं हैं। कला की दृष्टि से यह एक मुश्किल काम है, क्योंकि इतिहास का, खास तौर पर सद्यःघटित इतिहास का कच्चा माल इस काम में कवि की बहुत दूर तक मदद नहीं करता। शायद कविता इसीलिए बहुत शुरू से स्मृति-गर्भी भाषा का प्रयोग करती आई है।... पर मुक्तिबोध-जैसा कवि, जो अपने पूरे कलात्मक संतुलन के साथ वर्तमान की तनी हुई रस्सी पर चलने का प्रयास करता है, शुरू में ही उन उपकरणों से वंचित होने की स्थिति को स्वीकार कर लेता है।'

उक्त कथन पर शत-प्रतिशत विश्वास किया जाना चाहिए। कलात्मक उपकरणों से वंचित रहने की यह स्थिति मुक्तिबोध ने जानकर ही स्वीकारी और अस्वीकार की यह स्थिति निश्चित रूप से मुक्तिबोध के युगबोध का उत्कर्ष दिखाती है। 'जीवित इतिहास' को जब कविता में बदलकर जीवन्त किया जाता है, तो वाकई एक चुनौती सामने आती है। इस समय सर्जक के सामने तथ्यात्मक सौंदर्य और सृजनात्मक सौंदर्य-दोनों मौजूद रहते हैं। निर्भर करता है सर्जक के विवेक पर कि वे किसे प्राथमिकता देना चाहते हैं। सृजनात्मक सौंदर्य के कुहासे से ढंका हुआ 'जीवित इतिहास' जब विश्व-मानव के सामने आता, तो वहां उनके सुख-दुःख की वास्तविकता कितनी दिखाई पड़ती है! इसीलिए मुक्तिबोध के युगबोध ने उन्हें आश्वस्त कर दिया

कि तथ्यात्मक सौंदर्य मौलिक और प्राथमिक है, सृजनात्मक सौंदर्य का निर्वाह हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक! शायद यही कारण है कि, इनकी पूरी काव्य-दुनिया एक डायरी सी लगती है, कहीं कथात्मकता, कहीं नाटकीयता, कहीं आत्मकथात्मकता, कहीं उपदेश, कहीं सलाह, कहीं विचार-विमर्श, कहीं करुणा, कहीं रोदन, कहीं खिन्नता, कहीं क्रोध, कहीं तुकबंदी, कहीं तुकहीनता, कहीं चीख, कहीं चेतावनी... एक ही वक्ता के नाना रूप और विभिन्न स्वभाव दिखाई पड़ते हैं।

जिस समय मुक्तिबोध प्रेम कविता लिखा करते थे, उस समय भी उन्होंने चुनौतियों की ध्रुवान्त समस्याओं से बातचीत की—

*'हृदय का व्यापार, सजनी*
*ताल देकर काल लाया*
*मरण का संसार, सजनी*
*अमरता का जाल लाया'*

काल ने साढ़े सतरह वर्ष की व्यवस्था में जिस मुक्तिबोध को इतना निडर बनाया, उसी मुक्तिबोध की कविताओं ने आगे आकर हिंदी कविता में नए-नए द्वार खोले। वस्तुत: हर समय की कविता समकालीन सच से रू-ब-रू होती है और एक समय आता रहा है, जब एक खास किस्म की रचनाशीलता किसी न किसी कारण से रूढ़ हो जाती रही है। यही हाल छायावाद की समाप्ति के समय था। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में रचनाधर्मी लोग उत्तर-छायावादी दृष्टि से सोचने लगे थे। इस काल में साहित्य में प्रविष्ट लोगों के सामने बड़ी-बड़ी चुनौतियां थीं। प्रो. नामवर सिंह भी कहते हैं कि '1938 के आसपास काव्य के क्षेत्र में आने वाले बौद्धिकों के लिए छायावाद से अधिक उत्तर-छायावादी अगम्भीरता से निबटने की समस्या थी।' मुक्तिबोध के साहित्य-प्रवेश का काल यही है। छायावादोत्तर काल में जब देखा गया कि कविताएं रागात्मक समृद्धि पूर्णता नहीं पा रही हैं, समाज और जन-जीवन के सत्य को पहचानने और उसे स्वीकारने में कोताही कर रही हैं, तो उस काल के सृजनधर्मियों ने नए सिरे से सोचना शुरू किया। जिसे विजयदेव नारायण साही ने कहा कि 'तार सप्तक के कवि सत्य क्या है, पूछते हैं और अत्यंत आतुरता से प्रतीक्षा करते हैं। उत्तर की यह आतुर प्रतीक्षा ही उन्हें मंजिल पर पहुंचे हुए राही नहीं, राहों का अन्वेषी बनाती है। संक्षेप में यह कि उन्होंने क्राइसिस का सामना किया।'

मुक्तिबोध इन्हीं राहों के अन्वेषी और क्राइसिस का सामना करने वालों में से हैं। देश की जनता पर जब अत्याचार का कहर बरपा जा रहा था, उस समय सच को सच की तरह कहने की आवश्यकता थी, कलात्मक सिद्धि और वाक्जाल की नहीं। हर समय की कविता में रागात्मक समृद्धि और उदात्तता युग यथार्थ की जीवंत प्रतिकृति से आती है, जो छायावादोत्तर काल में धुंधली हो रही थी। मुक्तिबोध उस

समय के महान कवियों में से हैं, जिन्होंने माना कि 'आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके इस विशाल जीवन-समुद्र की परिसीमा, उसके तट-प्रदेशों के भूखण्ड, आंखों से ओट ही रह जाएंगे। कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युग संधि काल में कार्यकर्त्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा गलत साबित करना ही पड़ेगा।'

मुक्तिबोध का तमाम रचना संसार इनके प्रारंभिक वक्तव्य की इसी धुरी पर केन्द्रित है। ऊपर जिस रागात्मक समृद्धि की चर्चा हुई, उसके संबंध में प्रो. नामवर सिंह का कहना है कि 'रागात्मक समृद्धि वहां है जहां वास्तविक स्थितियों के बीच से गुरते हुए जागरूक मानव-मन की अधिक-से-अधिक जीवन्तता मूर्तिमान हुई है और जहां आज की वास्तविकता को देखने के लिए कोई विजन मिलता है। इस प्रकार की रागात्मक व्यापकता पंत के 'लोकायतन' में नहीं, मुक्तिबोध के 'अंधेरे में' कविता में है। उदात्तता अतिचेतनावादी दिव्य अनुभूतियों में नहीं, इतिहास से जूझते हुए मानव के चेतन प्रयासों में है, कलात्मक सिद्धि शिल्प के अतिसरलीकृत रूपों में नहीं, सर्जनात्मक भाषा के सार्थक उपयोग में है।'

मुक्तिबोध की कविताएं इसी इतिहास से जूझते मानव के चेतन प्रयासों और वास्तविक स्थितियों की बीच से गुजरते जागरूक मन की व्यथाओं का चित्रण है। सन् 1935 से 1964 तक के इनके लेखन काल में कई मोड़ आए, हिंदी कविता ने खुद कई परिवर्तन देखे। तार सप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक, अकविता, नई कविता आदि कई काव्य स्वभाव मुखरित हुए। देश आजाद हुआ, संविधान बना, कई राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों पाखण्डों और धोखाधड़ियों का सामना भारत को करना पड़ा। पं. नेहरू और लाल बहादुर शास्त्री जैसे बुद्धिमान प्रधानमंत्रियों का तरह-तरह से मोहभंग हुआ। सीमा-संघर्ष के अलावा देश के आंतरिक कलह, असमय चुनाव, राजनीतिक लोलुपता और मदांधता के बीच देश में व्याप्त अभाव, बेकारी, भुखमरी, शोषण, अत्याचार, वर्ग संघर्ष, जाति संघर्ष, छुआछूत, सम्प्रदाय संघर्ष... सबके सब परवान चढ़ गए। पर, अपने पूर्ववर्तियों की तरह मुक्तिबोध की काव्य-दृष्टि अपने प्रस्थान बिन्दु पर बैठी न रही, तालाब के पानी की तरह कैद न रही और किसी वर्षा-ऋतु की प्रतीक्षा न कर सकी, वह उद्दाम प्रवाहवाली अन्त:सलिला नदी की तरह बहती रही और अपने समय के मर्म को पकड़ती रही। जनसंबंध की रागात्मक समृद्धि के साथ इनकी कविताएं सदा सार्वकालिक होती रही। मुक्तिबोध का युगबोध इस बात से भी उत्कर्ष पा रहा है, आज भी, जब उनके गुजरे हुए तीन दशक से ज्यादा समय हो गए, चार दशक पहले लिखी उनकी कविता आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं। इन दशकों में काफी परिवर्तन हुए, देश-दशा, सामाजिक जीवन, जनपद के रहन-सहन,

आचार-विचार, सुख-सुविधा, ज्ञान-विज्ञान सबकी विधियां बदल गई, पर चूंकि मुक्तिबोध की कविताएं मानव जाति के रागात्मक गुणसूत्रों की साक्षी रही हैं, इसीलिए ये आज भी उसी स्वाद और उसी गांभीर्य के साथ अपने पाठकों को मुखातिब हैं।

तारसप्तक में मुक्तिबोध ने कहा कि 'मेरी ये कविताएं अपना पथ ढूंढने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन स्थिति में छिपा है।' संक्षेप में कहा जाए तो मुक्तिबोध का पूरा रचना-संसार ही एक पथ-संधान की प्रक्रिया है। इनकी किसी भी रचना को उठाकर देख लिया जाए, चाहे वह 'अंधेरे में' हो, 'व्यक्तित्व और खण्डहर' हो, 'आत्म संवाद' या 'अन्तदर्शन' या 'सर्जन क्षण' या 'नाश देवता'... जो भी हो, हर रचना, मानवीय अस्मिता की तलाश की रचना है। 'अंधेरे में' कविता पर तो काफी कुछ लिखा जा चुका है, यूं कहा जाए कि मुक्तिबोध के पूरे सृजन पर ही काफी कुछ लिखा जा चुका है। पर, एक बड़ी विडम्बना है कि मुक्तिबोध की कविताएं अभी भी सामान्य पाठकों के लिए थोड़ी गरिष्ठ होती हैं। मेरे विचार से इस गरिष्ठता का कारण इनके यहां जीवित इतिहास को जस का तस रखे जाने की पद्धति है, जहां कलात्मक सिद्धि को कोई खास महत्व नहीं दिया गया है। किसी भी साहित्यिक कृति में प्रवेश से पूर्व पाठकों को कुछ मन बनाना चाहिए। सामान्यतया यह मन बनता है, पुस्तकों के प्राक्कथन, भूमिका, संपादकीय... आदि से। जहां पाठकों को यह संकेत दिया जाना चाहिए कि यह पुस्तक गीता नहीं, या दुर्गा सप्तशती नहीं या रुद्राष्टक नहीं। इसे मंत्र या उपदेश की भांति नहीं, इसे किसी समय के सहयात्री की अनुभवों और भुक्त यथार्थों की तरह पढ़ना चाहिए।

मुक्तिबोध की तमाम कविताएं किसी संवेदनशील व्यक्ति के अंतसंघर्ष की कविताएं हैं, जहां न तो शुद्ध रूप से किसी हारे हुए व्यक्ति का पराजय बोध है, न किसी परम जनशक्ति के समर्थक का विजय घोष और न ही किसी योजनाधर्मी उद्घोषक का चातुर्यपूर्ण वक्तव्य। पूरा का पूरा सृजन-संसार एक आवरणविहीन सचाई की अनुकृति है, जहां मनुष्य का मनुष्यत्व भी है और उसका पशुत्व भी। यहां तक कि यदि कवि ने स्वयं को कहीं पथभ्रष्ट देखा है, तो उसका चित्रण भी उसी निर्ममता से किया है। जब कवि कहते हैं—

*मैं महाशोधक महाशय सत्य-जल का मीन हूं मैं*
*सत्य का मैं ईश औ' मैं स्वप्न का हूं परम स्रष्टा*
*(किंतु सपने? प्राण की है बुरी हालत*
*और जर्जर देह; यह है खरी हालत)*
*उग्र-द्रष्टा मैं स्वयं हूं जबकि दुनिया मार्ग-भ्रष्टा*

तो आप से आप कवि की शोधन और तलाश प्रवृत्ति का ओर-छोर दिखने

लगता है। ये पंक्तियां मुक्तिबोध के केवल जन सरोकारों को ही नहीं, इनके दायित्व निर्वहन को भी संकेतित करती है, जहां कवि अपनी पारम्परिक धरोधर, इतिहास, पुराण, वेद, उपनिषद, दर्शन आदि से जितने संबंद्ध दिखते हैं, उतने ही अपने प्राच्य-पाश्चात्य आचार्यों के मतों से परिचित दिखते हैं और उतने आने वाले समय के जनपद के लिए एक सुखमय माहौल हेतु प्रतिबद्ध दिखते हैं—

*इसीलिए मैं हर गली में*
*और हर सड़क पर*
*झांक-झांक कर देखता हूं हर एक चेहरा*
*प्रत्येक गतिविधि*
*प्रत्येक चरित्र*
*व हर एक आत्मा का इतिहास*
*हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति*

खुली आंखों से अनुसंधान की यह प्रक्रिया मुक्तिबोध की तमाम रचनाओं में परिलक्षित है। शायद यही कारण है कि एक तरफ इनकी कविताओं में तिमिर, अंधेरा, व्यथा आदि अवरोधक तत्व दिखते हैं, तो दूसरी ओर सूरज, प्रकाश, पहाड़, वृक्ष, पेड़ नदियां, सड़क आदि अपने पूरे वजूद के साथ उन अवरोधों के खंडन के लिए तत्पर रहते हैं।

अवरोधों से टक्कर, समय की चुनौतियों से जूझने की प्रवृत्ति, अपने को अजेय नहीं, अपराजेय मानते रहने की वास्तविकता की पहचान, दानवी शक्ति के पराक्रम को भी समझने की समझ, नए मार्ग के अन्वेषण की पहचान सबके सब इनके यहां वास्तविक स्वरूपों में उपस्थित है। शायद मुक्तिबोध की कविताओं की सबसे बड़ी खासियत यही है कि वहां फूल और शूल, ज्योति और तिमिर... सब अपनी मौलिकता के साथ मौजूद हैं और मुक्तिबोध को प्रतीक्षा है एक सुनहरे समय की शायद हम सबको भी प्रतीक्षा है—

*दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा*
*खत्म जो हो गई, आकांक्षा।*
*आज चढ़ बैठी अचानक, भूत-सी इस कांपते नर पर*
*विक्षुब्द कम्पन्न बन चढ़ी जाती सरल स्वर पर*
*प्रश्न लेकर, कठिन उत्तर साथ लेकर*
*रात के सिर पर चढ़ी है, नाश का यह गीत बनकर*
*हंस पड़ेगी कब सहज प्रकाश का यह गीत बनकर।*

□

# मुंडा लोक गीतों के अमर गायक लोक कवि बुधू बाबू

डॉ. हरिसिंह पाल

*मुंडा लोक गीतों की परंपरा बहुत पुरानी है। इसके गीतकारों का इतिहास इस जाति के इतिहास के समान ही बहुत प्राचीन है। इस आलेख में मुंडा लोकगीतों के अमर गायक बुधू बाबू के इतिहास और उनकी लोकगीत परम्परा का वर्णन किया गया है।*

भारत के विशाल जन समुदाय में आदिवासियों का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने देश के सघन जंगलों और दुर्गम पहाड़ों में कठिन जीवन यापन कर अपने मूल अस्तित्व की रक्षा की है और भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग बनकर इसे इन्द्रधनुषी विविधता प्रदान की है। हमारे महान अभिजात्य साहित्य; जो लोकसाहित्य का विकसित, सुसंस्कृत और परिष्कृत रूप है, के सृजन में इन आदिवासियों का भी पर्याप्त योगदान रहा है। गीत और नृत्य आदिवासी संस्कृति के मूल तत्व हैं।

भारत के आदिवासियों में मुंडा जाति का महत्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। इस जाति की शक्ति सामर्थ्य और सांस्कृतिक महत्ता का एक अच्छा प्रमाण यह है कि विश्व भाषाओं के विशाल 'आस्ट्रिक' परिवार की जो भाषाएं भारत की विभिन्न आदिम जातियों द्वारा बोली जाती हैं, वे सब की सब 'मुंडा-भाषाएं' कहलाती हैं।

मुंडा गीतों की परम्परा, उतनी ही पुरानी है जितनी मनुष्य के हृदय में अनुराग

और मस्ती। इस आदिमजाति ने मानव इतिहास के आदिमयुग से ही गीत सिरजे और गाए हैं। इसके गीतकारों का इतिहास इस जाति के समान ही प्राचीन है। यद्यपि लोकगीत अपने सरल आकर्षण और गेयता के पंखों पर उड़ते हुए मौखिक परम्परा की आकाश में फैलते जाते हैं। लोकगीत में किसी व्यक्ति का विशेष चिंतन और भिन्न दृष्टिकोण नहीं होते उनमें वही भाव होते हैं जो सबके हैं और जिनमें अधिक से अधिक समानता है। लोकगीतकार अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, किसी भी प्रकार की आकांक्षा से मुक्त व्यक्तित्व, नाम और रूप से रहित होकर, गीतों में खो जाता है और फिर गीतों के साथ जन-मन में घुल कर सर्वदा के लिए लुप्त हो जाता है, किंतु गीतकारों के प्रति जनता की मौन कृतज्ञता, अपने कंठ सुरक्षित रखकर तन्मयता के साथ गाने में देखी जा सकती है।

मुंडा लोक काव्य को अपने मधुर और लोकप्रिय गीतों से समृद्ध करने वाले, बुधू बाबू का नाम मुंडा लोक साहित्य में सर्वोपरि है। इनका जन्म 1830 के आसपास तमाड़ से चार किमी दूर बवाई कुंडी में हुआ था। बुधूबाबू के पूर्वज काशीपुर के महाराज के आश्रित थे इनके प्रपितामह तमाड़ के राजा द्वारा लाए गए थे। बवाई कुंडी में उन्हें जागीर मिली। उनकी उपाधि 'साय' थी; किंतु शिखर भूमि के निवासी होने के कारण उन्हें 'शिखर' की उपाधि मिली। इसीलिए बुधूबाबू का पूरा नाम बुधनाथ शिखर था। ये लगभग 80 (अस्सी) वर्ष जीवित रहे। ये बड़े भक्त आदमी थे। नृत्य और गीत के बचपन से ही प्रेमी थे। बुधूबाबू भावावेश में अखाड़े में नाचते समय नए गीत गाया करते थे। उनके बारे में यहां तक कहा जाता है कि उन्होंने जो कुछ बोल दिया, वह गीत बन गया।

मुंडा न होने पर भी बुधू बाबू का मुंडा भाषा-शैली, और अभिव्यक्ति की कला पर इतना व्यापक अधिकार देखकर स्वयं मुंडाओं को भी आश्चर्य होता था। बुधूबाबू ने रामायण नाम से 19 और प्रीत पला नाम से 64 गीतों की रचना की। 'रामायण' में सीता की खोज के लिए लंका यात्रा की कथा है उनका पुल बनाने का उत्साह, अंगद का दूत कर्म, हनुमान का नेतृत्व, जामवन्त की सिखावन, तथा राम लक्ष्मण की झांकी आदि विषय इन लोकगीतों में आए हैं। जबकि प्रीतपला' में कृष्ण का बचपन, यशोदा का प्यार, कदम्ब, मुरली गोपियां, राधा कृष्ण का प्रेम रासलीला आदि विषय है।

बुधू बाबू के भाव पूर्ण और दर्द भरे गीत पांच परगना क्षेत्र से उठकर सम्पूर्ण मुंडा समाज में लोकप्रिय हो गए। ये गीत ऐसी सरल और स्वाभाविक शैली में लिखे गए हैं और उनमें इतना प्रभाव है कि उन्होंने लोक मानस को अपनी गीति-हरियाली से भर दिया है। बुधूबाबू द्वारा रचित सभी लोकगीत 'करमागीत' है। मुंडा लोक संस्कृति में 'करमा गीतों' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। जो मुंडा समाज के बसंतोत्सव 'सरहुल' पूर्व की अंतिम संध्या से करमा मौसम (बसंत के उपरांत) मैं गाये जाते हैं। करमा गीत, प्रकृत रूप में वे एकांत संगीत है जो ग्रीष्मऋतु में वन-वृक्षों की छाया में

आषाढ़ की काली घटाओं में व बरसात के एकान्त खेतों में और भादों की सूनी राहों में समान रूप से गाए जाते हैं एकान्त के क्षणों में उन्हीं क्षणों के लिए बने होने के कारण करमा गीतों का प्रभाव बड़ा गहरा होता है। बन के किसी एकांत में खुलकर गाए हुए करमागीत प्रकृति के चरणों में पुरुष की चिरन्तन पुकार के समान जान पड़ते हैं।

करमा गीतों में कृष्ण काव्य और रामायण की बहुत-सी कथाएं गाई जाती हैं। ऐसे गीतों में पूर्णता है और भावों की अभिव्यंजना अधिक मार्मिक और कला पूर्ण है। बुधू बाब का एक प्रीतपला गीत इस प्रकार है जिसमें, कृष्ण के वियोग में पीड़ित नायिका की व्यथा को व्यक्त किया गया है—

*तिरि रिरि रिर रिरि रुतई ओरोड़ तान,*
*राधा राधा राधा राधा-ए रुतु तान।*
*एनाते दुति इंडदोइड़ बलाय तान।*
*आहो लेल, लेरे लेल लेरे, का हो ए लेलोवा*
*मोने मोने मोनेरे। लेलो; तान, ऐनाते...*
*दिन दिन दिन सोबेन दिन तइड, नेयागे रुतुई तान*
*नेयागे सिंगी तइड़ जीरेरुंड तान, एनाते....*
*दो-दो-दो वबोहे-बोहे दो बोदेते काजी तान*
*बुधु बाबू ताबु नेयागे दुराड़ तान, ऐनाते....*

अर्थात् तिरि रिरि की आवाज में कृष्ण, राधा-राधा करके बांसुरी बजा रहे हैं इससे हे सखी में व्याकुल हो रही हूं, आह, देखते-देखते, दिखाई भी नहीं देते। लेकिन मन में दिखाई दे रहे हैं। इससे मैं बेचैन हो रही हूं। प्रति दिन, सब दिन, इसी प्रकार बांसुरी बजाते हैं। रात-दिन हृदय को कूटा करते हैं इससे हे सखी, मैं व्याकुल हो रही हूं। चलो चलो जल्दी चलो यही कह रहा है बुधु बाबू यही गीत गा रहा है इससे सखी मैं बेचैन हो रही हूं।

बुधू बाबू के गीतों ने मुंडा कंठ, राग, भाव और शैली को समान रूप से प्रभावित किया है और करमा गीतों को अपनी कला और विशेषता में अन्य गीतों से बढ़कर बना दिया है।

*हाय रे ओकीतिया रुतई ओरोड़ तानी रे छैला, हाय रे ओकीतिया।*
*निंदा सिंगी आए नतिन मेन्दाजीरो तान रे छैला, हाय रे*
*चन्दन कस्तुरी बा सोबेन गीसी जना, हाय रे...*
*बुधु बाबू डियातिड़ते दुरड़ बाई तना रे, हाय रे ओकीतिया।*

हाय। बांसुरी बजाने वाला छोरा (कृष्ण) कहां चला गया। रात दिन उसके लिए

आंसू बरसा करते हैं। हाय वह कहां चला गया? चंदन कस्तूरी और सभी फूल मुरझा गए बुधू बाबू दु:ख से गीत बना रहा है। हाय वह बांसुरी बजाने वाला घेरा कहां चला गया।

बुधू बाबू की गीतों में 'चिट्टि' करमा गीतों की विशेषता पायी जाती है। उनमें बड़ी लम्बी टेर और ऊंची पुकार है। यद्यपि पुनरावृत्ति कथनो-प-कथन आदि मुंडा गीतों की परम्परागत शैली वहां नहीं है। उनके द्वारा रचित गीतों में वही करुणा और कम्पन्न मौजूद है जो मुंडा लोगों के तन-मन को आन्दोलित करने वाली वन रागिनी की निजी विशेषता है। एक लोक प्रिय उनका गीत इस प्रकार है—

*उरि: गुपियाते गोपाल*
*हिजु: लेना-ए अकल बकल ऐला बछा सुगारे चोओ लेमा*
*अम. सुगड़ा मिरू सोचा रे चो ओ लेमा।*
*हिजु लेनाए डगरडुगुर, ओड़ा राठि शोभाजना,*
*अम: नातिन दीबाकना, रोका तोवा लोटारेचोओ लेमा। अम:*
*उरि; गुपो अलोम सेना:*
*कंस राजा मेनाई मुदाई मुरकटारे चोओ लेमा। अम:*

अर्थात गोपाल कृष्ण गाय चराकर थके मांदे घर आए हैं। यशोदा माता कहती है हे सुग्गा के समान कृष्ण कन्हैया आओ तुम्हें मैं चूम लूं। तुम डगस्ममार आए हो जिससे घर सुशोभित हो गया। मैने तुम्हारे लिए लोटे में ताजा दूध रखा है। तुम अब गाय चराने मत जाया करो। वहां पर जानी दुश्मन कंस राजा है आओ तुम्हारे मीरू जैसे सुंदर मुंह को चूम लूं।

प्रीतपला की भांति, बुधू बाबू के 'रामायण' गीत भी उतने ही मनोरम और भावपूर्ण हैं। सीता हरण प्रसंग का एक लोक इस प्रकार है—

*गज जप: लोवा सुबा, मेरोम को ए गुपि तना*
*लेंल जाई लेल जाईलो दीन्दी तीरसा किअ: भाई नीलिता।*
*ओकोय मेने मारे मारे, ओकोय मेन मारे मारे। लेल जाई...*
*बुधूबाबू ई काजी ताना, रावन सीता-ए दूरी किअ:। लेल जाई*

नदी किनारे गूलर वृक्ष के नीचे सीता बकरी चरा रही थी। (वनवासी स्त्री और क्या करेगी?) देखते ही देखते हे, सखी उसको उठा लिया। किसी ने मारो-मारो कहा किसी ने धरो-पकड़ो की आवाज लगाई लेकिन देखते ही देखते रावण सीता को हर ले गया।

बुधू बाबू ने मुंडा समाज की लोक संस्कृति के अनुरूप ही गीतों में भाव व्यंजना प्रस्तुत की है। लंका पर चढ़ाई करने के लिए, समुद्र पर पुल बनाने को बनवासी बंदर

तत्पर हैं जैसे मुंडा लोग ही वहां यह सेवा कार्य कर रहे हैं

*जम्बेवोने काजी तना,*
*जोतो गाडी की सेने पे, हासा दिकी बुरु आगते।*
*समुंदर तोले याबु एनाते हो, राम लोखोन हुकुमते।*
*सोबेन बीर की खुशीजना, नैया काजी आयम ते,*
*सेनोवाबु सीबेन लंकाते, लेलेयाबु लंकापुरी मेदते हो। राम...*
*जेता बीर कुड़िल तना, दो-दो मेत्ते,*
*सेनो; बाबु उत्तर दिशुमतें, आगुयाबु बुरु दिरी बोते ही। राम....*
*हनुबीरे ए विरीहजना राम राम मेत्ते हो,*
*उत्तर दिशमु तुरु आगते, बुदू बाबू दुरड़ बाइतान एनाते हो। राम....*

वीर जामवंत अपने साथी वानरों से कह रहे हैं कि प्रभु राम लक्ष्मण की आज्ञा से सभी बानर समुद्र बांधने के लिए मिट्टी, पत्थर और पहाड़ लेने चलें। इस बात को सुनकर सभी वीर प्रसन्न हो गए कि हम सभी अपनी आंखों से लंका देखने चलेंगे। चलो उत्तर दिशा की ओर सिर पर पत्थर लाने के लिए। वीर हनुमान राम राम का नाम लेते हुए उत्तर दिशा से पहाड़ लाने के लिए उठ खड़े हो गए। इसी लिए बुधू बाबू प्रभुराम लक्ष्मण की आज्ञा से गीत बना रहे हैं।

इस प्रकार बुधू बाबू ने अपने लोकगीतों के माध्यम से राम और कृष्ण संबंधी भाव मुंडा समाज में लोकप्रिय बना कर इन्हें भारतीय वैदिक संस्कृति से जोड़ दिया है। यों तो राम-कृष्ण सम्बंधी गीत मुंडा भाषा में पहले से ही थे किंतु बुधू बाबू ने अपने मनोरम और स्वाभाविक गीतों के माध्यम से इनको आदर्शों के अनुकूल बना दिया है। ये गीत मुंडा लोक जीवन के आदेशों और अभिरुचियां के अनुकूल है। इस प्रकार बुधू बाबू ने अपने गीतों से मुंडा समाज को तो उपकृत किया ही उन्होंने भारतीय संस्कृति को एक रूप भी प्रदान किया।

□

# हरियाणवी ब्रज के लोकगीत

किशोर कुमार कौशल

*भारत माता ग्रामवासिनी है। भारत की आत्मा गांवों मं बसती है। कृषि एवं पशुपालन ग्रामीण अर्थव्यवस्था के दो आधार स्तम्भ हैं। यहां का जीवन सहज और सादा होता है। लोग परिश्रमी होते हैं और उनके मनोभावों को वाणी मिलती है लोकगीतों और लोकगाथाओं में। लोक गाथाएं आदिकाल से समाज में चली आ रही हैं। आल्हा-ऊदल एवं ढोला-मारू हमारे लोक साहित्य के अमर पात्र हैं जिनकी गाथाएं आज भी किसी न किसी रूप में सुनी जाती हैं। पंडित लख्मीचंद ने अपने गीतों से हरियाणा, उत्तर प्रदेश, दिल्ली व राजस्थान के लाखों लोगों का कई दशकों तक मनोरंजन किया है।*

ग्रामीण जीवन पहले बहुत संघर्षपूर्ण था। आज विज्ञान ने नई-नई तकनीकों से कृषि कार्य को काफी हद तक सुखद बना दिया है। हल-बैल की जगह अब ट्रैक्टर ने ले ली है। सिंचाई के लिए वर्षा पर निर्भरता कम हुई है। ट्यूबवैल और नहरों से सिंचाई की जाती है। इसी प्रकार लोक कलाकारों द्वारा ग्रामीण मंचों पर लोक गाथाओं को साभिनय प्रस्तुत करने का समय भी अब नहीं रहा। अब तो कैसेट के जरिए ही लोग अपने पसंदीदा लोकगीतों और लोकगाथाओं का घर बैठे आनंद लेते हैं। रेडियो से प्रसारित लोकगीत सुनकर भी लोग झूमते देखे जा सकते हैं।

मथुरा और दिल्ली के बीच हरियाणा का कुछ भूभाग है जिसे ब्रज मिश्रित खड़ी बोली का क्षेत्र कहा जा सकता है। यह असल में तो हरियाणवी ब्रज का होडल से

दिल्ली तक का क्षेत्र है। यहां ब्रज, मेवाती, भुडेर (पलवल के जाट बहुल गांवों का क्षेत्र जो रेतीली भूमि के कारण भुडेर कहलाता है) की ठेठ हरियाणवी और खड़ी बोली की पंचमेल खिचड़ी बोली लोकगीतों को एक अनूठी छटा प्रदान करती है। यूं लोकगीतों पर बहुत काम हुआ है किंतु दैनिक जीवन के संघर्षों की धूप-छांव, राग-विराग और सहजता जटिलता को देखते हुए यह कार्य अपेक्षाकृत बहुत कम है। या तो ब्रज के लोकगीतों व लोक संस्कृति पर लोगों ने खूब रुचि से कार्य किया है या हरियाणवी लोक संस्कृति पर खूब काम हुआ है।

किन्तु ब्रज और हरियाणवी के बीच का यह सेतु प्रदेश इस दृष्टि से अभी तक उपेक्षित ही है। फरीदाबाद औद्योगिक नगर है अत: लोग अपनी रोजी-रोटी के चक्कर में ही लगे रहते हैं और दिल्ली के निकट होने के कारण दिल्ली की हवा भी लोगों को लग गई है जिससे वे मनोरंजन के लिए अब दूरदर्शन और सिनेमा पर निर्भर रहने लगे हैं। पहले जैसी फुरसत भी अब कहां है। यह प्रवृत्ति भी लोकरुचि के कार्यक्रमों के आयोजन में बाधक हैं।

सदियों पहले अमीर खुसरो ने जिस बोली-भाषा को 'हिंदवी' कहा वह इसी क्षेत्र की बोली थी जो अपने व्यापक माधुर्य के साथ किंचित उत्कर्ष अपकर्ष लिए आज भी अन्त: सलिला की भांति लोगों के मानस-पटल और होठों पर प्रवहमान है। यूं तो उक्त पांचों बोली-भाषाएं यहां प्रयुक्त होती हैं किंतु मुख्य स्वर ब्रज और खड़ी बोली का ही है।

फरीदाबाद की बल्लभगढ़ होडल और हथीन तहसीलों से जुड़े कई सौ कस्बों और गांवों में आज भी विवाह तथा विभिन्न पर्वों-त्यौहारों के अवसर पर लोकगीत गूंजते हैं। जहां भी चार अल्हड या प्रौढ़ाएं एक साथ हों, कोई न कोई लोकगीत वे अपने समवेत मधुर स्वरों से गुंजरित कर देती हैं। ये गीत गांवों में खेतों-खलिहानों में, किसी लड़की को ससुराल के लिए विदा करते समय बस अड्डे तक की डगर पर बस में या रेलगाड़ी में कहीं भी सुनने को मिल सकते हैं। घर में बच्चे का जन्म हो तो सोहर गीत, शादी हो तो भात के गीत, बन्ना-बन्नी के गीत, कुआं व चाक पूचन के गीत, मेले के गीत, मिलन और विरह के गीत, सावन और फागुन के गीत, कार्तिक स्नान के गीत यानी कोई भी अवसर ऐसा नहीं है जो लोकगीतों से वंचित हो अर्थात् जीवन के हर खासो आम मौकों पर गीत गाए जाते हैं।

इन लोकगीतों में और इनकी गायिकाओं में एक विशेष बात पाई जाती है कि किसी भी गीत में विभिन्न बोलियों की महिलाएं भी अपने स्वर मिलाकर उसे अधिक प्रभावी, ऊंचा तथा कर्णप्रिय बना देती हैं। यूं बिना अवसर इन महिलाओं से लोकगीत सुनाने का आग्रह किया जाए तो वे संकोचवश या तो गीत के भूलने का बहाना करती हैं या लज्जावश पर-पुरुष के सामने सुना नहीं पातीं। लोकगीतों का संग्रह करने में आने वाली यह मुख्य कठिनाई है। अवसर आने पर तो इनके समवेत स्वरों से वातावरण में जो माधुर्य घुलता है वह विवाह और पर्वों के अवसरों को अधिक सरस

बना देता है। विवाह के अवसर पर दोनों पक्षों की परस्पर छेड़छाड़ के प्रसंग भी लोकगीतों में सहजता से प्रकट हो जाते हैं।

लोकगीतों पर अश्लीलता या फूहड़ता का आरोप लगाया जाता है जिसका कोई औचित्य नहीं है। लोकगीत, लोकजीवन से बनते हैं। लोक-जीवन सहज, सरल और आडम्बरहीन होता है। वहां रंडवा को विधुर नहीं, रंडवा ही कहा जाता है। इन लोकगीतों की रचयिता ग्रामीण ललनाएं ही होती हैं। इनकी बोली सहज होती है।

विद्यापति, अमीर खुसरो, कबीर से लेकर सूर, तुलसी, मीरा तक हमारे ऐसे लोक रचनाकार हैं जिनकी रचनाएं सदियों के बाद आज भी गाई जाती हैं और चाव से सुनी जाती हैं। कबीर और सूर के पद लोक मानस में आज भी गूंजते हैं। साधारण व निरक्षर किसानों को भी कुछ भजन व चौपाइयां कण्ठस्थ हैं। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि लोक साहित्य की उम्र हमारे शास्त्रीय साहित्य से अधिक होती है। लोक साहित्य, लोक जीवन के संघर्ष को, उसके राग-द्वेषों को व्यक्त करने में पूर्णत: सक्षम है। इन लोक गीतों में शिल्पगत शिथिलता और आवृत्ति दोष की एकरसता भरपूर होती है फिर ये अपने ढंग से हमारे पूरे परिवेश को सरस बनाए हुए हैं।

अब कुछ लोकगीत प्रस्तुत हैं। यह पनघट का प्रसिद्ध गीत है जो अपने भाव-सौंदर्य में अनूठा है। इसमें एक विवाहित युवती अपने मायके में है। वह पनघट पर पानी भर रही हैं। इतने में एक राहगीर वहां आ पहुंचता है और उससे पानी पिलाने का आग्रह करने लगता है। वह रमणी बड़ी अदा से पानी पिलाने में असमर्थता व्यक्त करती है। कुछ पूछती है और फिर मनचाहा उत्तर पाकर खुशी-खुशी पानी पिलाती है। गीत का यह पूरा प्रसंग इतना चित्रात्मक और मनोरंजक है कि मन बरबस वाह कह उठता है। लड़की को घर से विदा करते समय यह गीत प्राय: गाया जाता है। खूब मोटी स्त्रियां भी इस गीत को अपने-अपने स्वर प्रदान करती हैं तो हंसी भी आ जाती है।

*''मेरे सिर पै बंटा-टोकनी, मेरे हाथ में नेजू डोल*
*मैं पतरी सी कामिनी....*
*एक राह मुसाफिर दूरके, छोरी एक घूंट नीर पिलाय*
*हम परदेशी दूर के....*
*छोरा ना मेरी डूबै बालटी, छोरा ना मेरौ नवै सरीर*
*मैं पतरी सी कामिनी...*
*छोरा किसके हो तुम पावने, छोरा किसके हो लिलिहार*
*मैं पतरी सी मामिनी...*
*छोरी तेरे बाप के पावने, कोई तेरे हैं लिलिहार*
*हम परदेसी दूर के....*
*छोरा अब मेरी डूबै बालटी, छोरा अब मेरौ नवै सरीर*
*मैं पतरी सी कामिनी...।''*

इन लोक गीतों में पनघट का विशेष स्थान है। पनघट पर पानी भरती पनिहारिनें अपने सुख-दु:ख आपस में बांटती हैं। हंसी-ठिठोली की मीठी फुहार भी यहां पड़ती रहती है।

जीवन कभी भी सीधी रेखा में नहीं चलता। इसमें तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। यह अपनी समग्रता में इतना जटिल और पेचीदा है कि न चाहते हुए भी कभी-कभी किसी अज्ञात और वर्जित पगडण्डी पर कदम बढ़ जाते हैं। अगले गीत में एक ऐसी ही नव विवाहिता का उल्लेख है जो पानी लाने के बहाने अप्ने प्रेमियों से मिलने के लिए पटघट पर जाने को तैयार है। उसका मन बल्लियों उछल रहा है किन्तु प्रकट रूप में वह भोलेपन का नाटक करते हुए अपनी सास से बड़ी सादगी से पूछती है कि वह सुनयना है तो पानी लाने के लिए पनघट पर कैसे जाए? सास उपाय बताती है। आगे का हाल आप गीत से ही जानिए।

*''सासल पनियां कैसे जाऊं रसीले दोऊ नैंना*
*तुम ओढ़ो चटक चुनरिया, सिर धर लेओ नेज गगरिया*
*छोटी ननदी ले जाओ साथ, रसीले दोऊ नैंना*
*मैंने ओढ़ी चटक चुनरिया, सिर धर लई नेज गगरिया*
*छोटी ननदी ले लई साथ, रसीले दोऊ नैंना*
*तुम बैठो कदम की छैंया, मैं भर लऊं ठण्डौ पनियां*
*ननदी घर मत कहियौ जाय, रसीले दोऊ नैंना।*
*मेरी ननदी असल छिनरिया, वानै जाय सिखाई अपनी मैया*
*मैया भाभी के दो यार, रसीले दोऊ नैंना*
*कातक में ब्याह कराऊं, फागन को गौनो लाऊं*
*ननदी पेर न लेऊं तेरौ नाम, रसीले दोऊ नैंना...*

इस गीत पर लड़कियां मग्न होकर नाचती हैं। उक्त दोनों गीतों में पनघट के दो चित्र हैं जो अलग-अलग भावभूमि को दर्शाते हैं।ऐसे बहुत गीत हैं जिनमें पनघट पर जीवन का सरस पक्ष जीवन्त हो उठता है।

यहां लोकगीतों की एक अद्‌भुत शैली है 'कुन्दा'। कुन्दा अर्थात् मन के उन्मुक्त भावों की एक सुंदर कड़ी। यह दो पंक्तियों का एक जादुई छंद होता है जिसमें कृषक ललनाएं और ग्रामीण स्त्रियां अपना मनचाहा संसार रच देती हैं। संस्कृत में श्लोक, हिंदी में दोहा एवं उर्दू में शेर का जो महत्व है, वही महत्व इस क्षेत्र में कुन्दा का है। चार-छह युवतियां या प्रौढ़ महिलाएं जब अपने ऊंचे व मधुर कण्ठ से कुंदा गाती हैं तो आस-पास का वातावरण संगीतमय हो उठता है। इन महिलाओं को कोई पिंगल ज्ञान तो होता नहीं फिर भी ये तुक और लय का सही निर्वाह कर लेती हैं चूंकि इनके जीवन में सुर-ताल है, संगीत इनके मानस में बसा है। अंत: निपट-निरक्षर ये मौलिक गीतकार हमारे जन-जीवन और वातावरण में अपने सुंदर मनोभावों की मिठास घोलती हैं।

कुंदा पलवल-बल्लभगढ़ से लेकर इस पूरे क्षेत्र के गांवों में पूरे चाव से गाए और सुने जाते हैं। हां, जाटनियों में इस छंद की उठान विशेष रूप से सुनने योग्य होती है। वे स्वरों को अपनी सहज बलिष्ठता से आरोह को देर तक छूते हुए जब उतारती हैं तो कुंदा और जीवंत हो उठते हैं। विभिन्न मनोभावों पर केन्द्रित कुन्दा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। देवर भाभी की स्वस्थ छोड़छाड़ हमारे लोक जीवन का सरस अध्याय है। यह चुहलबाजी कितनी रोचक है—

*'कुन्दा के बीच केला फट मत जइयौ रे।*
*फागन बरस दिना में आवै देवर हट मत जइयौ रे।।'*

और यहां भाभी अपने देवर से कोई भेद भरी बात कह रही है—

*'कुन्दा के बीच कोल्हू चक्कर ते चलै।*
*गुड़ तौ नित्त बनै देवरिया सक्कर अक्कल ते बनै।।''*

कोई नई नवेली अपने पति के लिए खाना लेकर खेत पर जा रही है। वह शायद दूसरी बार ही आ रही है। वह भी गौने (शादी के कई साल बाद जब लड़की दोबारा ससुराल में ज़ाती है उसे गौना कहते हैं और उस विवाहिता को गौनावली। आजकल तो शादी के दो दिन बाद ही आना-जाना हो जाता है।) के बाद तो वह बड़े ही मौलिक ढंग से अपने पति को इस प्रकार आवाज देती हैं—

*'कुन्दा के बीच गिल्ली गाड़ तो सही।*
*मै तो भूल गई खेतन नै किल्ली मार तो सही।।''*

घर और खेत के थका देने वाले कामों में भी जब ये नारियां कुछ फुरसत पाती हैं, कुंदा गाने लगती हैं। पड़ोस में कहीं शादी हो तो दूसरे मोहल्लों से गीत गाने के लिए आने वाली महिलाएं कुंदा की बरसात कर देती हैं। आस-पास का परिवेश गीत संगीतमय हो उठता है।

उपर्युक्त शैलियों के अलावा यहां ढोला, गाहे, चौपई, जिकरी, झूलना, पटका जैसे अलग-अलग शैलियों के छन्द हैं जिनमें यहां का समाज समय-समय पर अपने जीवन के अनुभवों, मनोभावों को व्यक्त करता है। चौपई में जब रंग-बिरंगी पगड़ियां पहने किसान नगाड़े के ऊंचे स्वर से स्वर मिलाते हैं तो जीवन का सारा आनन्द नाचने लगता है, रस बरसने लगता है और दर्शक-श्रोतागण मस्ती से झूमने लगते हैं। इस प्रकार हरियाणवी ब्रज का यह क्षेत्र लोक संस्कृति की समृद्ध परम्परा का क्षेत्र है जहां जीवन में मस्ती है और लोगों के स्वभाव में बड़ा खुलापन है।

□

# अकेलेपन के साथ

## रामदरश मिश्र

***'कुछ खुराफाती लोग अपने स्वार्थवश खुराफ़ात तो करते रहते हैं न। उनके स्वार्थ टकराते हैं या उनके अन्याय का मैं प्रतिरोध करता हूं तो वे मुझे मिटा देने पर आमादा हो जाते हैं। गावों में जो भयंकर गुंडागर्दी उभर रही है, मैं उस से अकेले कैसे लड़ सकता हूं।' इसी कहानी से लिया गया यह अंश इस बात का गवाह है कि आज हमारे गावों की स्थिति भी वैसी नहीं रही जैसी पहले थी। शहरी आबोहवा का असर गावों में भी पड़ने लगा है। समाज के नए ताने बाने का विश्लेषण इस कहानी में है।***

कल शाम को फिर गांव के एक मित्र के गुजर जाने की खबर मिली तो मन बहुत उदास हो गया।

'एक एक जा रहे सभी
मन बड़ा अकेला लगता है' पंक्ति रात भर मन में आती जाती रही।

दिसंबर की ओस-लदी ठंडी रात की उदासी में उस मित्र के चले जाने का अवसाद भर आया था और मै सुबह को अपने दरवाजे पर आ खड़ा हुआ था नयी धूप के लिए। और न जाने कितने-कितने पुराने मित्र याद आ रहे थे।

देखा एक बुजुर्ग सा आदमी सड़क पर खड़ा होकर किसी से कुछ पूछ रहा है और वह आदमी उस बुजुर्ग को कुछ बता रहा है मेरी ओर इशारा कर के बुजुर्ग मेरी ओर देखता हुआ मेरी ओर आने लगा। उसकी कमर झुकी हुई थी लेकिन चेहरे पर

एक उत्सुक मुस्कान थी। जब वह मेरे पास आ गया तो बोला—

'अरे भाई कैसे हो? कितने दिनों बाद भेंट हो रही है।'

'मैंने भी पहचान लिया—'अरे भाई दौलत सिंह तुम ज़िंदा हो, जानकर बहुत प्रसन्नता हुई। इन दिनों तुम बहुत याद आ रहे थे। मैंने लपक कर उसका सामान ले लिया और कमरे के अंदर ले आया। पत्नी को पुकार कर कहा-'अरे देखो तो कौन आया है।'

पत्नी आयीं और बोलीं-'अरे दौलत भाई साहब।'

वाह भाई, कमाल है तुम सबने पचास साल बाद भी मुझे देखते ही पहचान लिया।'

'बात यह है दौलत कि तुम्हारा चेहरा ही ऐसा है कि एक बार जिसकी स्मृति में अंकित हो जायेगा निकलेगा नहीं। लाखों में एक जो हैं।'

दौलत मुस्कराया 'ठीक कहते हो दोस्त, मेरा चेहरा ही कुछ ऐसा है कि सभी लोग इसे देखकर भड़कते रहे या मज़ाक उड़ाते रहे। मित्र भी सटे तो तब तक जब तक दौलत के पास देने को कुछ था। जैसे ही जेब खाली हुई उसका चेहरा उन्हें खौफनाक या हास्यस्पद लगने लगा। पता नहीं कैसे एक तुम बचे रहे गये अपने से दीखने वाले।''

लगा मजाक में कही गयी मेरी बात दौलत को चुभ गयी और इसके भीतर के घने अवसाद को कुरेद गयी। हंसी में ही उसके दर्द को उड़ाने की चेष्टा करता हुआ मैं बोला-''शुक्रिया दोस्त, इतने बेगानों के बीच जो मुझे अपना समझा। सच कहूं-इन दिनों पुराने मित्रों की बहुत याद आ रही थी और तुम्हारी याद तो आती ही रहती है। तुम आये तो बहुत अच्छा लगा। कितने समय बाद तुम्हें देख रहा हूं। इस लंबे समय-अंतराल में तुम्हारी याद आती रही-मैं जानना चाहता रहा। कहां हो तुम, कैसे हो तुम? क्या कर रहे हो तुम? लेकिन कुछ भी मालूम नहीं होता था। हां तीस साल पहले तुम्हारा एक पत्र मिला था (शायद तुमने किसी पत्रिका से मेरा पता लिया था) कि तुम होम्योपैथी की डाक्टरी कर रहे हो बिहार के किसी गांव में।''

''हां अभी भी वही कर रहा हूं लेकिन जगह बदल दी है।''

''अब कहां हो?''

''अब उसी जिले के शीतलपुर कस्बे में आ गया हूं।''

''क्यों तुम जगहें क्यों बदल रहे हो? डाक्टरी तो एक जगह जम जाती है तो डाक्टर वहां से हटने का नाम नहीं लेता।''

''हां वह तो नहीं लेता लेकिन कुछ खुराफाती लोग अपने स्वार्थवश खुराफात तो करते रहते हैं न। उनके स्वार्थ टकराते हैं या उनके अन्यायों का मैं प्रतिरोध करता हूं तो वे मुझे मिटा देने के लिए आमादा हो जाते हैं। गांवों में जो भयानक गुंडागर्दी उभर रही हैं, मैं अकेले उससे कैसे लड़ सकता हूं? आखिर में वह जगह छोड़नी पड़ती है। कौन वह अपनी पुश्तैनी जागीर है, यहां नहीं तो वहां डाक्टरी करूंगा।''

"अरे भाई साहब के आते आते ही सारा कुछ पूछ जाइएगा।" कहते हुए श्रीमतीजी चाय नाश्ता लेकर उपस्थित हो गयी थीं।"

"हां बिलकुल ठीक कह रही हो।" मैंने कहा।

"तुम कैसी हो?" दौलत ने पत्नी से पूछा।

"ठीक हूं भाई साहब!"

"नहीं ठीक तो नहीं लग रही हो, कुछ दुबली नजर आ रही हो।"

"अरे दुबला मोटा होना तो लगा ही रहता है। और उम्र के साथ कुछ रोग भी लग जाते हैं। रह-रह कर सिर दर्द तो दुखी करता ही है अब बात रोग भी दस्तक देने लगा है।"

"कोई बात नहीं अब मैं आ गया हूं न, सब ठीक हो जायेगा। मेरी दवा नियम से खाओगी तो महीने भर में इन रोगों से मुक्ति मिल जायेगी।"

पत्नी और मेरी नज़रें मिलीं। जैसे पूछ रही हों कि इन महोदय का इरादा क्या है?

मैं सोचने लगा कि आखिर यह कहीं टिक क्यों नहीं पाता? यह क्यों हर जगह अकेला रह जाता है? इतना संवेदनशील, मानवीय मूल्यों के लिए इतना समर्पित, दीन-हीनों का इतना साथी व्यक्ति आखिर क्यों अकेला रह जाता है? बचपन अकेलेपन में बीता, जब वह मेरे साथ इंटर, बी.ए. में पढ़ता रहा, तब भी अकेला सा ही था। खेत बेच कर कुछ पसे इकट्ठे किये थे पढ़ने के लिए। जब तक वे पैसे थे तब तक कुछ लोग उससे जुड़े रहे, जैसे ही पेसे खत्म हुए वे सरक गये और वह अपने अभावों के साथ अकेला हो गया। और उसी अकेलेपन में वह मुझसे जुड़ा। जुड़ा तो जुड़ता ही चला गया।

वह अपने अभावों के बीच भी अपनी संवेदनशीलता को व्यवहृत करता रहा और उसके लिए मुझे दंडित होना पड़ता था। उसकी अभावग्रस्तता का बोझ कुछ-कुछ मेरे कंधों पर झुकने लगा था और मैं ही कौन धन्ना सेठ था? बस काम भर को पैसे घर से मिल जाते थे, फिर भी उसी के बल पर दौलत के भी थोड़े बोझ को संभाल लेता था। यह तो ठीक है किंतु जब वह चलते-चलते किसी भिखारी को देख कर मुझसे कहता था-"मलय जरा एक रुपया देना, इस बेचारे को भूख लगी होगी" तो मुझे गुस्सा आ जाता था-यद्यपि मैं दे देता था-किंतु मन ही मन झल्लाता था कि ये हजरत मुझसे पैसे मांग-मांग कर दान-पुण्य करेंगे। अपने खाने का ठिकाना नहीं, दूसरों के खाने का इंतज़ाम करने चले हैं। कभी-कभी मेरे मना करने पर क्रोध में आकर वह भाषण देने लगता था और मनुष्यता का पाठ पढ़ाने लगता था। मैं भी क्रोध में आ जाता था और काफी कहा-सुनी हो जाती थी। वह, गुस्से में अपनी ही कोई चीज़ तोड़ बैठता था।

उसके इस स्वभाव के नाते ही लोग इसे या तो चिढ़ाते थे या बचकर निकल जाते थे। और मैं सोचता था इतने मानवीय सोच वाले व्यक्ति के साथ तो अनेक लोगों

को जुड़ना चाहिए लेकिन होता उलटा है। और इसी कारण वह बात बात में चिढ़ जाता था।

"अरे यार मलय, नाराज़ हो क्या?" थोड़ी देर बाद वह मेरे कमरे में आकर बोलता।

मैं चुप रहता।

"अरे माफ करो यार, क्या बताऊं बचपन से उपेक्षा और चोट खाते-खाते स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया है।"

"हो गया है तो मैं क्या करूं? तुम्हारे चिड़चिड़ेपन की सज़ा मैं भोगूं? तुम क्या थे, क्या हो, यह तुम जानो। मुझे तो अपने ढंग से जीने दो। आखिर तुम्हारे कारण मैं अपनी शांति क्यों भंग करूं?"

"हां सो तो ठीक कहते हो आखिर मैं तुम्हारा क्या लगता हूं, किसी का क्या लगता रहा हूं?" कह कर वह चल देता। फिर पता नहीं चलता कि इसके बाद कब हम दोनों चुपचाप एक दूसरे के साथ हो लेते और शाम को घूमने निकल जाते। हम दोनों इंटर से लेकर एम०ए० तक साथ थे। मैंने एम०ए० कर लिया किंतु दौलत एम०ए० में लटकता रहा। मैं पी०एच०डी० करने लगा तो दौलत एम०ए० का इम्तहान देने आता था। कई बार आया। उस समय मैं अपनी पत्नी के साथ शहर की एक वीरान जगह पर रहता था-सस्ते में कमरा लेकर। मैंने घर से पैसा लेना बंद कर दिया था, घर देने की स्थिति में भी नहीं था। पी०एच०डी० करने की प्रक्रिया में सौ रुपये वजीफा मिलता था किंतु बहुत अनियमित। बड़े कठिन दिन थे वे। उसी मैं दौलत परीक्षा देने आता था और लगभग महीना भर मेरे यहां रहता था। मैं उसे 'ना' तो बोल नहीं सकता था। आखिर उसे इम्तहान तो देना ही है और देना है तो जायेगा कहां? वह रहता था तो पूरे अधिकार के साथ रहता था। इसी तरह भिखारी को देने के लिए पैसे मांगता था, जाते समय रेल का किराया भी देना पड़ता था, वह जब तक रहता था उसी तरह लड़ता-झगड़ता था, झल्लाता था।

मैं पी.एच.डी. का काम पूरा करके दिल्ली चला आया। फिर पता नहीं चला कि दौलत का क्या हुआ?

एक दिन उसकी चिट्ठी आयी कि वह इन दिनों बिहार के एक गांव में होम्योपैथी की डाक्टरी कर रहा है। जानकर थोड़ा संतोष हुआ किंतु चिंता भी हुई कि पता नहीं इस डाक्टरी से वह कितना कमा पायेगा। फिर सोचा अकेला आदमी है, अकेले आदमी की रोटी का प्रबंध तो हो ही जायेगा। इस फक्कड़ आदमी की आवश्यकता ही कितनी है? यों वह तमाम जरूरत मंदों की ज़रूरतों को अपनी जरूरतें समझ ले तो कोई क्या कर सकता है। फिर कुछ दिन बाद एक चिट्ठी आयी-'भई तुमसे एक राय लेनी है। शादी करना चाहता हूं। तुम्हारी क्या राय है?'

"शादी?" मैं चौंका। अब पचपन साल की उम्र में यह शादी करेगा। मैं क्या राय दूं? लेकिन शादी करेगा तो दुकेला तो हो जायेगा। जीवन के शेष दिन तो किसी

के साथ बीतेंगे। मैंने लिख दिया-"तुम डाक्टर हो, किसी विधवा मरीज से प्रेम कर लो। हां उम्र देख लेना। यानी अपने आसपास ही की उम्र।"

उसका क्रोध भरा पत्र आया। "मैंने तुमसे राय मांगी और तुम मज़ाक पर उतर आये। मरीज़ मेरे यहां दवा कराने आते हैं, प्रेम करने नहीं। डॉक्टर और मरीज़ का संबंध पिता-पुत्री का होता है। और सुनो-पता नहीं मैंने किस कमज़ोर क्षण में वह बात कह दी थी मैंने शादी करने का विचार मन से निकाल दिया।"

मैंने भी डांट कर लिखा कि मैंने कोई मज़ाक नहीं किया था। तुमने राय मांगी थी मैंने दी थी। हर मरीज़ औरत तुम्हारी बेटी लगती है तो सबके बाप बने रहो।... खैर तुमने शादी का विचार छोड़ दिया तो यह भी ठीक ही किया।"

"हां भाई साहब कैसे रहे? कहां से आ रहे हैं।"

मैंने देखा दौलत चाय पी चुका है और पत्नी आश्वस्त भाव से सामने बैठ गयी हैं।

"ठीक ही रहा। फिलहाल तो मैं हरिद्वार से आ रहा हूं।"

"अच्छा हरिद्वार नहाने गये थे मियां? मैंने पूछा।

"अरे भाई तुम तो जानते हो कि इतने दिन गंगा के किनारे रह कर भी मैं गंगा में नहाने नहीं गया तो अब क्या जाऊंगा। बस सोचा, थोड़ा घूमना-फिरना हो जायेगा। अकेले तो अब कहीं आ जा पाना कठिन है इसलिए अपने मन के स्थानों पर तो जा नहीं सकता। एक सज्जन हरिद्वार नहाने जा रहे थे उन्होंने आग्रह किया कि मैं भी चलूं। सो उनके साथ हो लिया। वे नहाते रहे, मैं गंगा किनारे घूमता रहा। स्टेशन लौटते समय मैंने उनसे कहा-"आप जाइए मुझे दिल्ली में अपने दोस्त से मिलना है।"

"बहुत अच्छा किया आपने। ये तो आपको प्रायः याद करते हैं।"

"अच्छा बातें तो होती ही रहेंगी। पहले तुम अपने मर्ज की जानकारी दो।" वह पत्नी से बोलीं।

पत्नी से सुन सुन कर उनका हाल वह कागज पर नोट करने लगा। फिर झोले में से दवाइयां निकालीं और कहा-'अभी से तुम्हारा इलाज शुरू।'

और इलाज शुरू हो गया। और तुम्हारी क्या परेशानी है भाई, बहुत खांस रहे हो। उसने मुझसे पूछा।

"हां भाई जानते ही हो कि मैं जुकाम का पुराना मरीज़ हूं। और जब जाड़ा आता है तो बहुत परेशान करता है। जाड़े भर साथ ही नहीं छोड़ता।"

"तुम एक काम करो जाड़े भर गरम पानी पिया करो। साल भर पियो तो और अच्छा किंतु जाड़े भर तो पियो ही।"

"सो तो पीता ही हूं परेशानी तब पैदा होती है जब घर से स्थानीय या बाहरी यात्राओं पर निकलता हूं। किस-किससे गरम पानी मांगूं?"

"अरे भाई, जहां चाह वहां राह। मैं भी गरम पानी ही पीता हूं। और बाहर भी उसकी व्यवस्था हो ही जाती है। हरिद्वार में घूमता रहा किसी भी चाय वाले से एक

गिलास गरम पानी मांगता था तो मिल जाता था। तुम भी किसी से मांगोगे तो जरूर मिल जायेगा।''

मैं बोला—''भाई मांगने-मांगने के प्रभाव में अंतर होता है। किसी को मांगना आता है किसो को नहीं आता। मैं मुस्कुराया। वह फिर पत्नी को दवा का विधि-विधान समझाने लगा। पत्नी उठतीं थीं तो कहता था—''तुम लोगों में यही दोष है कि अपने बारे में कुछ सोचती नहीं। बैठो और विस्तार से सुन लो बल्कि लिख लो कि तुम्हें क्या क्या खाना-पीना है, कैसे रहना है?''

पत्नी ऊब सी रही थी और मेरी ओर देखकर मानों पूछ रही थीं-क्या करूं?''

मैंने दौलत को डांट कर कहा-''अजीब अहमक आदमी हो। अरे इन्हें और भी काम करने हैं दिन भर बैठ कर तुम्हारा दवा-प्रवचन सुनेंगी तो घर के काम-काज कैसे होंगे? भोजन का वक्त हो रहा है इन्हें सबसे पहले रसोई से जूझने दो।''

''हां यह भी ठीक है जाओ भई जाओ, फिर समझा दूंगा।''

वे रसोई में चली गयीं तो मैंने आश्वस्त भाव से पूछा—''हां और कहो प्यारे, तुम्हारी डाक्टरी कैसी चल रही है?''

''डाक्टरी क्या चलनी यार, देहात में कोई पैसा देना चाहता ही नहीं और मैं भी कहां पैसे के लिए डाक्टरी कर रहा हूं? अरे एक तरह सेवा है और मेरा समय भी एक सार्थक कार्य में कट जाता है। जो थोड़ा बहुत मिल जाता है उससे काम चल जाता है।''

''तो तुमने पहली दुकान क्यों छोड़ी?''

''अरे भाई, उस गांव के जो धनी मानी लोग हैं, वे गरीबों पर अत्याचार करते हैं और मैं गरीबों की ओर से उन्हें कुछ सुना देता हूं। उन्हें यह भी तकलीफ है कि मैं गरीबों की मुफ्त दवा करके उन्हें अपनी ओर मिला रहा हूं। धीरे-धीरे उनमें असंतोष बढ़ता गया और एक सुबह देखा कि मेरी दुकान तोड़-फोड़ दी गयी है और उस पर एक धमकी भरा पत्र चिपका दिया गया है कि यहां से चले जाओ नहीं तो खैर नहीं है।''

''तो तुमने वह जगह छोड़ दी?''

''क्या करता यार! देखा कोई भी आदमी उन गुंडों के विरोध में मेरे साथ नहीं आ रहा है तो सोचा अकेले क्या कर लूंगा?''

''और वे लोग जिनके लिए तुमने धनी लोगों से विरोध मोल लिया और जिनकी मुफ्त दवाई करते रहे।''

''अरे वे तो खुद ही बेचारे हैं वे क्या कर लेते?''

''तुम्हारे साथ खड़े होने का आभास तो दे सकते थे। वे इस कदर बेचारे नहीं रह गये हैं। उनके अपने संगठन हैं। वे अपने हित-अहित समझते हैं और अपने हित के लिए संगठित लडाई लड़ने लगे हैं।''

दौलत चुप रहा। फिर मैंने ही बात आगे बढ़ाई-''दरअसल तुम नंबरी मूर्ख हो

दौलत। मैं तुम्हें कब से देख रहा हूं। पचास साठ वर्षों में तुमने ग्रो नहीं किया। जहां थे वही रहे-सारी मानवीय सहानुभूति और पर-सेवा के बावजूद दुनिया की निगाह में एक झल्लाने वाला अहमक, दूसरों के लिए बहुत कुछ करने के बावजूद उनसे परित्यक्त अकेला आदमी। दरअसल तुम्हारे समान निःस्वार्थी और सेवा-भावी मनुष्य तो अपने परिवेश में पूजा जाता है, विशिष्ट जन भले ही न पूजें जनसामान्य तो जान निछावर करता है। और तुम न पैसा कमा पाते हो, न लोगों का सम्मान और प्यार। कहीं कुछ तो भारी गड़बड़ है तुममें। कभी सोचा है इस पर?''

दौलत चुप रहा। फिर बोला-''अरे यार पैसा कमाना अपने जीवन का कोई मानदंड है क्या? पैसे तो बहुत लोग कमाते हैं किंतु कितने कमीने और घृणित होते हैं और रही बात सम्मान और प्यार की...

बोलते बोलते रुक गया क्योंकि स्कूल से मेरा छोटा पोता अभिषेक उसके सामने आ गया था। ''अरे अरे भाई यहां आओ।''

अभिषेक ने उसे देखा, मुंह बनाया और अन्दर को सरक गया।

''अरे यार मलय, इधर कोई मिठाई की दुकान है?''

''हां है क्यों नहीं मगर क्यों पूछ रहे हो?''

''भाई, खाली हाथ चला आया। मन में शंका थी कि पता नहीं तुम्हारा घर मिले किं नहीं। घर मिले तो तुम दोनों मिलो कि नहीं।''

''क्यों घर मिलेगा तो हम क्यों नहीं मिलेंगे?''

''अरे रहे अहमक के अहमक, तुम दोनों कहीं बाहर नहीं जा सकते हो?''

''हां यह तो है।''

''तब?''

''तब कुछ नहीं चुपचाप बैठो।''

''नहीं जाऊं थोड़ी मिठाई लेता आऊं।''

''मैंने कहा न चुपचाप बैठो, मिठाई-सिठाई की जरूरत नहीं है।''

''अरे यार ऐसा कैसे हो सकता है। घर में बच्चे हों और मैं उन्हें कुछ दे न सकूं। मिठाई तो मुझे लानी ही चाहिए।''

''तो जाओ उस मोड़ पर ही दुकान मिल जायेगी।''

वह उठ खड़ा हुआ। खड़ा तो हो गया लेकिन हिला नहीं। लगा किसी असमंजस में है।

''क्या क्या साथ चलूं?''

''नहीं यार वह बात नहीं है।''

''तब?''

''यार सौ रुपये दो, मेरे पास पैसे नहीं हैं।''

मैंने पैसे दे दिये और वह मिठाई लेने चला गया। मैं परेशान हो गया यह सोच कर कि इसने जीवन में इतना भी नहीं कमाया कि कहीं जाये तो सौ-दौ सो रुपये पास

में रहें। यानी यह रह गया जैसा का तैसा उल्लू का पट्ठा-चिड़चिड़ाता हुआ, झगड़ा करता हुआ। यह सोच कर भी परेशान हुआ कि जितने दिन रहेगा भिखारियों को भीख देगा, बच्चों के लिए कुछ न कुछ लायेगा और इन सबका खर्च मुझी को उठाना पड़ेगा। और जब जायेगा तब इसके किराये भाड़े तथा पाथेय का प्रबंध करना पड़ेगा।

धीरे-धीरे दिन बीता। दौलत की राम कहानी रह रह कर चलती रही। पत्नी से पूछता रहा—दवा ली कि नहीं। और न लेने पर गुस्से से लेक्चर झाड़ता रहा। नियमित होने का उपदेश देता रहा।

पत्नी परिवार की संचालिका है। पूरे परिवार के योग-क्षेम की चिंता रखती है और उस प्रक्रिया में अपने स्वास्थ्य की चिंता उन्हें कम रहती है। एक तरह से जीने का उनका अपना ढंग बन गया है। मैं जानता हूं उसी में ये सुखी रहती हैं इसलिए बहुत दखल मैं भी नहीं देखा किंतु दौलत तो अभिभावक बन कर सवेरे से ही उन्हें टोक रहा है और नियम का पाठ पढ़ा रहा है। शायद इस तरह वह अपना गहरा लगाव व्यक्त कर रहा है। भीतर-भीतर मैं भी इस टोका-टोकी से उद्विग्न हो रहा था और पत्नी तो हो ही रही थीं। वे दौलत से कुछ कह नहीं पा रही थी। किंतु मुझसे-धीरे से कहा—"लगता है इन्हें और कोई काम नहीं है मुझे दवा पिलाने के सिवाय। इन्हें कोई काम हो या न हो मुझे तो है न।"

अगली बार जब दौलत ने पत्नी को टोका और नसीहत देनी शुरू की तो मैं अपने को संभाल नहीं सका। बोला-हद है यार, तुम दिन भर यही देख रहे हो कि उन्होंने दवा पी कि नहीं। अरे वे कोई बच्ची हैं? तुमने बता दिया है पी लेंगी और उन्हें ढेर सारे काम हैं घर में। एकाध बार भूल जायें, यह स्वाभाविक है।

वह चुप हो गया। किंतु लगा कि उसे मेरा बोलना कुछ भारी पड़ा। यों ही दिन बीतने लगे। दो दिन बीते, तीन दिन बीते। पत्नी मुझसे पूछने लगीं-कब तक रहेंगे ये?"

"मुझे कुछ पता नहीं। इस संबंध में कोई बात नहीं हुई। लेकिन जब तक रहें रहें क्या फर्क पड़ता है?"

"फर्क आपको नहीं पड़ता है लेकिन बच्चों और बहुओं को पड़ता है। छोटा सा घर है, इसी में एक अपरिचित आदमी के सामने उनका आना-जाना लगा रहता है। ये तो चौबीस घंटे इसी कमरे में बैठे रहते हैं किंतु औरों को तो काम करना होता है, उस कमरे में भी झाड़ू पौंछा करना होता है। सवेरे-सबेरे बाथरूम में घुस जाते हैं तो घंटा भर निकलते ही नहीं। उसी में कपड़े भी फींचने लगते हैं। मैं कहती हूं कि कपड़े छोड़ दीजिए। मशीन से धुल जायेंगे किंतु कहते हैं-"नहीं अपने कपड़े मैं खुद धोऊंगा। बहू और बच्चों को स्कूल जाना होता है हड़बड़ी मची होती है।"

"कह क्यों नहीं देती कि आप देर से नहा लीजिएगा।"

"कहा क्यों नहीं, तो कहते हैं कि "मैं तो नहा-धोकर ही नाश्ता करता हूं" और जब आठ बजे आपको नाश्ता देती हूं तो उन्हें भी देना ही है।"

"हां यह तो है। बात यह है कि वह मेरे घर को अपना ही घर समझता है और

पहले ही की तरह (यानी जब केवल मैं और तुम थीं) अधिकार पूर्वक अनौपचारिक रूप से इस घर, में भी रहना चाहता है। अपने ही घर में बच्चों और बहुओं के बीच मुझे अपनी कई आदतें बदलनी पड़ीं लेकिन यह तो जस का तस रह गया। अरे भाई, जस के तस भी रहो लेकिन दूसरे के घर में रहो तो वहां की सुविधा-असुविधा के अनुसार व्यवहार करो। माना कि तुम मेरे बहुत हितैषी हो और इस अवस्था में भी इतनी दूर से मिलने चले आये हो लेकिन मेरे घर वालों को तो उनके ढंग से चलने दो।''

चौथे दिन हम तीनों बैठे चाय पी रहे थे। दौलत ने फिर हरिद्वार यात्रा की कहानी छेड़ दी। ''भाई दुनिया में बुरे ही लोग नहीं रहते, अच्छे लोग भी मिलते रहते हैं। अब देखिए मैं हरिद्वार से आ रहा था तो गाड़ी में खुर्जा के पास के एक गांव का एक आदमी मिल गया। बातचीत में उसे मालूम हुआ कि मैं होम्योपैथी की डाक्टरी करता हूं तो बहुत प्रसन्न हुआ और उसने मुझसे आग्रह किया कि कि मैं उसके गांव में ही डाक्टरी करूं। वह उस गांव का मुखिया है, रहने, खाने-पीने और दुकान सबकी व्यवस्था कर देगा।''

''यानी अब तुम तीसरी जगह प्रेक्टिस करोगे?''

''हां, भाई दूसरी जगह भी रास नहीं आ रही है। बल्कि यों कहो कि उस जगह को मैं रास नहीं आ रहा हूं।''

''हूं।''

''बोलो तुम्हारी-क्या राय है।''

''अब मैं क्या बोलूं? मैं न उस गांव को जानता हूं न उस आदमी को। मैं कैसे कोई राय दूं।'' वह आदमी लबार भी तो हो सकता है। तुम हां जाओ और तुम्हें पहचाने ही नहीं। और गांव अब वह गांव कहां रहा?''

''हां मैं भी असमंजस में हूं।''

'हम लोग चुप रहे।'

वह कुछ संकोच के साथ बोला—''एक बात मेरे मन में उठ रही है।''

''बोलो।''

''यह जो तुम्हारा आगे वाला छोटा कमरा है न।''

''हां है।''

''वह मेरी डाक्टरी के लिए कैसा रहेगा? तुमने बताया था कि यहां आसपास होम्योपैथी का कोई डाक्टर भी नहीं है मेरी प्रैक्टिस चल जायेगी और दोस्त के साथ जीवन के शेष दिन कट जायेंगे।''

मैंने पत्नी की ओर देखा। उनका चेहरा उतर गया था और शायद सोच रही थीं कि पता नहीं मैं क्या जवाब दूं।

मैं चुप रहा। ऐसे प्रस्ताव का क्या जवाब देता। इसी बीच कोई और मित्र मिलने आ गये और बात जहां की तहां रह गयी।

रात को पत्नी ने पूछा—''क्या सोचा आपने दौलत भाई के प्रस्ताव के बारे में?

मैं चुप रहा तो पत्नी को आशंका हुई कि मैं कहीं दौलत के प्रस्ताव के पक्ष में तो नहीं सोच रहा हूं। बोलीं-देखिए ऐसी गलती मत कीजिएगा। सवाल कमरे तक का नहीं है, इस घर की सहज दिनचर्या में जो अस्त-व्यस्तता आयेगी उसके बारे में सोच लीजिए। चार दिन में तो यह हाल है यदि ये कहीं रह गये तो?

''हां सो तो है।''

''और यह भी सोच लीजिए कि ये जिस हालत में हैं उसमें कुछ न कुछ लगा रहेगा। पैसे रुपये से तो लगातार इनकी पूजा करनी ही होगी, इनकी बीमारी में तीमारदारी और सेवा भी करनी होगी। इनका मल-मूत्र कौन साफ करेगा? ये रह रह कर झल्लायेंगे, झगड़ा करेंगे, उसे कौन बर्दाश्त करेगा?-अभी तो अपने ही खर्च को लेकर रोज चिक-चिक होती रहती है, रिटायर होने के बाद भी आप लगे रहते हैं किसी न किसी अर्थोपार्जन के काम में।''

''यह सब ठीक है लेकिन..।''

''ठीक है, तो 'लेकिन' को लेकर लहूलुहान होइए।'' कह कर पत्नी चुप हो गयीं।

दूसरे दिन चाय पीते समय दौलत ने फिर कहा—''हां यार तुमने कोई जवाब नहीं दिया।''

''किस बात का?''

''अरे वही कि इस छोंटे कमरे में मैं प्रैक्टिस शुरू कर दूं।''

''देखो भाई, परिवार बड़ा है और मकान छोटा। अपने बरामदे में से मैंने यह एक छोटा सा कमरा निकलवाया है ताकि वहां बैठकर कुछ पढ़ लिख सकूं। देख रहे हो न जिस कमरे में हम बैठे हैं वहीं ड्राइंग रूम है, वही मेरा शयन कक्ष है, वही मेरा अध्ययन कक्ष है। यानी मेरा अपना कोई कमरा ही नहीं है।''

दौलत कुछ बोला नहीं। लगा जैसे उसे मेरी बात से संतोष नहीं हो रहा है। उसे लग रहा है कि दोस्त के लिए मुझे थोड़ी बहुत असुविधा तो उठानी ही चाहिए।

''और यार तुमने इस बात पर भी विचार नहीं किया कि मेरे ड्राइंग रूम के सामने तरह-तरह के मरीज़ों का आना-जाना, बैठना, खांसना-कराहना लगा रहेगा। मेरा घर, घर न रह कर अस्पताल बन जायेगा।''

''तो मैं कल खुर्जा ही चला जाता हूं।''

''हां चले जाओ, वही अच्छा रहेगा। गांव का मुखिया यदि अनुकूल है तो सब कुछ ठीक ही रहेगा। और गांव में अभी भी बुजुर्गों की चिंता की जाती है चाहे वह कहीं का हो।''

□

# भों...भों...भों...

## जीलानी बानो

*हैदर जाफ़री सैयद का जन्म कानपुर में 1937 में हुआ। उन्होंने अर्थशास्त्र, उर्दू और वाणिज्य विषयों में स्नातकोत्तर उपाधियां प्राप्त की हैं और उर्दू, अंग्रेज़ी, हिंदी, फ़ारसी एवं अरबी भाषाएं जानते हैं। श्री जाफ़री ने उर्दू की साहित्यिक पत्रिका 'जलते दीप' के अलावा एक हिंदी पत्रिका भी संपादित की है। वे कहानियां तथा विभिन्न विषयों पर आलेख-लेखन के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, हिंदी और उर्दू से अनुवाद भी करते हैं। आपने डार से बिछुड़ी (कृष्णा सोबती), चीड़ों पर चांदनी (निर्मल वर्मा), महाभोज (मन्नू भंडारी), चाय के बाग़ात और गर्दिश-ए-रंग-ए-चमन (कुर्रतुल ऐन-हैदर), पराये देश में (यतीन्द्र बिल्लू), ज़िंदगीनामा-ज़िंदा रुख़ (कृष्णा सोबती), जायसी (परमानंद श्रीवास्तव), उसका बचपन (कृष्ण बलदेव वैद), कुरु कुरु स्वाहा (मनोहर श्याम जोशी), वे दिन (निर्मल वर्मा) और ननिहाल में गुज़रा दिन (शंकर) कृतियों के अनुवाद किए हैं।*

''आओ आओ शर्मे, मुझे यकीन था कि आज तुम ज़रूर आओगे....'' राशिद हसन ने बेताबी से हाथ फैला कर नरेन्द्र शर्मा को अपनी बाहों में समेट लिया।

''यह तुम हर बात पर यक़ीन कैसे कर लेते हो...?'' शर्मा ने उन्हें ज़ोरदार

प्यार करके पूछा

"किसी बात पर यक़ीन ही इमान है यार, मजहब है और फिर यही यक़ीन इश्क़ कहलाता है।"

राशिद हसन ने मौलाना रूम की मस्नवी एक तरफ़ सरका दी और शर्मा ने वहां अपनी व्हिस्की की बोतल, अप्पू के आलू चिप्स का पैकिट और राशिद हसन के सिग्रेट का पैकिट रख दिया।

"अच्छा तो आज मौलाना रूम तुम से मारिफ़त की मंजिलें तय करवा रहे हैं। आहा, हा, हा ..."

शर्मा इतनी ज़ोर से हंसे, टेबिल के नीचे सोता हुआ अप्पू खड़े हो कर चिल्लाने लगा

भों... भों... भों...

बल्कि उसने आलू चिप्स की बू भी सूंघ ली और दोनों पांव शर्मा पर रख कर उन्हें प्यार करने लगा।

"हां, हां बेटा।" शर्मा ने अप्पू का सिर सहलाया दिया अब तो अप्पू भी कहने लगा है कि प्रोफ़ेसर साहब सठिया गए हैं।

दोनों आमने सामने कुरसियों पर बैठ गए तो राशिद ने सिग्रेट का पैकिट उठा लिया।

"लेकिन अप्पू जिस बात पर यक़ीन कर ले ग़लत नहीं हो सकती"

"राशिद! मेरा ख्याल है तुम इस कुत्ते को किसी और जगह भेज दो।"

शर्मा के लिए राशिद मग अन्दर से ले आए तो उन्होंने बोतल अपने आगे सरका ली।

"वरना डाक्टर राशिद हसन! मुझे डर है तुम अपने किसी स्टूडेंट को रिसर्च के लिए अप्पू का टापिक दे दोगे।

हा, हा, हा।"

शर्मा घर से य़ह बात करके आए थे कि वह राशिद के घर थोड़ी देर बैठ कर खूब हंसेंगे, कोई गंभीर बात नहीं होगी।

"शर्मे यार, क़सम ख़ुदा की। यह तो बहुत ही अहम टापिक होगा रिसर्च के लिए।" राशिद हसन ने सिग्रेट का पैकिट उठाया और टेबिल पर पड़े काग़ज़ों में लाईटर ढूंढने लगे।

"और फिर तुम अदबी दुनिया में डॉ. राशिद हसन माहिरे लिसानियात के बजाए माहिरे-हैवानात माने जाओगे, हा, हा, हा ..." शर्मा ने व्हिस्की की बोतल खोली।

"लानत" भेजो अदब पर।" राशिद ने सिग्रेट का एक लंबा कश लिया।

"मैं ने अप्पू के साथ रह कर कुत्तों की नफ्सीयात पर वाक़ई रिसर्च की है शर्मे।"

"बस करो मार। अब अप्पू की बातें करके बोर मत करो।" शर्मा ने व्हिस्की का लंबा घूंट लिया। वह जैसे अपनी वर्षों की थकान उतारना चाहते थे।

"बड़ी मुश्किल से आज मौक़ा मिला है कि तुम्हारे साथ बैठ कर थोड़ी व्हिस्की ले सकूं।

"तुम लोगे...?" उन्होंने मग उठा कर पूछा।

"आज नहीं। अन्दर थानेदार है..." राशिद ने बैडरूम की ओर इशारा किया।

वह अपनी पत्नी निशात को थानेदार कहते थे।

निशात कहती है शराब पीना गुनाह है। वह बेचारी क्या जाने मैंने कितने गुनाह किए हैं और अब उन्हें माफ़ करवाने के लिए पांच वक्त नमाज़ पढ़ता हूं, फिर हर नमाज़ के बाद अपनी मग्फ़िरत की दुआ। मगर निशात एक थानेदार की तरह हुक्म दिए जाती थी।

शराब मत पियो। सिग्रेट छोड़ दो। हर वक्त अप्पू को गोद में लिए क्यों बैठे रहते हो।"

अब घर में और कौन था... वह और अप्पू। दोनों पर निशात की सख्त निगरानी थी।

किचन में क्यों गया?"

सब बच्चे दूर-दूर जाते थे। रिश्तेदार भी बोर करते थे। रिटायर होने के बाद शाम को वह अप्पू की ज़ंजीर थामे टहलने चले जाते थे। संदिग्ध चेहरों और शोर मचाने वाली कारों पर अप्पू भोंकने लगता। फिर उन्हें भी गुस्सा आने लगता। क्लिंटन की इश्क़बाज़ी पर, बाल ठाकरे की खुशफ़हमी पर, किसी टी वी सीरियल पर, अखबार के एडीटर पर और फिर अपने बच्चों की लापरवाही पर। साले गल्फ़ और अमेरिका में मौज मना रहे हैं। किसी को एक फोन करने की फ़ुरसत नहीं मिलती।

घर लौटते समय वह तय कर लेते कि आज निशात की ज़बॉदराज़ी को रोक के रहूंगा मगर घर में घुसते ही निशात की किसी बात पर अप्पू उसे बुरी तरह डांट देता था उनका जी खुश हो जाता।

फिर वह गेट पर अप्पू की ज़ंजीर थामे राहगीरों का तमाशा देखने का बहाना करते थे मगर उन्हें पोस्टमैन का इंतज़ार होता।

बार बार उनकी नज़रें शर्मा के फ्लैट की ओर उठ जातीं थीं... आज शर्मा बालकनी में क्यों नहीं आया? शायद मनोरमा की तबीयत ज्यादा ख़राब है।

डॉ. नरेन्द्र शर्मा। साइंटिस्ट थे। रिसर्च लेब के डायरेक्टर थे।

उन्होंने एटमी पावर के नये प्रयोगों पर इतना काम किया था कि उन्हें देश से बाहर कई यूनिवर्सिटयों ने फ़ैलोशिप दिए। सारी दुनिया घूम चुके थे। पदम श्री ले चुके थे। रिटायर होते ही मनोरमा पर पक्षाघात का हमला हुआ। वह बिल्कुल अपंग हो गई। व्हील चेयर पर ले जाना पड़ता।

यह देखते ही एक बेटा कनाडा चला गया। दूसरा 'जुबली हिल्स' में जा बसा।

बेटों ने दो नौकर रख दिए सेवा करने के लिए। मगर सारा दिन शर्मा को मनोरमा की देख भाल करनी पड़ती थी। लिखना पढ़ना तो छूट गया। उन्हें समाचार-पत्र देखने की भी फ़ुरसत न मिलती। थक हार कर वह बालकनी में जा बैठते ... राशिद हसन के गेट की ओर देखने लगते। दोनों पुराने पड़ोसी थे। यूनिवर्सिटी के दोस्त। एक दूसरे की कमज़ोरियों के राज़दार। दुख-दर्द के साझेदार ... फिर जब बहुत बोर हो जाते तो नौकर से एक व्हिस्की की बोतल मंगवाते । राशिद के लिए सिग्रेट का पैकिट और अप्पू के लिए आलू चिप्स। फिर वह मौज मनाने, जी भर के हंसने के लिए राशिद के घर आ जाते थे। वह जानता था शर्मा उसके लिए कोई मज़ेदार चीज़ लाए होंगे।

राशिद को डॉ. ने सिग्रेट पीना मना कर दिया था मगर शर्मा उनके लिए एक पैकिट ज़रूर ले जाते थे। मौज मनाने। जी ख़ुश करने के लिए।

फिर जब पड़ोसी पंडित मेघ राज की बेटी सोहनी राग की प्रैक्टिस शुरू करती तो शाम के उदास साए उनकी ओर बढ़ने लगते जैसे कोई चीज़ धीमे धीमे सुलग रही है ....

लौ दे उठे ... जीवन जोत जले ...

अचानक एहसास होता कि वह न जाने कब से सुलग रहे हैं शाम का बढ़ता हुआ अंधेरा उन्हें चारों ओर से घेर चुका है ...

आओ, आओ शर्मे ... मुझे यक़ीन था आज तुम ज़रूर आओगे.....

राशिद के फैले हुए हाथ उन्हें थाम लेते हैं......

"शर्मे यार ... जाने क्यों आज शाम से जी उदास है ..." वह अप्पू की पीठ पर हाथ फेरने लगे।

"हर वक्त कुत्ते के साथ रहोगे तो यही हाल होगा।"

"शर्मे, अप्पू वाक़ई मेरी ज़िंदगी की ज़रूरत बन गया है। सब चले गए। यह मेरा साथ नहीं छोड़ता...."

"अब यह उर्दू शायरों की तरह हिज्र के राग मत छेड़ो यार....लिखना पढ़ना क्यों छोड़ दिया तुम ने .... मैं तो न्यूक्लियर पावर के नए इम्कान पर एक प्रोजेक्ट शुरू कर रहा हूं।" शर्मा ने व्हिस्की का लंबा घूंट लिया।

"छोड़ यार ... क्या मिला इतनी किताबें लिख कर ...

अब तो उर्दू भी हमारे साथ ख़त्म हो रही है।"

"बस तो फिर ठीक है। तुम अप्पू पर रिसर्च शुरु कर दो।"

शर्मा को हंसी आने लगी।

"निशात भी यही कहती है जिस घर में कुत्ते हों वहां फ़रिश्ते नहीं आते।"

"वाह यह हुई ना बात ..." शर्मा ने अपना हाथ राशिद की ओर बढ़ाया

"फिर तो मौत का फ़रिश्ता भी तुम्हारे घर नहीं आएगा।"

"मगर अब मौत के फ़रिश्ते से डरना छोड़ दिया है हमने।" राशिद ने सिगरेट

का एक लंबा कश लिया।

"इस जहन्नुम से निकल कर अच्छा है दूसरे जहन्नुम में चले जाएं।"

"मगर वहां अप्पू के बग़ैर जाना पड़ेगा।"

दोनों को हंसी आ गई।

"अप्पू ने कोई गुनाह नहीं किया है।" राशिद ने सिग्रेट की राख ऐश-ट्रे में झाड़ी।

"फिर वह क्यों जहन्नुम में जाएगा...?"

"यार राशिद ... जानवर गुनाह क्यों नहीं करते ..." शर्मा ने व्हिस्की का ग्लास टेबिल पर रख दिया।

"हां, कोई कुत्ता किसी दूसरे कुत्ते को कभी क़त्ल नहीं करता।" राशिद ने सिग्रेट का लंबा कश लिया।

"इसी लिए हर वक्त आंखें मूंदे कितने मज़े में पड़ा रहता है। उसे अपनी आक़िबत संवारने की कोई फ़िक्र नहीं है।" शर्मा ने व्हिस्की का ग्लास फिर से भरा।

"यार कुत्तों को नेक राह पर चलाने के लिए किसी अवतार की ज़रूरत नहीं, न सियासी रहनुमाई की।" शर्मा जी ज़ोर से हंसे।

"और फिर उसे न डायरेक्टर न बनने का दुख है, न प्रोफेसरशिप न मिलने का।"

राशिद ने शर्मा की ओर हाथ बढ़ाया अब उनके ठहाका लगाने की बारी थी।

"अच्छा ... एक बात और सुनो डॉ. राशिद हसन। कुत्तों को अपनी सही ज़बान सीखने के लिए डॉ. राशिद हसन की भाषा-विज्ञान पर लिखी किताबें भी नहीं पढ़नी पड़ती हैं।"

दोनों इतनी ज़ोर से हंसे कि अप्पू गुर्राने लगा भों...भों...भों...

"ज़रा ठहरो। आज अप्पू से पूछते हैं कि वह क्या बनना चाहता है..." अप्पू... अप्पू... शू... शू..." शर्मा इशारे करके अप्पू से पूछने लगे कि वह क्या बनाना चाहता है...

भों... भों... भों... अप्पू को अब गुस्सा आने लगा

"बस कुत्ते ही रहोगे...?" शर्मा ने बड़ी निराशा से राशिद की ओर देखा।

"उसे एवार्ड लेने 'पदम श्री' बनने का कोई शौक़ नहीं है।" राशिद ने हंस कर शर्मा के एवार्ड पर तंज (व्यंग्य) किया।

"कमाल है यार।" शर्मा ने बड़ी निराशा के साथ व्हिस्की का ग्लास उठाया। एक घूंट लिया "कुत्ता, बस कुत्ता ही रहना चाहता है।"

"और साला इश्क़ का रोग भी नहीं पालता।" राशिद ने ईर्ष्या भरे अंदाज़ में अप्पू की ओर देखा।

"हमारी पड़ोसन मिसेज़ रामा इंग्लैंड गई तो अपनी कुतिया को यहां छोड़ गई।" दोनों ने एक ज़ोरदार ठहाका लगाया।

"अच्छा फिर तो मिस्टर अप्पू तुम्हारी तरह उस कुत्या पर लट्टू हो गए होंगे।" शर्मा ने बिल्कुल कालिज के लौंडों की तरह आंख मार के राशिद की ओर देखा। उन्हें याद था कि यूनिवर्सिटी में एक ऐंगलो-इंडियन लड़की के इश्क़ में राशिद फ़ेल हो गए थे।

"क्या बताऊं शर्मे... साला सारा दिन लान में उसके साथ इश्क़ लड़ाता था फिर मिसेज़ रामा आई तो कुछ सकून मिला मुझे।"

"क्यों ...? तुम्हें क्या सकून मिला...?" शर्मा ने एक भौं उठाकर किसी फ़िल्मी विलेन की तरह पूछा।" फ़िराक़ की आग में आग में जलते हुए अप्पू पर तुम्हें रहम नहीं आया?"

शर्मा ने राशिद हसन के चेहरे पर जाने कौन से दुख की परछाई लरज़ती देखी कि उन्होंने व्हिस्की के लंबे घूंट में बहुत सी कड़वाहट निगल ली।

अब राशिद आंखें बंद करके कुरसी के सहारे लेट गए

"और बनो अशरफुल मख़लूक़ात...." उन्होंने कांपते हाथ से सिग्रेट की राख ऐश-ट्रे में झाड़ दी। सिग्रेट का धुआं नाक से निकाल कर आंखें बंद कर लीं।

दोनों चुप हो गए... जैसे ज़िंदगी की सारी अधूरी इच्छाओं, कड़वी यादों ने उन्हें घेर लिया हो।

"क्या मिला हमें इंसान बन कर...?" आंखें बंद करके राशिद ने कहा।

"मैं आजकल फ़ल्सफ़ए वहदतु वुजूद पर काम कर रहा हूं। सच कहता हूं शर्मे, चारों तरफ़ सवाल और शक के साए बढ़ते जा रहे हैं...?"

"प्रोफ़ेसर राशिद हसन! यह खोज और नए इम्कान की तलाश का काम साइंस के लिए छोड़ दो और अप्पू की तरह आंखें बंद किए पड़े रहा करो।"

"वाक़ई यार... कभी रश्क" आता है मुझे अप्पू पर ..."

राशिद हसन फिर संभल कर बैठ गए। नया सिग्रेट जलाया... लंबा कश लिया।

"क्या नहीं मिला उसे...?" और फिर न दुनिया का डर न आक़िबत की फ़िक्र।" उन्होंने ईर्ष्या भरे अंदाज़ में अप्पू को देखा जो मजे में आलू चिप्स चबा रहा था

"मैं ने तो सुना है कि आजकल कुत्ते एक दूसरे को गाली देते हैं कि इंसान की मौत मरोगे।" राशिद जानते थे कि अब व्हिस्की शर्मा के दिमाग़ पर चढ़ चुकी है, और उनके ठहाके अब आसूओं में बदलने वाले हैं

"बल्कि मैंने तो यह भी सुना है कि लोग दुआ मांगते हैं कि उन्हें इंसान से कुत्ता बना दिया जाए।" दोनों बड़ी ज़ोर से हंसे और अप्पू ज़ोर से चिल्ला कर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने लगा।

"अरे जाने दो यार..." शर्मा अप्पू का सिर सहलाने लगे

"हम मान लेते हैं कि डा. राशिद हसन कुत्ता बनने के क़ाबिल नहीं हैं मगर तुम इस बात पर ख़फ़ा क्यों हो रहे हो...?"

इस बार इन दोनों का ज़ोरदार ठहाका सुनकर चौकीदार दौड़ा हुआ आया और खिड़की से अन्दर झांकने लगा।

दोनों बुड्ढे सठिया गए हैं। औलाद छोड़ कर चली गई है अब पागलों की तरह हंसे जा रहे हैं बेचारे ...''

''अच्छा! तो आज की इस तमाम बहस का यह नतीजा निकला कि अब अगला जनम इंसान के बजाए कुत्ते के रूप में लेना चाहिए। हा, हा, हा...'' शर्मा ने व्हिस्की का अंतिम घूंट पी कर घड़ी देखी।

''आज बहुत हंसे। अब मनोरमा की दवा का वक्त हो गया है।'' उसी समय फ़ोन की घंटी बजी

''ज़रा ठहरो...'' राशिद कुरसी से उठने लगे तो लड़खड़ा गए और टेबिल से टकराए।

''शायद साजिद का फ़ोन होगा। आज इतवार है। नशीद आ रहा होगा।''

हैलो... हैलो... हैलो .... कट हो गया।''

उन्होंने निराशा के साथ फ़ोन रख दिया।

''तुम फ़ोन करते वक्त इतनी ज़ोर से क्यों चिल्लाते हो? तुम्हारी आवाज़ तो फ़ोन के बग़ैर भी कनाड़ा पहुंच रही होगी।''

''कहां पहुंचती है शर्मे ...'' राशिद बड़ी निराशा के साथ फिर कुरसी पर बैठ गए

''कमबख्त कोई नहीं सुनता मेरी आवाज़। दो बरस हो गए कोई नहीं आया।

तुम फोन का इंतज़ार करते हो। मैं बालकनी में बैठा राह तके जाता हूं। दूर से आती हर कार शलेंद्र की कार लगती है।''

दोनों चुप हो गए। इतने ही उदास जितने उस कमरे में आने से पहले थे। अपनी चटपटी बातों का तेज़ाब बूंद बन कर उन पर गिरने लगा

''चलता हूं यार ... मनोरमा की दवा का टाइम हो गया ... जाते जाते ...''

शर्मा चले गए तो राशिद ने फैन आन किया। ड्राइंगरूप के सब दरवाज़े खोल कर शराब और सिग्रट की बू कम की। एश-ट्रे की राख बाहर फेंकी। ख़ाली मग उठा कर बेडरूम में आए तो निशात ने रज़ाई से मुंह निकाल कर सिर उठाया ''कितना शोर मचाया है...? अप्पू की तरह क्यों भोंक रहे हो आज?''

क्या... वाक़ई...?

उनके हाथ से मग छूट गिरा....

**अनुवादक : हैदर ज़ाफरी सैयद**

□

# कचरा

## संजीव

*गरीब आदमी की जिंदगी का कोई मोल नहीं होता। कचरा कहानी के पात्र, जीवनाथ चा भी उन असंख्य लोगों में एक हैं जो रोज-बरोज किसी अमीरजादे या अमीरजादी की गाड़ी की टक्कर से दम तोड़ देते हैं। शुरू में भीड़ का गुस्सा इतना तेज होता है कि मरने वाले गरीब के साथ ही उसकी मौत के जिम्मेदार अमीरजादे या अमीरजादी को भी फूंक देने की बात होती है पर बाद में सब उत्तेजना एक-दो लाख रुपए के मुआवजे और अंतिम संस्कार के लिए मिले कुछ हजार रुपए में दब जाती है।*

'यह तो होना ही था एक दिन।' हमेशा की तरह अफजल चा ने एक छोटा-सा सुक्ति वाक्य कहा और हम दोनों ही उस वाक्य में घुलने लगे। कहानी जीवनाथ चा से शुरू होकर उनके बेटे हर्षनाथ और हर्षनाथ से होते हुए हर्ष के बेटे प्रेमनाथ और प्राणनाथ तक खिंचती चली गई थी लेकिन हम आज अन्त से आरम्भ की ओर लौट रहे थे।

मुझे आज भी वह दिन याद है, जब जीवनाथ चा की लाश को लेकर हम बर्निंग घाट जा रहे थे। ऐसी ही बारिश का दिन था वह ऐसी ही भीड़भाड़। उस रात गर्मी और उमस से निजात पाने के लिए उन्होंने बस्ती के बगल के फुटपाथ पर अपना टाट बिछाया था और किसी रईसजादी की गाड़ी उन्हें कुचल गई थी। 'चीं-ई-ई। के ब्रेक कसने की आवाज और गिर पड़ने के साथ-साथ चीत्कार की आवाज सुन कर

बस्ती के सारे लोग इक्ट्ठे हो गये। पहले तो लगा, गाड़ी के साथ गाड़ी वाली को भी फ़ूंक डालेंगे हम, मगर उत्तेजना धीरे-धीरे शिथिल पड़ती गई। क्लब के लड़के ही अगुआई कर रहे थे। उन्होंने जो भी मांगा, उन्हें मिला। इस तरह मौत के मुआवजे के रूप में दो लाख, अन्त्येष्टि के लिए दस हजार अलग से और क्लब के लिए एक बड़े कलर टी.वी. पर बात रफा-दफा कर जब उनकी लाश लेकर हम निकले तो पौ फट रही थी। बूंदें पड़नी शुरू हो गई थी। शहर के एक ओर ऊंची-ऊंची बिल्डिगों की कतारें थीं, दूसरी ओर शहर का उलीचा गया कचरा जिस पर अपनी बस्ती आबाद थी और दोनों के बीच सड़क जिस पर छींटें मारती गाड़ियां सर्र-सर्र गुजरी जा रही थीं। सौदेबाजी की इस पूरी प्रक्रिया से अफजल चा और मैं अलग थे हालांकि जीवनाथ चा अफजल चा के साथ ही गैरेज में काम करते थे, मेरे दिवंगत पिता भी और मैं बेटा न होते हुए भी बेटे जैसा ही मानते आये थे मुझे जीवनाथ चा। मेरा मन बार-बार रोने को करता। हर्ष को ढाढ़स कैसे दिलायेंगे हम? मां पहले ही गुजर चुकी थी आज बाप का साया भी जाता रहा सर से। कहीं-कहीं यह सारा कुछ बेहद अटपटा और खीझ भरा था। इतनी तेजी से घटनाएं घटीं हम बस असहाय से देखते भर रह गये। तनिक फांका मिला तो पीटर ने कहा, 'हमसे चूक हो गई।'

'कौन-सी ?' मुनौव्वर ने पूछा,

''इतने सस्ते में उसे नहीं छोड़ना चाहिए था।''

'ठीक कहते हो, दो के बदले तीन लाख मांगना चाहिए था'

'तीन क्या, पांच भी मांगते तो झख मार कर उसे देना पड़ता।' यह चौबे थे।

'अगर वह दो भी न देती तो तो क्या बिगाड़ लेते उसका? पवार ने पूछा।

'अरे वो तो कह रही थी कि फुटपाथ पर यह आदमी सोया ही क्यों था, फुटपाथ तो आदमी के पैदल चलने के लिए होता है।'

'देखो, मुंह से गाली मत निकलवाओ।' कुलकर्णी ने कहा, फुटपाथ अगर सोने के लिए नहीं बना तो गाड़ी चलाने के लिए भी नहीं बना।'

'आक्खा दुनिया में ई पइसा वाला जो बोल दे वो-ई कानून है क्या समझे?' सलीम ने कहा।

इन चर्चाओं पर मैं बराबर कुढ़ रहा था। एक दूसरे की छोटी-छोटी बातों पर भी हंगामा खड़ा कर देने वाले बस्ती के लोगों की आवाजें इस कदर सिड़ा क्यों गई थीं? ये चुपचाप ऐसे चले जा रहे थे, जैसे बारिश की भींगती भेडें, जैसे उनके कंधों पर जीवनाथ चा की लाश नहीं दो लाख का चेक, दस हजार नकद और एक कलर टी.वी. हो?

'लेकिन बेचारे जीवनाथ चा ...।' मैंने जबरन चर्चा को जीवनाथ चा के हादसे की ओर मोड़ना चाहा।

'ओह भौत बुरा हुआ। भौत ई बुरा हुआ। लेकिन अच्छा भी हुआ ऐसा बाप नसीब से किसी किसी को मिलता है जो मरते-मरते अपने बाल बच्चों के जीने खाने

का पक्का इन्तजाम कर गया।' पीटर ने सीने पर पवित्र क्रास बनाया।

जितनी बार मैंने चर्चा को जीवनाथ चा के हादसे पर केन्द्रित करने की कोशिश की, वह हासिये पर ठेल दी गई। मैंने आगे बढ़कर हर्ष को छुड़ाया और लाश को कंधे दिये। शवयात्रा में शामिल बस्ती के लोगों की चर्चा कई पड़ावों की परिक्रमा करती हुई अब कुचलने वाली कार और उसकी मालकिन की सुन्दरता और अपने देश की सड़कों की दुर्दशा पर मंडरा रही थी।

'वाह, क्या मॉडल था, क्या फिनिशिंग और क्या स्पीड! श्लेष में की गई यह टिप्पणी बहुत धीमे से की गई थी कि कहीं अफजल चा न भड़क जांय?

'यहां भी विदेशी तर्ज के हाईवे बनने चाहिए।'

'बन भी जांय तो इन सुअरों का क्या करेंगे हम?'

यह वाक्य चौबे ने जानबूझ कर अफजल चा को उकसाने के लिए कहा था, जिनका आप्त वाक्य था, 'शुकर मनाओ, कि सूअर हैं।' लेकिन अफजल चा वैसे ही चुपचाप जनाजे के पीछे-पीछे चलते रहे।

चर्चा अब सूअरों पर मंडरा रही थी। अफजल चा यूं ही नहीं कहते थे, ये सुअर ही तो हैं जो हमें अपने नरक से थोड़ी बहुत निजात दिलाते थे, वरना इस कचरा बस्ती में न हमारा कोई संडास था, न मैदान, न मकान। यह और बात थी कि सूअरों से मुझे बराबर घिन आया करती। कमबख्त टपरों तक में घुस आते कभी-कभी। 'अच्छा टी.वी में कभी यहां के सूअर दिखाये जाते हैं?' चौबे ने कहा तो लोग भन्ना उठे।

'जाना कहां है?' सहसा अफजल चा की आवाज ने हमें पीछे से खींच लिया। थोड़ी देर तक हम भौंचक रह गये, जैसे हमें पता न हो कि हम कहां जा रहे हैं। धीरे-धीरे हम खुद में लौटे, अरे हां, बर्निंग घाट 'तो पीछे छूट रहा है।'

रुक गयी शव यात्रा। पीटर ने स्पष्ट किया, 'यहां फूंकना है तो लौट चलो और गांव ले जाना हो तो टैक्सी स्टैन्ड उधर है।

'क्यों हर्षनाथ?' पहली बार हर्षनाथ की ओर रुख किया हम सब ने।

हर्षनाथ खुद में उलझ रहा था, 'उनकी आत्मा तो गांव में ही बसती थी।'

थोड़ी देर तक कन्फ्यूजन की स्थिति बनी रही। क्लब के लड़कों ने आपस में विचार विमर्श किया, आखिर चौबे ने आगे बढ़कर हर्ष के कंधे पर हाथ रख दिये, 'वैसी बेबकूफी हरगिज न करना। गाड़ी-वाड़ी, बर्फ की सिल्लियां, सेंट-वेंट-हर थाने में जवाब दो सो अलग। बाप के साथ-साथ दो लाख का चैक भी फुंक जायेगा सोच लो।''

'चौबे की बात में हन्ड्रेड परसेन्ट दम है।' घोरपड़े ने कहा, 'लाश को तो यहीं फूंक दो, हां, राख को गांव-वांव, गंगा-वंगा में ले जाकर छिड़क आना ओ. के.?

'लो बाराहमनो की मुहर भी लग गई अब तो।' पीटर ने जानबूझ कर उन्हें बाराहमन कहा सूअर या शूकरा वतार भगवान का मन? शवयात्रा की मनहूसियत जाती रही।'

वह दिन था और आज का दिन।

हमें ठीक-ठीक मालूम नहीं कि ढलान कहां से शुरू हुई थी। चीजें पहले धीरे-धीरे बदलनी शुरू हुई थी, बाद में इतनी तेजी से बदलती गईं कि धक्के पर धक्के लगने लगे? इस धक्के का पहला असर यह हुआ कि मैं जीवनाथ चा और हर्ष की दुनिया से दूर जा छिटका।

पिता जीवननाथ चा और अफजल चा के साथ गैरेज में काम करते थे। उनके गुजर जाने के बाद जीवनाथ चा ने मुझे अपने साथ रख लिया था। मैंने हर्ष के साथ ही इकॉनामिक्स में एम.ए. किया मगर नौकरी एक न मिली तो दोनों ट्यूशनें करने लगे। हर्ष कविताएं लिखता और मैं कहानियां। एक जुनून था कि जिंदगी जिये जा रहे थे वरना बाकी तो सब कचरा ही था। हर्ष की मां पहले ही चल बसी थीं सो शादी पहले ही कर दी गई थी। अब उसके दोनों जुड़वा बेटे प्रेम और प्राण सात-सात साल के हो चुके थे। जीवननाथ चा तो मजाक-मजाक में कहा करते, मेरे पोते ही जुड़वा नहीं हैं, बेटे भी-बेटे यानी एक हर्ष, दूसरा मैं। लेकिन अब...? आईने में बाल आ गया था।

जीवनाथ चा के जाते ही मैं उस परिवार पर बोझ बन गया था। एक दिन मैंने अपना बोरिया-बिस्तर उठाया और अफजल चा के गैरेज में आ गया। दिन महीने और बरस बीतते रहे, हर्ष की ओर कभी भूल से भी मुड़ कर नहीं देखा मैंने। वह तो अफजल चा थे कि मुझे बीच-बीच में कुरेदा करते। एक दिन बिना किसी प्रसंग के उन्होंने बताया, 'तुम्हारा यार तुम्हें पूछ रहा था।' तो मैं चौकन्ना हो गया।

'कौन-सा यार?' मैं जानबूझ कर उसकी आहट को खुद से परे धकेल रहा था।

'अरे वही हर्ष।'

'जिंदगी की किताब से मैंने हर्ष का पन्ना कब का पलट दिया है चाचा।'

हंसने लगे अफजल चा, 'पलटा ही है, फाड़ा तो नहीं न? पलटा हुआ पन्ना फिर से पलट सकता है। जनाब इतवार को सुबै-सुबै तुम्हारे दौलतखाने में तशरीफ ला रहे हैं।'

इतवार की सुबह जो हर्ष गैरेज में दाखिल हुआ। उसकी सूरत आदमी से नहीं उस नई मॉडल का कार से मिल रही थी। वाह क्या मॉडल था क्या फिनिसिंग, क्या स्पीड। उसकी सिकुड़ी नाक मेरे अतीत और वर्तमान पर हिकारत छिड़क रही थी, 'यह भी कोई जीवन है? मुझे देखो, मेरे अतीत को देखो और वर्तमान को देखो, जो एक हादसे की उपज है। मैंने हादसा को हादसा नहीं रहने दिया, उसका एक-एक पैसा अपने वर्तमान को संवारने में लगाया। अतीत की पीठ पर खड़े होकर मैंने वर्तमान को पकड़ा और अब वर्तमान की पीठ पर खड़े होकर मुझे भविष्य को पकड़ना है। बट यू...? वेल, चाहो तो हम एक दूसरे के लिए अभी भी हेल्पफुल हो सकते हैं।'

अफलज चा ने पहले ही हर्ष के इस वर्तमान की हकीकत बता दी थी। बाप की मौत के मुआवजे के दो में से डेढ़ लाख घूस देकर उसने एक कमाऊ नौकरी हथियाई

थी। धीरे-धीरे उसने गांव में सड़क के किनारे जमीन ली और उसकी हिफाजत के लिए पत्नी को वहां रख दिया। इधर-उधर से जोड़-जाड़ कर उसने घाटकोपर में एक आवास का जुगाड़ कर भी कर लिया। अच्छा-खासा डोनेशन देकर एक उसने प्रेम और प्राण को भी अच्छे स्कूलों में दाखिला दिलवा दिया है। अब रही भविष्य पर चढ़ाई करने की बात तो उसे प्रेम-प्राण के लिए एक अच्छे ट्यूटर की जरूरत थी। इसी सिलसिले में उसे मेरी 'दुर्दशा' याद आयी थी। अभी वह मुझे दस हजार में टपरा बेचकर अपने घाटकोपर वाले मकान में जाना चाहता था। पैसे भी मुझे एक मुश्त नहीं देने थे, बच्चों की फीस के रूप में कटते जाएंगे।

'नो नो! आय वोन्ट एलाउ यू टु लिव लाइक ए बीस्ट।' और वह जबरन मेरा बोरिया-बिस्तर गैरेज से उठा कर अपने टपरे में ले गया। हर्ष के घाटकोपर स्थित अपने नये आवास में चले जाने से पूरा टपरा अब मेरा था। उसका खुलापन इसकी गंदगी दोनों ही। एक न एक दिन यह कचरा मुझे निगल जायेगा, तब तक भोगो। इस महानगर में तुम जैसों के लिए यह भी एक नियामत है।

जल्द ही मुझे इस बात का पक्का उहसास हो गया कि चीजें इतनी आसान नहीं। प्रेम और प्राण पढ़ने में उतने जहीन न थे फिर उनकी मां वहां न थी। जीवनाथ अक्सर पैसे कमाने के चक्कर में घर से बाहर ही रहते बाई और बच्चे और टी.वी. और उनकी दुनिया। कभी-कभी हर्ष घर पर होता भी तो बच्चे के सामने ही अपनी योजनाएं खोल कर बैठ जाता, 'यू नो, पी.एफ. मैं ज्यादा से ज्यादा कटवा रहा हूं। घर का खर्च तगड़े मुर्गों के भरोसे चलता है। ईश्वर की दया से जिनकी कोई कमी नहीं है। इधर-उधर पैसे छींट रखे हैं जो बढ़ रहे हैं। बस मेरा एक फ्रंट बचा रहता है-बच्चे? में चाहता हूं कि मेरे बच्चे हायेस्ट मार्क्स सेक्योर करें।' कभी-कभी वह पेग बना कर मुझे बगल के कमरे में बुला लेता, 'इतने लाख यहां से, इतने वहां से... इस सिलसिले का अंत प्रेम और प्राण की शादी में मिलने वाले दहेज से होता जो कभी पांच लाख से शुरू हुआ था, अब पचास लाख को छू रहा था। मैंने परोक्ष रूप से कई बार उसे चेताया कि कम से कम बच्चों की उपस्थिति में वह ऐसी चर्चाएं न करे लेकिन उस पर तो जैसे भूत सवार रहता, वह जांघों पर थाप देते हुए बोलता, 'डॉन्ट वरी। बस देखते जाओ तुम...।' जब भी वह ऐसा करता, मुझे लगता वह अपने किसी अदृश्य दुश्मन को ललकार रहा है। वह दौर भी गुजर गया। प्रेम और प्राण के मार्क्स हर्ष की अपेक्षा से काफी कम थे और मुझे वह ट्यूशन छोड़ देनी पड़ी। इस तरह हर्ष से जुड़ा मेरा दूसरा जुड़ाव भी टूट गया। और उसके बाद इस लंबे अंतराल के बाद यह तीसरा जुड़ाव।

बस्ती में जो खबरें छन-छन कर आतीं उनसे एक अस्पष्ट-सी यह धारणा बनती कि बाप-बेटों में दूरियां बढ़ती ही जा रही हैं। बाप की प्रत्याशा थी कि बच्चे ऊंचें नम्बरों से पास हों ताकि उन्हें रुतबेदार नौकरी मिले जिनसे वह उनकी शादियों में मोटा से मोटा दहेज प्राप्त कर सके। बच्चों की इच्छा थी कि बाप ने जो इतनी मोटी रकम बटोर रखी है, इसका थोड़ा-थोड़ा अंश लगा कर ही कोई अच्छी नौकरी हासिल

की जा सकती है या कोई बिजनेस शुरू किया जा सकता है। चूंकि दोनों में से कोई भी किसी की उम्मीदों पर खरा नहीं उतर रहा था, सो खाइयां बढ़ती ही जा रही थीं। इस भयावहता का पहली बार एहसास तब हुआ जब एक दिन प्रेम और प्राण मुझसे मिलने खुद आ धमके।

दोनों की अच्छी डील निकल आई थी। काफी समझदार भी लग रहे थे दोनों। प्राण ने कहा। 'चाचा आप जरा पापा को समझाइये न। आखिर वे उन पैसों पर कब तक कुंडली मार कर बैठे रहेंगे?'

प्रेम ने अपने भाई का समर्थन किया, 'जरा सोचिए, पापा ने खुद भी घूस देकर ही तो नौकरी हथियाई थी।'

मैंने तो उन्हें इस आश्वासन के साथ विदा किया कि एक दिन मैं खुद आऊंगा और उन्हें साथ लेकर हर्ष से बात करूंगा।

उनके जाने के बाद मुझे एक अजीब-सी उदासी ने आ घेरा। माना कि वे मेरे कुछ लगते नहीं थे, फिर भी देखते-देखते एक परिवार बर्बाद हो जाय मुझे यह भी स्वीकार न था। अफजल चा मुझे ढूंढते हुए टपरे में आये तो यह देखकर हैरान रह गये कि मैंने बत्ती तक नहीं जलाई थी?

'क्या बात है?'

'कुछ नहीं चाचा, वो प्रेम और प्राण आये थे न। सो और मैंने हर्ष परिवार की स्थिति उनके सामने रख दी, 'यह कैसा घर है चाचा जहां बाप बेटों को कैश करना चाहता है बेटे बाप को। यह कैसा घर है जहां बाप ज्यादा से ज्यादा रुपये बटोरने में घर से बाहर रहता हो, बेटे अपना पांव टिकाने की जमीन तलाशने में घर से बेघर होने पर आमादा हैं, जहां मां उस घर से सैकड़ों मील दूर पर गांव की जमीन की पहरेदारी करते करते बूढ़ी हो रही है? यह कैसा घर है, जिसमें कोई नहीं रहता?'

मैंने उठकर बत्ती जलानी चाही, उन्होंने हाथ पकड़ कर रोक दिया, 'ऐसे ही रहने दो।' थोड़ी देर तक अंधेरे और चुप्पी में डूबे रहे हमारे वजूद फिर अफजल चा की बूढ़ी कांपती आवाज उभरी, 'तुम्हें पता है, यहां कोई हरम हुआ करता था कभी?'

'नहीं तो।'

'मैंने भी सिर्फ सुना भर है कि ऐसा था, मगर अब यकीन होता जा रहा है कि...।' अंदेरे में उनकी आवाज अजीब डरावनी हो चली थी। मानो कोई जिन्न बोल रहा हो, 'कहते हैं कि लूट और लगान से बादशाह ने बेशुमार दौलत इकट्ठी कर ली थी... और इकट्ठी कर ली थीं कुछ कमशिन हूरें भी, जिनका हरम यहीं कहीं हुआ करता था। हरम पर कड़ा पहरा था, शाहजादों तक को उन्हें देखने की इजाजत न थी। आखिर वक्त बीता, बादशाह जवान से बूढ़े हुए शाहजादे बच्चे से जवान। बादशाह के कमजोर पढ़ते ही एक दिन शाहजादों ने तख्ता पलट दिया। अब तख्त उनका था, ताज उनका, तलवार उनकी और उन्हीं के साथ-साथ हूरों का यह हरम भी? शाहजादों के बच्चों ने भी वह रवायत कायम रखी, बल्कि हिस्सों के लिए उन्होंने एक

दूसरों का कत्ल भी किया? कब तक ऐसा होता रहा, हमें नहीं मालूम। अब न वह तख्त रहा, न ताज, न तलवारें, मगर मुझे लगता है आज भी यह रवायत चल रही है। कहते हैं, सन्नाटे भरी रातों में जबकि शोर थम जाय, जमीन में कान लगाकर सुनो तो लगेगा जैसे कई सिसक-सिसक कर रो रहा है। प्यासी रूहों की सिसकियां होती हैं वे।' हम दोनों घुप अंधेरे में चुपचाप बैठे रहे सिर झुकाये, जैसे प्यासी रूहों के लिए मातम मना रहे हों कि यकायक खट की आवाज हुई और भक-सा उजाला हो गया। वह चौबे और पीटर थे, 'आप लोग यहां अंधेरे में क्यों बैठे हैं?' चौबे ने पूछा।

'यूं ही मन नहीं किया कि बत्ती जलाएं।' अफजल चा ने सफाई दी।

'आप लोगों को पता है, हर्षनाथ का एक्सीडेंट हो गया है?' पीटर ने पूछा

'नहीं तो!'

'वो क्या तो कम्पनी है 'लिटमस' या क्या तो! हर्ष ने उसी कंपनी के शेयरों में काफी पैसे लगाये थे। कल उसके भाव एकाएक लुढ़क गये, लगता है इसी से उलटा पुलटा कुछ कर बैठा वो...।'

'अरे!' हम हैरान रह गये।

अगले दिन हर्ष को देखने गये हम। नर्सिंग होम के सर्जिकल वार्ड में लेटा हुआ था हर्ष। सीने पर प्लास्टर चढ़ा हुआ था। केवल इसके कि मैं उससे उस एक्सीडेंट के बारे में पूछूं, वह खुद ही बोल पड़ा, 'मुझे मालूम था आओगे, बाबूजी यूं ही नहीं कहा करते थे कि हम दोनों जुड़वा हैं, मुझे ठोकर लगेगी तो तुम्हें चोट लगेगी, तुम्हें ठोकर लगेगी तो मुझे।' मुझे लगा वर्षों समृद्धि के भार से दबे रहने वाले उसके 'कवि' ने अचानक सतह से ऊपर आने की ठान ली है। मगर यह मेरा भ्रम था, अचानक ही उसने एक ऐसा सवाल कर दिया कि मैं हतबुद्ध रह गया, 'मुझे एक नेक सलाह दोगे?'

'क्या?'

'यही कि इस आर्थिक चोट से ऊबरने के लिए मुझे किसकी शरण में जाना चाहिए। सुनते हैं, मां शेरांवाली सबकी मनोकामनाएं पूरी करती हैं, वैसे विंध्यांचल भी काफी जाग्रत मंदिर है और तिरुपति तो हई है।' उसने वहीं से हाथ जोड़कर सबको प्रणाम किया।'

वह ऐसे पूछ रहा था जैसे अलां कम्पनी के शेयर्स में पैसा लगाना ज्यादा उचित रहेगा या फलां कम्पनी के शेयर्स में, उधर सिरहाने खड़ा प्रेम और पायताने खड़ा प्राण मुझे बार-बार इशारे कर रहे थे कि मैं उनकी बावत उससे बात करूं। किसी को भी इस एक्सीडेंट और उसके उपचार पर बात करने में रुचि नहीं थी जैसे वह गौण था।

मैंने आखिरी बार उस नये मॉडल, उम्दा फिनिशिंग और नायाब स्पीड वाली दुर्घटना ग्रस्त कार को देखा और बिना कुछ बोले लौट आया।

उसके बाद ही हो गया था वह सब। नर्सिंग होम में प्रेम और प्राण ने मिलकर बाप का गला दबा दिया था। नर्सिंग होम, पोस्टमार्टम की रपट पुलिस, प्रबंधन सब

को अपने अनुकूल करने की व्यवस्था कर ली गई। हर्ष ने इफरात पैसे जोड़े थे। बंटवारा पहले से तय था। प्रेम को मिली बाप के डेथ कोटा की कमाऊ नौकरी, प्राण को मिले बाकी पैसे। पत्नी के जिम्मे पड़ी गांव की जमीन।

इतना हादसा हो गया, मगर कहीं कोई चूं तक नहीं। धरती अपनी धुरी पर सिर झुकाये आज भी घूम रही है। वैसे ही दिन रात पालियां बदल रहे हैं। जिससे भी पूछा जाता है सबका एक सा जवाब है 'यह तो होना ही था एक दिन। जैसे यह महज उस नाथ परिवार की कहानी हो, उनका इससे कुछ भी लेना-देना नहीं।

□□

# वापसी

## गोपाल शेखरन

*'अब पछताए क्या होत है जब चिड़ियां चुग गई खेत' गोपाल शेखरन की कहानी वापसी के मुख्य पात्र डॉ. एस.आर. शर्मा, एम.बी. बी.एस. इसी पश्चाताप की अग्नि में जल रहे हैं। अब उनके अमेरिका और देहरादून में रहने वाले बेटे भी दिल्ली आने पर घर की बजाए होटल में रहना उचित समझते हैं। बुढ़ापे में बेटों का सहारा न मिल पाने के पीछे उनको यही लगता है कि जीवन भर अंधाधुंध पैसा कमाने की खातिर गरीब मरीज़ों को लूटने की सजा उन्हें इस रूप में मिल रही है।*

डाक्टर शर्मा दिल्ली की एक संभ्रांत कॉलोनी में लगभग तीस वर्षों से चिकित्सक का व्यवसाय कर रहे थे। वह इलाके से सबसे पुराने एम.बी.बी.एस. डॉक्टर थे। उनका चिकित्सालय उनके घर के बाहर वाले एक कमरे में था जिसमें रोगियों की भीड़ लगी रहती थी। इलाके में वे सबसे अनुभवी और अपने काम में निपुण डाक्टर माने जाते थे। पर कुछ लोग उन्हें सनकी कहते थे, कुछ लालची कहते थे, कुछ भला आदमी भी कहते थे और कुछ व्यक्ति ऐसा कहते थे-कि उनके हाथों में रोगमुक्ति का गुण है।

डाक्टर शर्मा ने बड़ी कमाई की। उन्होंने उस मकान को जिसमें वे तीस वर्ष पहले किराएदार के रूप में आए थे, खरीद दिया। उनके बच्चे पढ़ लिख कर अपने काम-काज में लगे थे। एक लड़का अमेरिका में था और दूसरा देहरादून में अच्छी

नौकरी कर रहा था। दोनों लड़के बिना किसी काम या मतलब के उससे मिलने तक नहीं आते थे। यहां तक कि वे बिना मतलब के चिट्ठी तक भी नहीं लिखते थे। अमेरिका वाला लड़का यदि भारत आता तो अपने घर में न ठहरकर होटल में ठहरता था। देहरादून वाला लड़का भी ऐसा ही करता था।

अमेरिका वाला लड़का जब भारत आता तो होटल से टेलीफोन कर घर मिलने आता था। फिर यदि वह घर मिलने आता तो ऐसे आता जैसे कोई मेहमान आता है। मां की बनी चीजें उसे पसंद नहीं आती थी और उसके लड़के की पत्नी भी मां द्वारा बनाए पदार्थों को देखकर नाक भौंह तक सिकोड़ती थी। डाक्टर शर्मा और उसकी पत्नी बार-बार अपने बेटे और पत्नी से प्यार और दुलार से कहते-होटल में क्यों ठहरे हो, सारा घर खाली पड़ा है, यहां पर हम आप दोनों को होटल से भी अधिक सुविधाएं देने का प्रबन्ध कर देते हैं—पर वे दोनों एकाध घण्टा ठहरकर फिर होटल चले जाते।

देहरादून वाला लड़का भी जब दिल्ली आता तो होटल में ही ठहरता और कहता—मुझे तो कम्पनी ने होटल में कमरा दे रखा है, मैं अपने खर्चे पर होटल में थोड़े ही ठहरा हूं, कम्पनी ने कार भी दे रखी है, फिर कंपनी का काम होटल मैं बैठकर हो सकता है, घर पर नहीं हो सकता।

पर बच्चों के इस व्यवहार से शर्मा दम्पति के हृदय फट जाते, रोते रहते और मन मसोस कर रह जाते।

कभी-कभी डाक्टर सोचता कि यह सब कुछ इस कारण से हुआ है कि उसने अपने व्यवसाय में अमीर-गरीब दोनों को लूटा। जो मरीज एक दिन की दवाई में ठीक हो सकता था-उसे उसने सदा तीन दिन तक दवाई दी। उसने किसी गरीब को भी बिना पूरी फीस लिए दवाई नहीं दी। इसी पाप का फल मिल रहा है।

जब डाक्टर रात को सोने लगता तो वह अपने अतीत को इस प्रकार याद करता—लगभग तीस वर्ष पूर्व मैंने इस मकान के बाहर वाले कमरे में अपने नाम की पट्टिका लगाई थी—डाक्टर एस.आर. शर्मा, एम.बी.बी.एस.। उस समय मैं बम्बई से डाक्टरी पास कर आया था। जब मैंने यह पेशा आरम्भ किया था तो मैं इतना लालची नहीं था। पर अपने विवाह के बाद और बच्चे होने के बाद मैंने लोगों को लूटना शुरू कर दिया। मैंने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई, उंचे स्तर में रहने के लिए, कोठी खरीदने के लिए और पैसे बनाने के लिए खूब लूट-पाट की।

इसी प्रकार सोकर जागते हुए भी उनका मन सदा अपने अतीत में खोया रहता। उसे अपने जीवन का कोई ऐसा उज्ज्वल पक्ष याद न आता जिसे याद कर उसे खुशी प्राप्त हो। बल्कि हर समय उसके सामने ऐसे पक्ष याद आते जिनसे उसको बड़ी भारी ग्लानि का अनुभव होता। उन दिन भी जब वह प्रात: उठा तो उसे कई वर्ष पहले का एक वृतांत याद हो आया...

एक बहुत गरीब रिक्शा खींचने वाला व्यक्ति अपना इलाज कराने मेरे पास

आया था। उसे ठीक प्रकार देखने के बाद मैंने उसे दवाई दी तो वह बोला—कितने पैसे। मैंने कहा था-तीस रुपये। वह बोला-मेरे पास तो केवल बीस रुपये हैं, दस रुपया कल दे जाऊंगा। मैंने कहा था—तुम्हारे जैसे कल का वादा करने वाले पुन: यहां ईलाज कराने नहीं आते, दवाई यहीं रख जाओ जब दस रुपया ले आओगे तो दवाई भी ले जाना।

इस प्रकार डाक्टर शर्मा ने अपना व्यवसाय खूब चमकाया। दूर-दूर से लोग उसके पास इलाज कराने आते थे। इसी व्यवसाय से उसने अपार धन भी इकट्ठा किया, कार भी खरीदी, कोठी भी खरीदी और बच्चों के विवाह भी किए।

पर अभी छ: महीने पहले अपनी पत्नी के देहान्त के बाद डाक्टर शर्मा बिल्कुल टूट गए थे। दूसरा उन्हें अपने दोनों बेटों का बहुत दुख था जो तब तक ही उनके बेटे रहे, जब तक उनका विवाह नहीं हुआ था। वे सदा यही सोचते रहते-जिन लड़कों के लिए मैंने यह सब कुछ किया-अब मेरी उपेक्षा करते हैं, मेरा तिरस्कार करते हैं।

इसलिए उन्हें अपने धन से और अपने जीवन से और यहां तक कि सारे संसार में वैराग्य हो गया। जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ रही थी-वैसे ही उन्हें आसपास के वातावरण से घृणा सी होने लगी। उनमें यह उत्कट इच्छा थी कि वे अपने चिकित्सालय से भाग कर किसी आश्रम में जाकर मन की शान्ति प्राप्त करें। वे हरिद्वार के किसी आश्रम में जाकर रहना चाहते थे और अपना नया जीवन आरम्भ करना चाहते थे। हर समय वे यही सोचते रहते-मेरे मन में शांति क्यों नहीं, मेरे जीवन में खुशी क्यों नहीं मैं क्यों शून्य में भटक रहा हूं। मेरे हृदय में हर समय टीस क्यों उठती रहती है।

वास्तव में वे अपने जीवन में परिवर्तन चाहते थे। उन्हें अब अपने व्यवसाय से और आसपास के वातावरण से भी घृणा हो गई थी। वे किसी आश्रम में जाकर रहना चाहते थे। वे अपने व्यवसाय से भी छुटकारा पाना चाहते थे और अपने चिकित्सालय की शक्ल तक नहीं देखना चाहते थे, वे सन्यास लेना चाहते थे।

उन्होंने जो सोचा वह करके भी दिखा दिया। एक दिन उन्होंने अपने चिकित्सालय के बाहर लिख दिया-यह चिकित्सालय बंद कर दिया गया है। उन्होंने बैंक में जमा अधिकांश धनराशि निकलवा ली और हरिद्वार के एक आश्रम में जाकर रहने लगे। उस आश्रम में सैकड़ों अनाथ बच्चे रहते थे। वे लगभग प्रतिदिन आश्रम के प्रत्येक बच्चे को फ़ल फ्रूट अर्थात् सेब, केले, संतरे, आदि खिलाने लगे। उन्होंने सब्जी मण्डी के एक विक्रेता से प्रतिदिन फलों की पेटियां भेजने का ठेका कर लिया। उन फलों को वे अनाथ बच्चों में बांटते तो उन्हें आंतरिक खुशी होती। उन्हें लगता कि उन्हें शान्ति प्राप्त हो रही है-और वे अपने आपको उन लोगों से बहुत ऊंचा समझने लगे जो शहर में रहकर माया-मोह में फंसे हैं।

जब वे अनाथ में फल बांट रहे होते तो वे यही देखते रहते कि उन अनाथ बच्चों की आंखों में उनके प्रति कैसे भाव उत्पन्न हो रहे हैं। फिर जब वे उन बच्चों को फल खाते हुए देखते तो उनका मन अन्दर ही अन्दर उछलने लगता और उन्हें

लगता कि उन्हें दैवीय सुख प्राप्त हो रहा है।

इस प्रकार कई वर्षों तक उन्हें यह सुख और शांति प्राप्त हुई। यह सुख उन्हें तब तक प्राप्त होता रहा जब तक उनका धन समाप्त न हो गया। जब तक वे अनाथ बच्चों में फल बांटते रहे-उन्हें ऐसा लगता रहा जैसे वे उस आश्रम में सब से उच्च श्रेणी और स्तर के व्यक्ति हैं। आश्रम के सभी बच्चे और कर्मचारी उनको आदर से देखते। मगर एक दिन उनका धन समाप्त हो गया और दूसरे लोग आश्रम में माल-पूवे बांटने लगे। उस समय जब दूसरे लोग अनाथ बच्चों को माल-पूवे खिलाकर खुश हो रहे होते-तो डाक्टर शर्मा एक कोने में खड़े होकर देखते रहते और अपने आप को एक महत्वहीन और दीन व्यक्ति महसूस करते। उस समय वे यही सोचते कि उनका स्थान अब क्षीण हो गया है।

एक बार उन्होंने आश्रम में ऐसा दृश्य देखा जिसे देखकर उन्होंने उसका विरोध किया, पर उस आश्रम के प्रबंधकों ने उनकी एक न सुनी। हुआ ऐसे कि एक बहुत अमीर व्यक्ति अपनी विदेशी कार में आया और उसने कार आश्रम के बाहर खड़ी कर दी और आश्रम के बच्चों को बाहर कर, अपनी कार के पास बुलाकर उन्हें सेब के जूस की बोतलें बांटने लगा।

डाक्टर शर्मा यह सहन नहीं कर सके। उन्होंने बाहर आकर कार के मालिक अर्थात उस सेठ से कहा कि वह कार से बाहर निकल कर प्रत्येक बालक को इज्जत और मर्यादा से बोतलें बांटकर अपने बड़प्पन का परिचय दें।

यह सुनकर सेठ गर्म हो गया और कहने लगा तुम कौन होते हो इस आश्रम के निर्माण के लिए मैंने एक लाख रुपये दिए थे, मैं तो प्रति वर्ष इसी तरह यहां आकर बोतलें बांटता हूं, तुम कोई नए सेवादार लगते हो। अपना काम करो-जाओ उस समय के दिए हुए मेरे एक लाख रुपये आजकल के एक करोड़ के बराबर हैं।

डाक्टर शर्मा ने उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया क्योंकि वहां आश्रम के एक स्वामी जी भी खड़े थे-जिन्होंने डाक्टर शर्मा की सही बात का समर्थन तक नहीं किया।

इस घटना के बाद डाक्टर शर्मा का उस आश्रम से मन उचाट हो गया। वे हर समय यही सोचते रहते-जब तक मेरे पास धन था, मैं फल बांटता रहा, मेरी इज्जल थी, मेरा आदर था पर अब यह आश्रम मेरे लिए एक धर्मशाला बनकर रह गया है, जिसमें मैं केवल एक अतिथि हूं...अब एक अतिथि एक आश्रम में कितने दिन तक रह सकता है?...कोई भी इज्जतदार व्यक्ति इतने दिनों तक एक अनचाहे अतिथि के रूप में नहीं टिक सकता-अब उसे जाना चाहिए-

अब डाक्टर शर्मा के संसार को छोड़कर आश्रम में एक सन्यासी के रूप में रहने के सारे सपने टूट गए और वे सोचने लगे—मैंने दिल्ली में अपना चिकित्सालय बंद करने से पहले सब मित्रों और रिश्तेदारों के सामने घोषणा कर दी थी कि मैं अब सन्यासी बन रहा हूं, संसार को छोड़ रहा हूं और फिर कभी लौट कर वापिस नहीं

आउंगा। अब अगर मै वापिस जाऊंगा तो कैसे इन लोगों को अपना मुंह दिखाऊंगा।

अब डाक्टर शर्मा का मन हर समय और हर स्थान पर यही सोचने लगा कि वे यहां आकर बुरी तरह असफल रहे हैं। उनके संसार त्यागने के सारे सपने टूट गए। अब उनकी समझ में यह बात बैठ गई कि जिस आश्रम में वे ठहरे हैं, उसमें धन के प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं। उन्होंने वहां से दूसरे आश्रमों में भी जाकर देख लिया''...वहां भी सर्वत्र पाखण्ड और आडम्बर पाया और हर स्थान पर धन की जय जयकार होते देखी। उन्होंने ऐसे अनुभव किया, कि वहां प्रत्येक भवन मैं, धर्मशाला में, आश्रम में और चप्पे-चप्पे पर रुपये दान देने वालों के नामों के पत्थर लगे हैं। उन्होंने कहीं एक भी ऐसा पत्थर लगा नहीं देखा जिसमें वहां अपना जीवन दान करने वालों के, अपना सर्वस्व समर्पित करने वालों के पत्थर लगे हों। हर स्थान पर ऐसे पत्थर देखे जिनमें लिखा था—श्री जगदीश प्रसाद गुप्ता, जिन्होंने आश्रम के निर्माण में एक लाख रुपये दिए। उन्होंने कहीं भी यह लिखा नहीं देखा कि इस अनाथ आश्रम में अमुक व्यक्ति ने अनाथ बच्चों की खुशी के लिए, भरण-पोषण के लिए, पढ़ाने लिखाने के लिए, लाखों रुपये बांट दिए।

इस प्रकार सोचते सोचते उन्होंने एक दिन अपना बिस्तर गोल कर लिया। उस आश्रम के प्रबन्धकों ने तनिक भी उन्हें रोकने की कोशिश नहीं की। इस प्रकार जब वे अपने घर वापिस पहुंचे तो उन्होंने मन ही मन कहा-जान बची तो लाखों पाए, घर के बुद्धू घर को आए।

शीघ्र ही उन्होंने अपना चिकित्सालय पुन: आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे उनके पुराने और नए रोगी फिर आने लगे। अपने पुराने परिचितों को वे कुछ रटे रटाए शब्द बोल देते और कहते कि अब वे कभी हरिद्वार नहीं जाएंगे। वहां धन के प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं—यहां देखों मैं आपसे उतनी ही फीस ले रहा हूं-जितनी दस वर्ष पहले लेता था।

अब उन्होंने मन ही मन अपने व्यवसाय के नियम बना लिए। अब वे अमीर व्यक्तियों से पहले जितनी फीस लेते और सबको सही दवाई देते। वे यही कोशिश करते कि उनके पास रोगी एक दो दिन की दवाई लेकर भला चंगा हो जाए। जो रोगी उन्हें गरीब लगता-उसे वे बिना फीस लिए दवाई देते और बहुत अधिक गरीब को वे दस बीस रुपये अपने पास से देकर कहते-इन पैसों का दुरुपयोग मत करना, इस पैसे का दूध पीना या फल खाना जिससे तुम्हें दोबारा मेरे पास नहीं आना पड़ेगा।

□

# मोहब्बत और नफरत

## अभिताभ ठाकुर

*राजनीति किस कदर बेवफा होती है यह संदेश मोहब्बत और नफरत कहानी खुले आम देती है। राजनीति के चलते ही ऐश और गैरी बचपन की दांत काटी दोस्ती को भूल कर परस्पर विरोधी दो मजहबी राजनीतिक पार्टियों के नेता बनकर एक दूसरे पर कीचड़ उछालने से भी बाज नहीं आते। मजेदार बात यह है कि ऐश (अशफाक) और गैरी (गिरिजा शंकर) दोनों ने अमेरिका में रह कर एक ही गुरु से धार्मिक सहिष्णुता का पाठ भी पढ़ा था लेकिन स्वदेश वापसी पर देश की राजनीति ने दोनों पर ऐसा रंग जमाया कि दोनों ही धार्मिक कट्टरतावाद के प्रतीक बन गए।*

दोहरापन शायद उन दोनों ही लोगों के स्वभाव और जीवन पद्धति का हिस्सा बन गया था। कारण केवल परिस्थितियां, महत्वाकांक्षाए और निजी स्वार्थ था। अगर यह बात नहीं थी तो यह कैसे संभव था कि अमेरिका जैसे अत्याधुनिक देश के एक श्रेष्ठ विश्वविद्यालय में 'धार्मिक उन्माद-कारण और निवारण' जैसे विषय पर संयुक्त रूप से शोध करने वाले दो छात्र वापस अपने देश लौटने पर दो परस्पर विरोधी मजहबी पार्टियों के प्रमुख नेता हो गये। गिरिजा शंकर मिश्र उर्फ गैरी तथा अशफाक उल हक उर्फ ऐश दोंनों ही प्रगतिवादी विचारों वाले परिवार में पैदा हुए थे। गैरी के पिता रमा शंकर मिश्र ने आज से कई साल पहले लंदन से डाक्टरी की डिग्री हासिल की थी और कई साल तक वहीं मैनचैस्टर के एक अस्पताल में काम किया था, बाद

में अपने देश की यादें जब इस हद तक सताने लगी कि परदेश में रहना दुश्वार हो गया तो उन्होंने एक दिन वहां का सारा साजो समान बेच बाच कर स्वदेश के लिए प्रस्थान कर दिया। गैरी का जन्म वहीं मैनचेस्टर में ही हुआ था। उसकी मां अमृता नारायण एक जमींदार परिवार की लड़की थी। उनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा दिल्ली में हुई थी और उच्च शिक्षा के लिए उनके पिता ने उन्हें फ्रांस भी भेजा था जहां से उन्होंने 'माडर्न आर्ट' में मास्टर की डिग्री हासिल की थी। रमाशंकर तथा अमृता की शादी बड़ी धूम-धाम से उस वक्त हुई थी जब रमाशंकर लंदन में डाक्टरी की पढ़ाई कर रहे थे और अमृता फ्रांस में माडर्न आर्ट की। उस जमाने में रमाशंकर के परिवार वालों ने अपने परिवार की बहू को आगे पढ़ने से रोकने की बजाय उन्हें अपनी पढ़ाई पूरी करने को प्रोत्साहित किया था। अमृता अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद मैनचेस्टर चली गयी थी। जहां उसके पति ने अस्पताल में काम करना शुरू कर दिया था वहीं उन्हें फूल-सी बच्ची संयुक्ता तथा एक लड़का गौरीशंकर पैदा हुए। जब तक गैरी भारत लौटा तब तक उसकी उम्र आठ नौ साल की हो गयी थी। उसकी भाषा काफी हद तक अंग्रेजों जैसी हो गयी थी और वह हिंदी भी आराम से नहीं बोल पाता था तो उसके स्कूल के लड़के काफी मजाक उड़ाते थे। आज तक उसकी बोली में कुछ न कुछ झलक अंग्रेज़ियत की ज़रूर ही मिल जाती थी।

ऐश के पिता मकबूल उन दिनों जंगलों के बहुत बड़े ठेकेदार थे। पूरे उत्तरी भारत में उनके नाम का डंका बजता था। जंगलों की ठेकेदारी में उनका कोई सानी नहीं था। उन्होंने एक बार किसी काम के लिए बोली बोल दी तो किसी और की हिम्मत नहीं थी कि वह उसमें अपनी टांग अड़ाए। ऐसी धाक और प्रतिष्ठा थी साहब की। वैसे तो मकबूल ज्यादा पढ़े लिखे नहीं थे लेकिन उनके विचार बिल्कुल आधुनिक थे। उनके परिवार की लड़कियां बुरका ओढ़कर बाहर निकलने के बजाय आराम से इधर-उधर घूमती फिरती थीं। अपनी सारी लड़कियों को काफी ऊंची शिक्षा दिलवायी। उनकी कोई लड़की डाक्टर थी तो कोई वकील। सबसे छोटी लड़की शबाना तो स्टेज की अदाकारा थी। अपनी लड़कियों की शादी ढूंढते समय उनकी पहली प्राथमिकता यही रहती थी कि जिस परिवार में उनकी लड़की जाय उसके लोगों की मानसिकता संकीर्ण और पुरातनपंथी न हो। मकबूल साहब ने अपने दोनों बेटों, ऐश और उसके छोटे भाई मुराद उर्फ मड्डी को शुरू से ही अच्छी दिलवायी। दोनों भाइयों की प्रारम्भिक स्कूली शिक्षा दून स्कूल में हुई जिसके बाद दोनों एक-एक करके उच्च शिक्षा हेतु अमेरिका भेजे गए। वहीं ऐश की मुलाकात गैरी से हुई थी। दोनों ही अच्छे दोस्त बन गए थे। दोनों ने मास्टर्स की डिग्री पाने के बाद संग मिलकर शोध कार्य करने का फैसला किया। शोध कराने वाले प्रोफेसर का नाम. था डॉ.वाल्टर फिशर जो पूरी दुनिया में धर्म और संविधान विषयों के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में गिने जाते थे। उनकी लिखी किताबों और धर्म विषयक उनके विचारों को पूरी दुनिया में मान्यता और प्रतिष्ठा मिली हुई थी।

उनके रोम-रोम में धार्मिक उदारता तथा सदाशयता भरी पड़ी थी। ऐसे विद्वान के अधीन शोध कार्य करने वाले ये दोनों छात्र कब और कैसे धार्मिक उन्माद के स्वयं प्रतीक बन गए। यह भी अपने में एक दिलचस्प दास्तान है।

अमेरिका में ऐश और गैरी का समय बड़ी मस्ती और मौज में बीता। दोनों ने साथ-साथ मिलकर पूरा अमेरिका घूम लिया। वहीं विश्वविद्यालय में ऐश का दिल माग्रेट नामक एक आयरिश-अमरीकी लड़की पर बुरी तरह से भा गया। प्यार दीवाना होता है इसे जानने के लिए ऐश के उन दिनों की हरकतों और करतूतों को जानने से बड़ा लाभ मिलेगा। सौभाग्य से माग्रेट भी ऐश को चाहती थी। दोनों के प्यार ने रंग दिखाया और तमाम बंधनों को तोड़कर दोनों ने शादी करके एक हो जाने का फैसला कर लिया। माग्रेट ने अपने मां-बाप को यह सब बताया तो थोड़े-ना-नुकूर के बाद वे राजी हो गए। इधर ऐश की हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि अपने पिता को इस रिश्ते के बारे में जानकारी दे। वैसे तो उसके बड़े आजाद ख्याल के बनते थे लेकिन वह जानता था कि आजाद ख्याल का होना एक बात थी और पराए देश की विद्यार्थी औरत को अपने पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करना दूसरी बात है। जब उसकी स्वयं की हिम्मत नहीं हुई तो उसने गैरी के माध्यम से अपने पिता को कहलाने की सोची। शुरू में तो गैरी ने आनाकानी की लेकिन जब उसके दोस्त ने दोस्ती के कसमे वायदे देने शुरू किए और यह धमकी भी दे डाली कि अगर गैरी बात नहीं करेगा तो वह प्रेम के वशीभूत होकर अपनी जान दे डालेगा तो घर जाकर गैरी ने ऐश के पिता से बात करना स्वीकार कर लिया। अबकी बार जब वे दोनों वापस हिंदुस्तान लौटे तो एक दिन गैरी ऐश के घर पहुंचा और उसके पिता को अकेला देखकर उन्हें अमेरिका की सारी बातें अनुरोध भरे स्वर में सुना डाली। मकबूल साहब ने सारी बात बड़े ध्यान पूर्वक सुनी और कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की। लेकिन यह सब सुनकर उनका कलेजा थरथरा गया था। आज तक उनके खानदान में किसी ने ऐसी नहीं किया था फिर ऐश की कैसे हिम्मत हो गयी कि उसने यह गुनाह करने की ठान ली? क्या उसे अपने बाप की इज्जत का जरा भी ख्याल नहीं आया? वह जफर साहब को क्या मुंह दिखायेगा जिसकी बेटी रूबिया से उन्होंने पहले ही ऐश की शादी की बात तय कर रखी थी? उन्होंने फैसला कर लिया कि जैसे ऐश ने सोच रखा है, वैसा कुछ भी नहीं होगा। शायद बड़े अपनी गलतियों को स्वीकार करना अपनी शान के खिलाफ मानते हैं। इस उन्माद की अवस्था में मकबूल साहब यह बिल्कुल भूल गए थे कि ऐश को खुद उन्होंने शुरू से रूढ़िवादिता और कट्टरपन से दूर रखा था। वे न तो खुद ही नमाज पढ़ा करते थे और न ही उनके बच्चे ही। रोजा वगैरह भी रमजान के महीने में एक आध दिन ही रखा करते थे। हां, वे ईद का त्यौहार खूब धूम-धाम से मनाते थे और उसमें हिंदू और मुसलमान दोनों को भारी संख्या में आमंत्रित करते और लजीज खाना खिलाया करते थे। ऐश और मड्डी पहले दून स्कूल में पढ़े और फिर अमेरिका में। ऐसे

में उनका क्या दोष था यदि वे उन्मुक्त विचारों के हो गये थे? लेकिन कहावत है कि समरथ को नहि दोष गोसाई। जिंदगी भर सहिष्णुता का पाठ पढ़ने वाले मकबूल साहब को जब खानदान पर और अपनी स्थिति पर प्रश्नचिन्ह लगता हुआ दिखाई दिया तो उन्होंने एक ही झटके में सहिष्णुता और उदारवादिता को दरकिनार कर दिया और अपने असली रूप में आ गए। ऐश को अकेले में तलब किया और साफ शब्दों में कह दिया कि उसकी शादी किसी अंग्रेजन से नहीं बल्कि रूबिया से ही होगी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि अब उसे अमेरिका जाने की जरूरत नहीं है। गैरी अमेरिका जाकर शोध को पूरा करवाकर दोनों की डिग्री लेकर आएगा। वैसे भी उसे इन डिग्रियों से क्या लाभ होना था? इतना बड़ा कारोबार संभालने की जिम्मेदारी आखिर उसी की तो थी। बेटे ने अपनी बात समझाने की बड़ी कोशिश की, अपने प्यार की पूरी दास्तान सुना डाली, अपनी अंर्तव्यथा का बखान किया और अपना दिल खोलकर अपने पिता के सामने रख दिया। लेकिन खानदानी बाप ने जज्बात में डूबे बेटे की एक न सुनी और अपने फैसले पर अडिग रहे। ऐश ने एक आध दफे विद्रोह का बिगुल भी बजाना चाहा पर वह सफल नहीं हो सका। उसने अपने मां से यह भी धमकी दे डाली कि यदि उसकी शादी माग्रेट से नहीं हुई तो वह साइनाइड खाकर अपनी जान दे देगा। मां घबरा गयी और उन्होंने यह बात तुरन्त अपने पति को बतायी। पर मुकबूल साहब पुराने खिलाड़ी थे। मानते थे कि यह सब प्रेमियों के चौंचले होते हैं। उन्होंने इन धमकियों पर उफ तक नहीं किया। अलबत्ता जफर साहब से बात कर काजी के जरिए निकाह की तारीख तय कर दी।

पहले तो मियां ऐश काफी उछले-कूदे, तमाशे किए और घर से भाग जाने की बात कही। लेकिन जब बाप ने गरम रुख अख्तियार किया तो बेटा सही रास्ते पर आ गया। बुझे मन से ही सही, ऐश शादी करने को तैयार हो गया। शादी हुई, धूमधाम से हुई और एक बरबाद आशिक का रूप धरे ऐश रूबिया के साथ निकाह के पवित्र बंधन में बंध गया। समय सबसे बलवान होता है। रूविया के आने के बाद ऐश को माग्रेट को भूलते देर नहीं लगी और जल्दी ही ऐसा लगने लगा कि मानों रूबिया ऐसे की पहली और आखिरी मोहब्बत रही हो। एक शाल के अंदर रूबिया ने फूल जैसी बच्ची मारिया को जन्म दिया। उधर गैरी पहले ही पिता बन चुका था। गैरी और विद्या का लड़का राहुल उस समय तक तीन साल का हो चुका था। गैरी और ऐश की दोस्ती पूर्ववत बनी रही। वापस लौटकर ऐश अपने व्यवसाय में लग गया और गैरी ने स्थानीय विश्वविद्यालय में धर्मशासत्र के अध्येता के रूप में पठन-पाठन का कार्य शुरू कर दिया। इसी बीच कुछ ऐसा हवा का झोंका आया कि गैरी और ऐश तो परस्पर विरोधी उग्रवादी धार्मिक संगठनों के नेता के रूप में पदस्थापित हो गए। इन दोनों कट्टरपंथी संगठनों को ऐसे लोगों की जरूरत थी जो समाज में प्रतिष्ठित और बड़े लोग हों। ऐश और गैरी निश्चित रूप से ऐसे लोगों में आते थे। इधर इन दोनों

के दिलों में भी राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं थी। दोनों की जरूरत का मेल हो गया और शीघ्र ही ऐश और गैरी क्रमश: मजहबी पार्टी और हिंदू दल की महत्वपूर्ण हस्तियों के रूप में पहचाने जाने लगे। अब उसका कार्य क्षेत्र सारा भारत वर्ष हो गया था। दोनों के ही भड़काऊ और उत्तेजक बयान आये दिन अखबारों में प्रमुखता के साथ छापे जाते थे। यह प्रकृति का विधान ही था कि किसी समय *"धार्मिक उन्माद-कारण और निवारण"* जैसे विचारोत्तेजक विषय पर सहशोध कर्ता रहे दोनों लोग आज धार्मिक उन्माद के स्वयं ही कारण बन गए थे। पूरे देश में कोई भी छोटा से छोटा धार्मिक मामला हो, वहां इन दोनों की उपस्थिति अपने-अपने गुटों की तरफ से आवश्यक सी हो गयी थी। यद्यपि आज भी इन दोनों में किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत वैमनस्य नहीं था पर परिस्थितिजन्य कारणों से अब ये दोनों एक दूसरे से दूर ही रहा करते थे।

इधर पिता द्वय अपनी जिंदगी जी रहे थे और उधर उनकी संताने अपने में मशगूल थी। राहुल और मारिया दोनों ने इंटर की पढ़ाई के बाद क्रिश्चियन मेडिकल कालेज, बंगलौर में दाखिला लिया था। जब मारिया प्रथम वर्ष में दाखिले के लिए बंगलौर पहुंची तब राहुल प्रथम एम.बी.बी.एस. की परीक्षा पास कर दूसरे एम.बी.बी.एस. की परीक्षा की तैयारी में लगा हुआ था। उससे पहले यद्यपि उसका मारिया से परिचय तो था लेकिन वह बस हाय-हैल्लो तक ही सीमित था। अब अचानक ईश्वर ने इन दोनों को अपने घर से इतनी दूर यहां इस मेडिकल कालेज में इकट्ठा कर दिया था। शुरू में दोनों में बस अभिवादन का सिलसिला चला पर शीघ्र ही कामदेव ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर दिया। पहले नैन मिले और फिर दिल। जल्दी ही दोनों दो शरीर एक प्राण हो गए। कहते हैं कि जवानी दीवानी होती है। इस बात से बेखबर कि इनके इस रिश्ते का क्या हश्र होगा। और उनके पिता इसको किस रूप में लेंगे, दोनों ही एक दूसरे के प्रेमागोश में फंसते ही चले गए। जब वे घर आते तो एक दूसरे से अनजान से बने रहते और पुन: कालेज आते ही लैला मजनूं की साक्षात प्रतिमूर्ति बन जाते। इस तरह कोई पांच वर्ष बीत गए। इसी बीच राहुल ने एम.बी.बी.एस. पूरा कर लिया। मारिया वहीं पर एम.बी.बी.एस. के आखिरी साल में आ गयी थी। जब जुदाई असह्य हो गयी तो दोनों ने फैसला किया कि अब वे दोनों अपने मां-बाप से सारी बातें बता देंगे। यह भी तय हुआ कि उनके मां-बाप माने या न माने, वे एक दूसरे के होकर रहेंगे।

जब दोनों ने अपने अभिभावकों के सामने यह विस्फोटक जानकारी दी तो दोनों जगह एक बार तो ऐसा लगा कि मानो उस खबर को सुनकर छत ही ढह जाएगी। गिरिजा शंकर और अशफाक बिल्कुल पगला से गए। इस गठबंधन का दुष्परिणाम समझते उन्हें देर नहीं लगी। इसका सीधा सा मतलब था उनकी राजनैतिक हत्या. यह भी संभव था कि विद्यार्थी और काफिर से अपनी औलाद का ब्याह करने के जुर्म में उनके समर्थक और अनुयायी उनकी हत्या तक कर दें। ऐसे भी वे दोनों यह सोच तक

कैसे सकते थे? दोनों ने अपनी-अपनी संतानों को समझाने-बुझाने की काफी कोशिश की लेकिन सब बेकार रहा। साम-दाम-दंड-भेद का हर प्रकार से प्रयोग किया गया। लेकिन लगता है कि इन दोनों का प्यार ऐश और माग्रेट के प्यार से ज्यादा पक्का था। उन पर न तो किसी धमकी का असर हुआ और न ही किसी दुष्परिणाम के भय का। अंतोगत्वा गिरिजाशंकर और अशफाक ने मिलकर इसका कोई समाधान निकालने की सोची। पहले टेलीफोन से बातें हुई और फिर चुपचाप नेहरू पार्क में रात के आठ बजे अकेले मिलने की बात तय हुई। आखिर कोई अगर यह जान लेता कि दो कट्टरपंथी नेता परस्पर संबंध बनाए हुए हैं तो उनकी क्या दशा होती? वहां ठण्ड में ठिठुरते हुए दोनों पुराने मित्रों ने खूब गले मिलकर अपनी-अपनी व्यथा कथा सुनाई और एक दूसरे से इसका स्थाई सामाधान पूछा।

काफी जद्दोजहद के बाद यही तय हुआ कि दोनों को अमेरिका पढ़ाई के बहाने भेज दिया जाए और वे वहीं शादी करके पति-पत्नी की तरह अपनी जिंदगी बसर करें। मौका बेमौका दोनों परिवार अपने बच्चों को वहीं देख आया करेंगे। यह भी तय हुआ कि वहां यह खबर उड़ा दी जाएगी की किसी दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी है ताकि बाकी लोग उन दोनों को उनके बच्चों ने नाम पर परेशान न कर सकें। दोनों ने अपने-अपने बच्चों को जीते जी मारकर अपने जीने का रास्ता तलाश किया। आखिर माग्रेट का शाप लग ही गया था। वह प्रेम दीवानी आज भी अपने ऐश के वियोग में अविवाहिता जीवन व्यतीत कर रही थी। अब राहुल और मारिया सेंट लुईस नगर में पति-पत्नी के रूप में रहते हैं। उनकी दो संतानें हैं, एक का नाम सुहैल और दूसरे का नाम राधा रखा है। माग्रेट पड़ोस के शहर कर्नोलिया में रहती है। इनकी अक्सर मुलाकात होती रहती है। कभी-कभी ये तीनों मिलकर डॉ. वाल्टर फिशर के पास कार्नेल विश्वविद्यालय चले जाया करते हैं। डॉ. फिशर अब कापी बृद्ध हो चुके हैं लेकिन अब भी धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं। राहुल और मारिया को बच्चों सहित देखकर वे बहुत आनन्द विभोर हो जाया करते हैं। और उन्हें पुराने दिनों के किस्से सुनाया करते हैं जब ऐश और गैरी उनके छात्र थे और माग्रेट और ऐश का रोमांस चल रहा था। माग्रेट उनकी बातें सुनकर शर्मा जाती हैं जबकि राहुल और मारिया खूब हंसते हैं। इस तरह इनकी जिंदगी आराम से कट रही है।

उधर हिंदुस्तान में इन दोनों के पिता आज भी खून-के सौदागर बने हुए हैं। हिंसा और प्रतिहिंसा के प्रणेता भस्मासुर का अवतार बनकर अपने ही देशवासियों का नाश कर रहे हैं।

□

# अंतहीन द्वंद्व-युद्ध

## जसविंदर शर्मा

*इन सब विकल्पों के लिए मैं तैयार नहीं था। हमारी अपनी समस्याएं थीं। फ्लैट की किस्तें जा रही थीं, अभी ब्लैक में टेलीफोन खरीदा था। बच्चों को अच्छे स्कूल में दाखिल करवाया था। मैं कम्प्यूटर खरीदने की सोच रहा था। दीपा शाम को एक प्राइवेट कॉलेज में पढ़ाती थी। कार लेने का आइडिया बन रहा था। बीच में अम्मा अपने सुझाव देकर सिर दुखा देती थी।*

दीपा को 'क्वालिटी' छोड़ जाने के बाद मैंने अम्मा से पूछा, 'अम्मा आपके लिए भी चाय बनाऊं,' तो अम्मा चिढ़-सी गई। चश्में को उतार कर कमीज से ही साफ करते हुए बोली, 'बहू तैयार होकर कहां गई है? कब तक आएगी?' अम्मा की यही आदत मुझे अच्छी नहीं लगती कि एक बात को बार-बार पूछते रहना। अभी जब दीपा जाने लगी थी तो अम्मा को बताया था कि आज दीपा की होटल में किट्टी है। मगर अम्मा या तो भूल गई या उन्हें समझ नहीं आया। गुस्सा तो मुझे आया लेकिन मैंने थोड़ा नरमी से उत्तर दिया, 'अम्मा आज वह अपनी सहेलियों के साथ होटल में खाना खाने गई है। वह कमेटी डालती है न, हजार रुपए की। हर महीने जिसकी निकलती है वह बाकी सहेलियों को होटल में खाना खिलाती है। अच्छा मैं चाय बनाने लगा हूं आपके लिए भी चाय बनाऊं क्या? अम्मा खीजी हुई-सी बोली, 'क्यूं हर समय चाय के कलेजा फूंकता है? दूध पी, तन को कुछ लगे। देखता नहीं कितना कमजोर हो गया है। इस शहर में हर कोई हर टाइम चाय पीता रहता है। चाय कुछ

नियामत है क्या?'

मैं चुपचाप किचन में घुस गया। अम्मा की कई बातों का मेरे पास जवाब नहीं था। सपने में भी मैं उसका दिल दुखाना नहीं चाहता था। या बकौल मेरी श्रीमती दीपा, 'मैं निहायत दब्बू इंसान हूं और अम्मा भी शायद यह बात जानती हैं तभी तो वह जब चाहे मेरी इस कमजोरी का फायदा उठा मेरे सामने दीपा को या दीपा के सामने मुझे झिड़कती रहती हैं।' अब मुझे तो सब पता है कि अम्मा ने सारी उम्र गांव के अनपढ़ तथा गरीब किसानों के बीच काटी है। उन्हें चतुराई तथा लाग-लपेट से बात करनी नहीं आती। हर बात मुंह पर कह देती हैं। दीपा शहर में ही जन्मी-पली है। वह भी दिल्ली जैसे महानगर में, जहां समाज में इतनी वर्जनाएं नहीं हैं। उसके मम्मी-डैडी पढ़े-लिखे हैं, खाते-पीते घर के हैं। वह अम्मा की इन दकियानूती बातों से बहुत चिढ़ जाती है। कई बार तो बुरी तरह नाराज भी हो जाती है। कई बातों में मैं उसे मना ही लेता हूं, 'दीपू डीयर, अम्मा ने तो बीस दिन ही रहना है हमारे पास। फिर उनके मन में तुम्हारे प्रति कोई बुराई तो है नहीं। प्लीज समझो, तुम तो मनोविज्ञान में एम.ए. हो। हमारे प्रति ज्यादा प्यार और अधिक सावधानी ने उन्हें ऐसा बना दिया है। फिर गांव में अकेले रहने की आदत के कारण भी उन्हें टोकने की आदत पड़ गई है।'

कुछेक बातों में दीपा की सहन-शक्ति चुक जाती है। होता यह है कि जब अम्मा गुस्सा हो रही होती हैं या हिदायतें दे रही होती हैं तो दीपा को गुस्सा तो आ रहा होता है मगर मेरे कारण चुपचाप धुग्गू बनी अपना काम करती जाती है। इससे अम्मा और भी बिफर जाती हैं। अगर उन्हें अपनी बात का उत्तर न मिले तो अम्मा आपे से बाहर हो जाती हैं। अभी उस दिन की बात है। दीपा की सहेली हिना के घर से कटोरी में हलुवा आया तो खाने के पहले दीपा ने अम्मा को ही सब से पहले आफर किया। अम्मा ने चकित नजरों से पूछा, 'हलुवा कब बनाया, बहू।' मेरे मुंह से अनायास निकल गया 'वो तो मां, हिना के घर से आया है।' बाद में मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ। हिना मुसलिम परिवार की है। अम्मा उनके घर का पानी तक नहीं पीती।

बस अम्मा तो शुरू हो गई, 'क्यूं अपना धर्म बिगाड़ने पर तुले हो। हिंदू होकर....' मैंने मंच संभाल लिया, 'अम्मा दुनिया बहुत बदल गई है। इतने साफ-सुथरे हैं ये लोग। अपने उस सरदारी लाल से लाख अच्छे हैं जिनके घर आप चाय पी आती हैं। उनके बर्तनों पर तो फफूंद जमी होती है। हिना तो अच्छे खाते-पीते, साफ-सुथरे...' मैं बोला, 'अम्मा दुनिया बहुत बदल रही है।' आज से पचास साल पहले जो बातें थीं वो आज नहीं रहीं। आप खुद बताती थीं सैतालिस के दंगों के दौरान लाहौर में आपके पड़ोस के मुसलमान परिवार ने अपना गहना लत्ता कैसे संभाल कर रखा और दंगों के कई साल बाद आप जाकर ले आईं।' यहां पर अम्मा पराजित हो गईं। उन्हें अपना वतन याद आ गया। नम आंखों से बोलीं, 'कितने अच्छे थे वो लोग। जब हम उनसे बिछुड़े तब टप-टप आंसू रो रहे थे। मेरी एक बचपन की सहेली थी-सलमा।

उसने तो मुझे कस के जकड़ लिया था, छोड़ ही नहीं रही थी।' अम्मां की आंखों से आंसू निकल पड़े।

मैं चाय सुड़क रहा था। अम्मा फिर बोल पड़ी, 'बेटे अपने गांव का बिरजू यहीं रहता है न दिल्ली में, उससे मिला ला मुझे।' मैं बचना चाहता था। दिल्ली में तो वैसे भी स्कूटर पर चलना जोखिम भरा है और बसों में तो घंटों लगते हैं। मैंने कहा, 'अम्मा, क्या करोगी उससे मिलकर। एकदम घटिया आदमी है वह एक दिन करोल-बाग में मिला था। उसने दिन-दहाड़े शराब पी रखी थी। एक बार दीपा के सिर पर हाथ फिरा रहा था, मुंह से शराब की बू....उफ! आखिर ठहरा तो ड्राइवर ही न।'

अम्मा तैश में आ गई, 'पीती तो सारी दुनिया है। तुम भी तो काकटेल पार्टियों में जाते हो। कितना अपनापन जाता रहा होगा। बिरजू बेचारा अकेला था जब दिल्ली आया तो, न मां, न बाप। अपनी बिरादरी का है। तुमने तो हर किसी से कन्नी काट ली है। जब बच्चों की शादी ब्याह, दुख-सुख... तब कौन आएगा तुम्हारे यहां...।' अब यहां से मेरी पछाड़ने की सीमा-रेखा शुरू हो गई थीं। मैं बोला, 'अम्मा, मेरा यह सब मतलब नहीं था...' मगर अम्मा तो दनादन बरस रही थी, मैंने धूप में बाल सफेद नहीं किए हैं। तुम लोग पढ़-लिख कर शहर क्या आ गए, पढ़ी-लिखी बहू मिल गई, फ्लैट ले लिया तो क्या बाकी लोग छोटे हो गए। गांव और गांव के ये लोग तो तुम्हारी जड़ें हैं। शहर में तुम्हारी शाखाएं जरूर बढ़ी हैं मगर लौटना तो तुम्हें गांव में ही है वहां अपनी जमीन, घर...।' अब तो कुछ बातें स्पष्ट ही करनी पड़ेंगी, ऐसा सोचकर मैंने हिम्मत की, 'अम्मा तुम्हें तो पता ही है कि कितना कष्ट सह कर, शहर में एक किराए के कमरे में खुद खाना बना-बना कर मैंने पढ़ाई की है। अब मेरे बच्चे गांव में जाकर तो पढ़ नहीं सकते। तुम यहां जल्दी ही तंग आ जाती हो। हां, अम्बाला में कृष्णा बुआ के पास तुम्हारा खूब मन लगता है।'

मैं चुप हो गया। इन सब विकल्पों के लिए मैं तैयार नहीं था। हमारी अपनी समस्याएं थीं। फ्लैट की किस्तें जा रही थीं अभी ब्लैक में टेलीफोन खरीदा था। बच्चों को अच्छे स्कूल में दाखिल करवाया था। मैं कम्प्यूटर खरीदने की सोच रहा था। दीपा शाम को एक प्राइवेट कालेज में पढ़ाती थी। कार लेने का आइडिया बना रहा था। बीच में अम्मा अपने सुझाव देकर सिर दुखा देती थीं। अम्मा को दिल्ली से शुरू से ही नफरत थी। हालांकि अपनी जवानी में वह बताती हैं, अम्मा तीन-चार साल दिल्ली में रही थीं, जब पिताजी फौज में थे। दीदी की पैदाइश तो दिल्ली की ही थी। मैं काफी लेट पैदा हुआ। तभी तो अम्मा ने मुझे बहुत प्यार से पाला। पिताजी ने रिटायरमेंट के बाद गांव में कई धंधे किए। पिताजी ने एक छोटा-सा पोल्ट्री फार्म खोला। साल के अन्दर ही बीमारी से सारे पक्षी मर गए। फिर दूध की डेयरी खोली। उसमें भी 'सैंपल' भर गया। ईमानदार इतने थे कि रिश्वत नहीं दी। तीन महीने सजा जरूर काट आए। बाद में एक फैक्ट्री में लगे रहे। तीन-चार साल बाद हार्ट अटैक... अम्मा की कुछ पेंशन थी। कुछ खेतों से आमदनी हो जाती थी। कुछ भैंसों का दूध बेचकर अम्मा ने

इंजीनियरिंग पूरा करवाने में मेरी मदद की। शादी की बात पर अम्मा अड़ गई थी। वह किसी छोटे कस्बे से अपनी बिरादरी की ही बहू लाना चाहती थी। मेरी जिद के आगे उन्होंने हार तो मान ली मगर दीपा को कभी खुले दिल से स्वीकार नहीं किया। दीपा के माता-पिता के संस्कार, रीति-रिवाज हम से कुछ अलग थे। शुरू के कुछेक वर्षों में मुझे और दीपा को बहुत दिक्कतों का सामना करना पड़ा। सारे रिश्तेदार ही लगता था, खिलाफ हो गए थे। बच्चे हुए, धीरे-धीरे दीपा के व्यवहार से सब कुछ सामान्य होता गया। मगर अम्मा कुछ अधिक देर यहां दिल्ली में टिक नहीं पाई। उन्हें गांव के अनुरूप यहां वैसी बातें करने का कोई साथी नहीं मिलता था। दीपा को तो अम्मा का टोन या लहजा समझ नहीं आता था। अम्मा कब नाराज हो जातीं या वैसे ही प्यार से झिड़क रही होती, दीपा जान नहीं पाती थीं।

इसलिए दस-पंद्रह दिन बाद अम्मा फिर अपनी अटैची तैयार कर लेती थी। कभी कृष्णा बुआ की तरफ, कभी मामाजी की ओर तो कभी गांव का रुख कर लेती थीं-अम्मा। अपनी बड़ी बेटी विभा को जब हमने नृत्य सिखाना शुरू किया तो उन दिनों अम्मा दिल्ली में ही थीं। उन्होंने सुना तो बवेला मचा दिया। एक महानगर के प्रतिष्ठित स्कूल में यह सब मान्य था, गौरव की बात थी, बाद में कैरियर भी बन सकता था। मगर अम्मा को कौन समझाए। अम्मा वही तीस साल पुराने मूल्य, वही धारणाएं ले बैठती थीं, 'लड़की ने तो पराए घर जाना है। उसे कोई सिलाई-कढ़ाई वगैरा... घर का काम, रसोई...' ऐसे में दीपा चुपचाप बाहर चली जाती थी। और अम्मा से उलझने को मैं अकेला रह जाता था। मैं भी तो उन्हीं संस्कारों में पला बढ़ा हूं। महानगर में सदी के इस आखिरी पड़ाव पर नए मूल्य, संस्कृतियां मुझे आकर्षित करती हैं तो फिर मुझमें और अम्मां में अंतहीन द्वंद्व-युद्ध शुरू हो जाता है जिसका कोई ओर-छोर अब तक नहीं मिला।

□

# ग़रीबी

तरुण

***शहरी सभ्यता में दो मानव संस्कृतियां बसती हैं। एक वो जो दु:ख की घड़ी में अपने खास लोगों को भी नहीं पहचानतीं और दूसरी संस्कृति के पालक अनजान व्यक्ति की मदद करने से भी पीछे नहीं रहते।***

वह रो न सकी। उसे पता था कि उसे कोई भी सहारा नहीं देगा। कोई ऐसा कंधा नहीं था जिस पर सिर रखकर वह दो आंसू बहा सके। नंगे पांव, वह स्ट्रैचर उठाए हुए वार्ड कर्मचारियों के साथ चलने की कोशिश कर रही थी। स्ट्रेचर पर रखे, सफ़ेद चादर में लिपटे, मृतक शरीर को वह एकटक देखती रही थी। यह लाश उसके प्रीतम की थी जिससे वह जीवन भर दिलोजान से प्यार करती आयी थी। कुछ क्षण पहले ही, वह उससे हंस-बोल रही थी; मगर अब वह निर्जीव था। अब वह कभी न बोल पाएगा। दोनों ग़रीब थे, पर दोनों ने अपने भविष्य के लिए बहुत-से सपने संजो कर रखे थे। वे इनकी हमेशा चर्चा किया करते थे। आज वे सभी छोटे-बड़े सपने, अचानक एक तेज़ हवा के झोंके के साथ ग़ायब हो गए थे। सच्चाई यह थी कि उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि जिससे वह अपने प्रियतम का अंतिम संस्कार कर सके। जीवन का अंत अचानक और वक्त से बहुत पहले ही सामने आ खड़ा हुआ था।

वे आई.सी.यू. और वार्ड से बाहर आ चुके थे। वार्ड-कर्मचारियों ने स्ट्रेचर धरती पर रख दिया था। उन्होंने आशा भरी निगाहों से युवती की ओर देखा और अपनी बख़्शीश का इंतज़ार करने लगे। मौत उनके लिए एक आम बात थी। सुबह-शाम इसके बीच वे विचरते थे। उस युवती को शून्यवत खड़ा देख, उन्होंने लाश को जमीन

पर डाल दिया। यह कहते हुए कि स्ट्रेचर अन्यत्र चाहिए, उन्होंने स्ट्रेचर समेटा और वहां से चल दिए।

कुछ ख़ुदा-तरस लोगों की मदद से उसने एक टांगा किराये पर लिया और अपने दिलबर की लाश को वह श्मशान की ओर ले चली। उन्हें वहां पहुंचने में कुछ समय लगा। पूरे सफ़र में वह उस ढके हुए चहरे को, आहें भरते हुए, एकटक देखती चली गई।

आख़िरकार, मंजिल आ पहुंची। टांगे वाले की मदद से वह लाश को दाह-संस्कार के मंच तक ले गई। उसे टांगे का किराया मालूम था। उसने अपनी जेबें टटोलीं। उसके पास किराए की राशि से दो रुपए कम थे। वह उलझन में पड़ गई। टांगे वाला समय की नजाकत और युवती की व्यथा को भांप गया। टांगेवाले के लिए यह कोई नई बात नहीं थी; क्योंकि वह ख़ुद ग़रीब था और ग़रीब के बीच में ही रहता था। उसके दिमाग़ में लाश को जलाने की चिंता घूम रही थी। उसने अपनी जेब टटोली, परंतु उसके पास दाह संस्कार करने के लिए, लकड़ी ख़रीदने के लिए पूरे पैसे नहीं थे। दोनों ने पैसे जोड़ कर लकड़ी ख़रीदी। इतनी देर में पुजारी जो उस घाट का कर्ता-धर्ता था, वहां आ पहुंचा। उसने मंत्र-पाठ के लिए अपनी फ़ीस मांगी। उसका कहना था कि मंत्र-पाठ ही मृतक की आत्मा के लिए स्वर्ग का रास्ता बनाता है। जैसे ही उसे पता लगा कि युवती के पास एक पैसा भी नहीं है। वह गुस्से में बड़बड़ाता हुआ वहां से चल दिया और यह कहता गया कि ऐसी आत्मा को नर्क का दुख भोगना होगा।

युवती अपने प्रियतम के लिए ऐसा शाप कैसे सहन कर सकती थी? उसने अपनी ऊंगली से चांदी की वह अंगूठी, जो उसके परमप्रिय ने उसे पिछले साल दी थी उसे उतार कर पुजारी को दी। यह कीमत उसके लिए बहुत भारी थी क्योंकि उसके पास अपने महबूब की यह आख़िरी निशानी थी; पर उसे लगा कि यह कीमत पुजारी के मुंह से निकले अभिशाप से होने वाली हानि से कम थी। चांदी की अंगूठी पाकर पुजारी की संतुष्टी हो गई। उसने कुछ मंत्र पढ़े और लाश का दाह-संस्कार संपन्न कराया। दास-संस्कार के बाद टांगे वाले ने युवती को उसकी झुग्गी तक छोड़ दिया। पूरे रास्ते वह दोनों मौन बैठे रहे। उस चुभती हुई चुप्पी को तोड़ते हुए सिर्फ एक बार टांगे वाले ने कहा कि ज़िंदगी मौत से भी ज्यादा महंगी हो गई हैं। अपनी झुग्गी के पास उतरते हुए युवती ने आभार और माफ़ी-भरी निगाह से टांगेवाले की ओर देखा। उसके पास टांगे वाले को देने के लिए कुछ भी नहीं था। टांगेवाला आगे चल दिया, अपनी और अपने घोड़े की रोटी कमाने के लिए। युवती अपनी कुटिया के अंदर चली गई। वह वहीं ज़मीन पर बैठ गई। उसके आंसू बहने लगे। इसी का ही नाम तो ग़रीबी है।

□

# संवेदनहीनता

## सिद्धेश्वर

गौहाटी के पास हुई भीषण ट्रेन दुर्घटना में चार हजार से अधिक यात्री मारे गए। सरकारी आंकड़ों के अनुसार मात्र पांच सौ लोगों की मृत्यु हुई है और उनके परिवारवालों को मुआवजे के रूप में चार-चार लाख रुपए देने की घोषणा रेलमंत्री द्वारा की गई।

रघु तो अपने बेटे की लाश देखकर कई दिनों तक गूंगा बना बैठा था। जब जुबां खुली, तब उसने पश्चाताप करते हुए अपने मित्र से कहा, ''यह सरकार की बेइंसाफी है। युद्ध में मारे गए शहीदों का मुआवजा दस-दस लाख रुपए और मेरे बेटे की मौत का मुआवजा मात्र चार लाख रुपए? हमारा वह एकमात्र सहारा था। इन चार लाख रुपयों से क्या होगा?...''

उसके मित्र ने दौलत की हवस में, रुआंसा चेहरा बनाकर, कलपते हुए कहा, ''मेरी किस्मत तो तुमसे भी खराब है, मित्र। इस ट्रेन दुर्घटना में दो सौ से अधिक देश के जवान मारे गए, जो कारगिल में युद्ध के लिए जा रहे थे। इन जवानों में एक मेरा जवान बटा भी था, जिसे कारगिल में जाकर पाकिस्तानी दुश्मनों का मुंह तोड़ जवाब देने की बहुत इच्छा थी। मगर, बेचारा कारगिल पहुंचने से पूर्व ही इस ट्रेन दुर्घटना में मारा गया।...''

''तो।''

''देश की सीमा पर शहीद होने पर दस लाख रुपए की सम्मान राशि मिलती। उस तुलना में छ: लाख रुपए का मेरा घाटा हो गया। दस लाख की जगह, चार लाख रुपए लेकर क्या अपने जवान बेटे की क्षतिपूर्ति कर पाऊंगा मैं?....''

□

# गंतव्य का मंतव्य

चैतन्य त्रिवेदी

*कहानी लिखने की तुलना में लघु कहानी लिखना एक कठिन कार्य है। उस पर जब बड़ी-बड़ी जनसमस्याओं को कुछ पंक्तियों में ही पाठक के सामने रख दिया जाए और पाठक एकाग्रचित्त होकर पढ़ने लगे तो इसे गद्य विधा की गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति का पर्याय ही माना जाएगा। चैतन्य त्रिवेदी की लघु कथाएं इसका ज्वलंत उदाहरण हैं।*

ये गाड़ी कहां जा रही है?

आपको कहां जाना है—मैंने बुजुर्गवार सज्जन से पूछा। यह तो कोई ढंग नहीं हुआ। मैंने सीधा-सा प्रश्न पूछा, प्रतिप्रश्न की जरूरत ही नहीं है। बुजुर्गों से प्रश्न नहीं किए जाते हैं, प्रतिप्रश्न तो कदापि नहीं। बुजुर्गवार ने सलाह देते हुए कहा।

मैंने उनकी झल्लाहट भरी आवाज को तवज्जो दी और मुस्कराते हुए कहा- ''यह बनारस जाएगी।''

आपको कहां जाना है? मैंने पूछा।

तुम्हें इससे क्या वास्ता? अखबार पढ़ते पढ़ते वे बोले। फिर भी?

अखबार से नजर उठा, चश्मे से देखते हुए कहा—

''मैं काशी जा रहा हूं।''

''एक ही बात है।'' मैं तपाक से बोल पड़ा।

नहीं! एक ही बात नहीं है यह! कैसे? मैंने हैरान हो पूछा।

आप दुनियादारी के गोरख धंधे की वजह से जा रहे ना!

'जी'—मैंने कहा।

''इसलिए आपने बनारस कहा। मैं तीर्थ यात्रा पर जा रहा हूं।'' -और वे अखबार में तल्लीन हो गए।

## अस्तित्व

एक दिन रास्ते में मिले एक पत्थर ने बताया कि वह भी अब कांटा हो जाना चाहता है।

क्यों भला, पत्थर बने रहने में क्या दिक्कत है, मेरे ऐसा पूछने पर उसने बताया कि वह अब चोट करना नहीं चुभना चाहता है। चोट तो आदमी भूल-भुला जाता है। देखो ना अब, कितने ही लोगों ने ठोकरें खाई लेकिन नतीजा क्या। ठोकरों से भी कुछ नहीं सीखता इंसान। मैंने सुना है चुभने से टीस बनी रहती है। फिर कांटा बन जाऊंगा तो फंस जाने पर मुझे निकालने की कोशिश होगी। मैंने उसे टोकते हुए समझाया, ''नहीं ऐसा नहीं है। तुम्हारा सोचना गलत है। पत्थरों के साथ चुभने जैसा कुछ नहीं होता। हां, इसके लिए भी तुम्हें कंकड़ होना पड़ेगा। कांटा तो फिर भी नहीं बन पाओगे। कांटे तो होते हैं चुभने के लिए। तुम तो किसी चट्टान के टुकड़े हो। चुभने के लिए तुम्हें बिखर-बिखर जाना होगा। अगर कंकड़ बन चुभना चाहो तो भी।

ऐसा क्यों-पत्थर ने सवाल फेंका।

यह नेचर-नेचर की बात है। हरेक अस्तित्व का एक स्वभाव विशेष होता है। मैंने समझाया।

अच्छा! पत्थर का भी कोई नेचर होता है। वह हंस पड़ा। देखो,, तुम्हारा नेचर नहीं होता तो आदमी कलेजे पर तुम्हें रखता क्या? तुम चोट के लिए बने हो, चुभने के लिए नहीं। तुम्हारे अंदर पहाड़ का अतीत है। यात्रा के स्वप्न हैं जो फासलों की नाप-जोख करते हैं। तुम्हारी चिंगारियां तो सितारों की बौछारों को भी लजा देती हैं। आखिर तुम चुभने के लिए और टूटना क्यों चाहते हो।''

और पिर पत्थर ने कांटा बनने का ख्याल छोड़ दिया।

## सच जो पत्थर में है

भीड़ ने अब पत्थर उठा लिए थे। उधर वह बराबर भीड़ पर निगाह रखे हुए था। उसने भीड़ से कहा-''आप सबने पत्थर नहीं, अपने-अपने चेहरे उठा लिए हैं, जरा गौर से दिखिए।''

क्या बात करते हो? और सभी ने एक क्षण को अलग-अलग तरीके से अपने

अपने हाथ के पत्थर निहारे। हरेक को अपनी शक्लें दिखाई देने लगी।

अरे जादू है यह तो। हमने जब भी पत्थर उठाए कुछ दिखा ही नहीं, पत्थर के सिवा। भीड़ ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा।

नहीं, कोई जादू नहीं हुआ है। आपने जब भी पत्थर उठाए, पत्थर से पहले आप फिंक गए। मैंने तो बस आप लोगों को फिंक जाने से रोक लिया। फेंकने की फिक्र में, देखने की परवाह रही कब आपको!-उस व्यक्ति के ओजस्वी स्वर थे। आगे उसने बताया, 'जादू तो इसका संगीत सुन पानी-पानी हो जाना भी नहीं है।''

फिर पापों का क्या होगा। पापियों का क्या किया जाए? भीड़ चिल्ला पड़ी।

पाप अगर पत्थर मारने से खत्म होते तो ईश्वर कभी इन पत्थरों में अपनी शक्लें तय नहीं करता वह इन्हें पत्थर ही रहने देता।

धीरे-धीरे सब चले गए वहां से, पत्थरों को वहीं छोड़।

# नमक पर बोलना सहज बात नहीं है!

मुझे वहां नमक पर बोलना था। अब नमक पर क्या बोला जाए। कहने को तो सरल-सा विषय है। फिर भी मैंने अधिकारिक विद्वानों से संपर्क किया। उनके अनुभव जन्य जीवन से चार बातें मिल जाए शायद। मैंने उन्हें बताया कि कल बच्चों के एक स्कूल में नमक पर बोलना है। वे सब एक-एक कर किनारा कर गए। यार विषय तो सरल है, पर जरा अन्य गंभीर विषयों के चिंतन में व्यस्तता है। तुम्हीं देख लो यार नमक ही तो है। एक अन्य विद्वान समुद्र के खारेपन पर निबंध लिखन में व्यस्त थे। कवि मित्र नमक पर लंबी कविता लिखने के मूड में थे।

मैं दिन भर संपर्कों में व्यस्त रह, थका-हारा घर लौट रहा था। रास्ते में बचपन के मास्टर जी मिल गए। मैंने उन्हें प्रणाम किया। खैर ख्वाह पूछी। वे बड़े प्रसन्न हुए। तीस बरस बाद भेंट हुई थी। बात बात में मैंने जिक्र किया कि कल मुझे एक स्कूल में नमक पर बोलना है। मैं इस संदर्भ में कई विद्वानों से मिला लेकिन वे टाल गए।

उन्होंने अपनी लाठी टेके झुके हुए बताया, ''देखो बेटा, जीवन और मृत्यु पर बोलने के लिए दर्शन में बहुत कुछ है। सामाजिक विषयों पर कई ग्रंथ हैं। धर्म पर तो ढ़ेरों किताबों को पढ़ बोला जा सकता है। बोलने वाले विंद्वान भी हैं। लेकिन, नमक पर बोलना सहज बात नहीं है। नमक पर बोलना खारेपन पर बोलने जैसा नहीं है। यह तो चींटी भी जानती है। सही बात तो यह है, नमक पर बोलना बगैर ईमानदारी के आ ही नहीं सकता। और वे चश्में के पीछे से दीर्घ अनुभवी नजरों से देखते रहे मुझे देर तक।

□

# आत्मिक बंधन

## डॉ. सतीश राज पुष्करणा

लगभग पूरे उतर एवं पूर्व भारत में ऐसी शीत लहर चल रही थी कि नगरों में जगह-जगह अलाव जलते दिखायी देने लगे। हाड़ कंपाने वाले मौसम में योगेश्वर बाबू और उनकी पत्नी...इस बुढ़ापे को कोस रहे थे। सर्दी और बुढ़ापे में जैसे छत्तीस का संबंध है। उस पर गरीबी...जलते में घी का काम कर रही थी। घर में ये दोनों ही थे। सब बच्चे अपनी-अपनी दुनियां में अलग रह रहे थे।

रात जैसे-जैसे गहराती जा रही थी, ठंड की ठिठुरन वैसे-वैसे बढ़ती जा रही थी। दोनों पति-पत्नी अलग-अलग अपने मन में सोच रहे थे कि एक-एक रजाई के अतिरिक्त एक ही कम्बल फालतू है। किंतु इस कारण सर्दी में इसे फालतू तो नहीं कहा जा सकता, बल्कि एक कम्बल की और आवस्यकता है। ऐसे में क्या किया जाए? दोनों में से कोई एक व्यक्ति ही उस कम्बल का उपयोग कर सकता है, दूसरे को बर्दाश्त करना होगा।

पत्नी के दिल में भारतीय नारी का दायित्व जाग उठा, सो उसने वह कम्बल पति की रजाई के ऊपर ओढ़ा दिया। पति ने कहा, "अरी भाग्यवान्। यह क्या कर रही हो। मुझे इतने बोझ के नीचे दबाकर मार डालोगी क्या? तुम औरत हो। तुम्हारा शरीर कमजोर है, तुम अपने ऊपर ओढ़ लो।"

"आप तो बस यों ही चिल्लाते रहते हो। चुपचाप लेटे रहो। सर्दी लग गयी तो...आफत तो मेरी जान को ही होगी न।"

"तुम बात को समझती क्यों नहीं?"

"कहा ना, चुपचाप पड़े रहो...बुढ़ापे में कुछ ज्यादा ही बोलने लगे हो।"

योगेश्वर बाबू ने समझ लिया कि जिद्दी पत्नी नहीं मानेगी...स्वयं में वह बर्दाश्त कर सकती है, उन्हें कष्ट हो...यह श्रीमती जी को बर्दाश्त नहीं। पत्नी के स्नेह

पर उन्हें गर्व हो आया। और वह यह कहते हुए, ''जैसी तुम्हारी इच्छा...'' चुपचाप लेटे रहे।

पत्नी इत्मीनान से अपने बिछावन में उकुडू होकर लेट गई...और कुछ देर में सो भी गयी। पति का पौरुष जागा और वह धीरे से उठा। और अपनी रजाई से कम्बल उतारकर बहुंत ही धीरे से पत्नी के ऊपर ओढ़ा दिया। अब पत्नी का चेहरा देखकर उन्हें संतोष हुआ कि अब उसे जाड़ा नहीं लग रहा है और स्वयं पुन: अपने बिछावन पर आकर सो गए।

सुबह जब आंख खुली, तो देखा...कम्बल पुन: उनकी रजाई के ऊपर था।

□□

# सीताकांत महापात्र

## नया साल

लगता है, शायद कुछ छोड़ आया पीछे
कहीं कुछ छूट गया पीछे;
दिग्वलय तक फैले खेतों में
डग भरते अकेले-अकेले जाते समय जाड़े की सांझ
दूर गांव के लोग
जैसे अदृश्य हो जाते हैं धीरे-धीरे
नदी अपना मोड़ मुड़कर बढ़ जाने पर
सुदूर मोड़ का वह मंदिर
जैसे खो जाता है झीने कोहरे में।

कौन आगे बढ़ जाता है?
मैं या समय?
रुकी ट्रेन में बैठे-बैठे न जाने कितनी बार सोचा है
हम भागे जा रहे हैं
जबकि सचमुच में हमारी बगल से
एक दूसरी ट्रेन राक्षस-सी दौड़ जाती है।

कुछ नया घटित नहीं होता
सारे क्षय, क्षति, आशा, स्वप्न पहले जैसे हैं
सारे दु:ख, क्षोम, भरोसे पहले जैसे हैं
रोजाना की तरह छत से दीखता है
करुण नारंगी सूर्य डूब रहा है कोहरे में
मोरों का एक झुंड पास वाले जंगल में डोल
रहा है भूत सा
आकाश में झुंड की झुंड

चिड़ियां लौट रही हैं घोसलों में
सांझ हुई, सांझ हुई का कलरव करती
अकेला तोता न जाने क्यों
मन मारे बैठा है सप्तपर्णी पेड़ पर
लोटन कबूतर पलटनियां खाता
लौट आया है अपने मचान पर
कुछ ही देर में वह नन्हा बालक
अपना बस्ता लिए, रोज की तरह
जाएगा ट्यूशन मास्टर के घर।

बस, मैंने खुद को समझाया है
यह एक दूसरी सांझ है
कहीं कुछ रीतता जा रहा है
कुछ उगता आ रहा है दूसरे दिगंत से
एक दीया जलते-जलते बुझने को है,
रात के बाद सुबह होने पर
हम जा पहुंचते हैं एक नए इलाके में
पीछे क्या कुछ छोड़ आए होंगे
शायद कुछ अनकही बातें
अबूझ सिसकियां
अनलिखी कविताएं
अव्यक्त स्नेह।

इसी तरह एक दिन
गुजर जाएगा उदास समय उसका डग भरता
मन ही मन सोचता हुआ
मानों वह कुछ छोड़ आया हो
मानो कोई छूट गया हो पीछे;
पर याद नहीं आएगा उसे
जिसे छोड़ गया वह
जो खोता चला जा रहा है दूर कोहरे में
वह मेरे सिवा और कोई नहीं।

□

## ऐच्छिक मृत्यु

सबके अनजाने
अपनी ही इच्छा से
मर चुके थे वे
आहिस्ता-आहिस्ता।

घबराहट भरे कई क्षणों में
जीवन की लगाम खींचे जाने पर
मन मजबूत करना पड़ता था उसे;
कि यही मृत्यु श्रेयस्कर है।

जीते जी वे मर चुके थे वे स्वेच्छा से
डर सिर्फ इतना था
कहीं किसी वक्त जी न उठें वे
कोयल की कूक या बादलों की घड़घड़ाहट से
पुलकित न हो उठें
फूलों की महक या नाती की खिलखिलाहट से
रुआंसे-रुआंसे से न हो जाएं पिल्ले के मरने से
इंद्रिय, बुद्धि, मन, अहंकार
छड़ी लगा रहे होंगे क्या सांझ क्या सबेरे।

क्या लाभ दिशा न सूझते
इस विशाल वीरान रेगिस्तान में
इस तरह चलते रहना है
बस चलते चले जाना है
मन मा, रे आंसू बहाते, खून झराते;
यह मर जाना तो सौ सुना बेहतर है उससे।

इसके अलावा क्या जीना है, क्या मरना
वह तो देखने का नज़रिया है, न्यारा खेल है
जैसे गहरी नींद से जगने पर
धुंधली रोशनी देख समझ नहीं आता
सांझ है या सुबह।

...............

□

## आत्मलिपि

घने जंगल में चीड़ का फल मैं
पड़ा रहता हूं नीचे मां की ओर ताकता
पिकनिक में आए बच्चों द्वारा मुझे
उठाए जाने की संभावना तक नहीं होती।
मैं शिआली लता को अगोरे
सूर्य को तलाश रहा होता हूं
खुद को दिखाना नहीं होता किसी को।

राह शून्य पहाड़ की कमर पर
मैं एक खामोश पत्थर
काट-छांटकर न बनाओ मुझे देवता
न बिठाओ मंदिर में
नहीं सह सकता मैं दूसरों के दु:ख-दर्द और आंसू
यही ठीक है, यहीं रहता हूं मैं हमेशा
दिन भर पहाड़ी झरने के गीत सुनता
रात को नीले आकाश के नक्षत्रों को देखते-देखते
सो जाता हूं
आंख खुलने पर, फिर सो जाता हूं।
इतिहास लिख जाता है।

टेढ़ी-मेढ़ी नदी की खुली मुट्ठी में
मैं सरकंडे का फूल
हवा की तेज सांसों से थर्राता हूं, डोलता हूं
काले बादलों के राज करने के बाद
मेरा ही रंग लिए
बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े
मेरी ही ओर देखते हुए
चले जाते हैं कहीं जुलूस बना।
शक्ति की आराधना से
शांति के आवाहन से
मेरे ही डोलने के संगीत से
खत्म हो जाता है इतिहास लिखना।

*(अनुवादक : डॉ. राजेन्द्र मिश्र)*

□

# ज्योत्स्ना मिलन

## पृथ्वी से बाहर

अभी अभी
घसीट लाई थी हवा
बादलों को
अभी अभी
उड़ा ले गई अपने साथ

पीले उजाले में
चकित हरे पड़े
सफेद मुंडेरें
सुर्ख गुलमुहर
सलेटी एन्टीना की भीड़
पूरे दृश्य को
पतंग की तरह उड़ाती
भागी जा रही थी लड़की
जैसे
पृथ्वी से बाहर निकलकर ही दम लेगी
हवा के लिए असंभव था मगर
पृथ्वी से बाहर जा पाना।

□

## सह्याद्रि के पहाड़ों में

उससे एकदम उलट दिशा में भागते
सह्याद्रि के पहाड़ों में
सुबह सुबह
धरती के उड़ने की आशंका

टोंच से उड़ी
फुलचुक्की की देह में
धरती का लाघव

पृथ्वी पर पड़ती
अपने ही छाया में
धरती के लौट आने का भाव।

□

## पैर

खड़े थे पैर
असमंजस में
चलें कि खड़े रहें
सोच में पड़ गए वे
चलने से पहले

चट् से उठते थे
और चलने लगते थे
बचपन में
नहीं होती थीं कोई निश्चित वजहें
चलने की या खड़े होने की
पैरों ने कभी
कल्पना भी नहीं की थी
कि वे सोचने लगेंगे
एक दिन!

□

## पहुंच से परे

उनके हाथ को
अपने हाथ में लिये सहलाती
वह चकित थी-
इतनी लंबी-चौड़ी देह का
वह हाथ
सेमल की तरह मुलायम था
अब भी
और वे लगातार
नाम लेकर पुकार रहे थे उसे
जैसे वह दूर कहीं हो
आवाज की पहुंच से परे।

□

# दामोदर खडसे

## शामियाना

सच कहते हैं
तुम्हारे आत्मीय
आम्रबौर-सा
महमहाता है
तुम्हारा सान्निध्य
मौन आंखों से
उगता है
एक रेशमी अलाव
सारी उम्र ही
भीतर-बाहर तक
पा जाती है
एक यादगार छुअन
रोशनी में नहाये
शब्द
छेड़ देते हैं
कानों में सितार
और मन
अनायास ही
हो जाता है
जलतरंग

प्राणों की अनुभूति
बन जाती है कविता
एक साथ फूट पड़ने की
आपाधापी में
सारी अभिव्यक्तियां
सौंप जाती हैं मौन
कंठ को

होंठ सुगबुगाकर ही
देते हैं संदेश
तुम्हारे सान्निध्य का
अब फकीर भी
मुट्ठियां भर-भर
लुटाने लगे हैं
खुशियों की अशर्फियां
जंग लगा लोहा भी
तुम्हारी कहानियां सुन-सुनकर
सोना होना चाहता है
तुम्हारे आत्मीय
सच कहते हैं
तुम्हारा सान्निध्य है
पारस

अकाल और तूफान
बाढ़ और भूकंप
जीवन को
ललकारते हैं
अनजाने भ्रम
और अनदेखे मोह
रह-रहकर बहकाते हैं
पर तुम्हारी
पारदर्शी मुस्कान
सौंप जाती है
सुरक्षित आशियाना
अब मालूम हुआ मुझे
तुम्हारे आत्मीय
अपने कवच पर
इतना क्यों इतराते हैं
तुम्हारे सान्निध्य तक
क्यों खिंचे आते हैं!

□

# कन्हैयालाल बाजपेयी

## इतना तो पाप किया ही है...

इतना तो पाप किया ही है हमने
अब तक प्रसाद की तरह प्यार बांटा
दिन भर इन, उनके लिये हंसे गाये
खुद रात रात भर ढोया सन्नाटा

वह प्यार कि, जिसमें अणिमा होती है।
वह प्यार कि जिसमें गरिमा होती है
हम गन्फहीन सुमनों को दे आये
वह प्यार कि जिसकी महिमा होती है
इस इकतरफा व्यापार प्रणाली में
आजीवन, हम झेलते रहे घाटा...

इतनी भी समझ नहीं आई हममें
हर पुस्तकधारी-छात्र नहीं होता
हर रूप कि जो आंखों को सौम्य लगे
मन के आदर का पात्र नहीं होता
जो ग्रहण लगा था उस चन्दा पर भी
मन के सागर ने, जिया ज्वार-भाटा...

दरवेश वेश धरकर बालेपन से
इस उस पर फिरकर हमने क्या पाया
अपशब्दों की. सौगात मिली हमको
दर्दों को खाया-पिया और गाया
उतनी ही गहरी खाई मिली हमें
जितना ही हमने दूरी को पाटा...

□

# नीलेश रघुवंशी

## अंतर

एक ही देश के हम
फिर भी
कितने अलग-अलग
कितना अंतर
हमारे घर में इनके घर में।
ऐसा खुलापन ऐसा हरापन
वहां क्यों नहीं रहते हैं जहां हम।
मैदान और समुद्र के गांव के बीच की दूरी
पट क्यों नहीं जाती।
हमारे गांव ऐसे क्यों नहीं
जहां बिजली हो, पानी हो।
अखबार टी.वी. हो।
आंगनवाड़ी हो, सड़कें हों-स्कूल हो।
घर और खेत एक साथ हों
ताकि औरतें भी देख सकें आसमान
चूल्हे से उठता धुंआ भरे नहीं घर में।
होना ही चाहिए
सबसे पास बराबर बराबर आसमान।

□

## पहली आवाज़

क्या तुम चिड़ियों की आवाज सुनते हो-
मेंढक की टिर्र-टिर्र
बिल्ली की म्याऊं-म्याऊं
चूहे की ची-चीं सुनकर कूदते हो।
कोयल की कुहू-कुहू
कौए की कांव-कांव
पानी के गिरने और बरसने की आवाज
देती है सुनाई क्या?
पहली आवाज सुनी जो तुमने पहली बार

झूले में एक स्प्रिंगदार तार
तना हुआ है रस्सी की तरह।
प्लास्टिक के छोटे-छोटे से खिलौने
घूमते हैं उसमें एक साथ।
तार पर हाथ फिराओ तो निकलती है आवाज
किर्र-किर्र-किर्र।
सुनाना चाहती थी तुम्हें
ढेर सारी मधुर और लुभावनी आवाजें।
ये तार और ये खिलौने
बनाने वाले ने भी नहीं सोचा होगा
तुम्हारी पहली आवाज होंगे ये।
आवाज सुनते ही जैसे चमकती है तुम्हारी आंखें
आंखें तुम्हारी बादाम के आकार सी
कैसी सुंदर और चमकीली।

□

## नया साल

इतनी थकान पहले कभी नहीं हुई
जितनी आज...
क्यों डूबा जा रहा है मन।
हैप्पी न्यू ईयर कहते हुए सुनती हूं अपनी आवाज
इतनी दुबली और कमजोर पहले कभी नहीं लगी।
अपने चेहरे को ढकना चाहती हूं
हथेलियां क्यों कांप रही हैं।
मुझे कुछ भी तो अच्छा नहीं लग रहा
न आवाज़, न रात, न कड़कती ठंड
न आसपास देखने की इच्छा।
न चांद तारों की रोशनी में खिल रहा मेरा मन।
ये क्या हो रहा है मुझे
कुछ और हो...
इससे पहले ही मुंह ढक कर सो जाना चाहिए।
केवल चुभ रही हैं मुझे।
मरियल सी आवाज में कहा खुद से
हैप्पी न्यू ईयर।

□

## कोहेनूर

एक यात्रा से निकलती हैं कई यात्राएं
एक दुख से निकलते हैं कई दुख
सुख के भीतर से कोई सुख नहीं निकलता।
कोहेनूर....
जिसकी चमक सपनों में चौंधिया देती है आंखों को।
हमने कई बरस पहले जनम लिया होता तो.....
कोहेनूर हमारी पगड़ी में होता
होता हमारे बाहु में
होता ऊंट की सवारी में
होता हमारी सुरंगों में।
हम युद्ध करके और विजयी होते।
अचानक युद्ध हम पर कहर बरपाता।
हम हारते और कोहेनूर को विदा करते।
हमारी आंखों से निकला नमक
कोहेनूर पर गिरता।
रानी। तुम क्यों नहीं लाई अपने साथ कोहेनूर।
तुम्हारी यात्रा अधूरी है
तुम छिपा आई कोहेनूर
तुम्हारे हिलते हाथ की दिशा बताती है।
हमने संधि की और खोया अपनी ही आंख का चमक।
टॉवर ऑफ लंदन में है कोहेनूर
या कोहेनूर में है टॉवर ऑफ लंदन।

□

□

पाकिस्तानी उर्दू कविता

# नसीर अहमद नासिर

## समुंदर राजदां मेरा अगर होता

समुंदर राजदां मेरा अगर होता
तो सारी सच्चाइयां अपनी
उसे मैं सौंप देता
और लिखता
साहिलों पर सीपीयां चुनती हुई
उन लड़कियों की दास्तां
जिनके सुनहरे जिस्म
ख्वाबों के द्वीप की तरह थे
पर जिनके मुकद्दर
रेत पर उभरी लकीरों की तरह थे।

समुन्दर राजदां मेरा अगर होता
तो सारी तन्हाइयां अपनी
उसे मैं सौंप देता
और चलता
थाम कर उंगली हवा की
दूर जाते हुए रास्तों पर
जिनसे कोई लौट कर आता नहीं!

समुंदर राजदां मेरा अगर होता
तो सारी गहराइयां अपनी
उसे मैं सौंप देता
और उतरता
नीले पानी के सीने को चीर कर
जमीन किश्ती बनाकर
आसमां को बादबान करता
सफर का दुख भरा लम्हा
तुम्हारे और अपने सांझा करता
समुन्दर अगर राजंदा मेरा होता।

## मेहमान परिन्दों को अलविदा

विदा, ऐ मेहमान परिन्दों
अलविदा!
अगले वर्ष तक के लिए
अगले वर्ष जब तुम लौटोगे
तो झीलों के किनारे
तुम तुम्हारी मुंतजिर होंगे
तुन्हारे खूबसूरत नर्म मुलायम
परों का स्पर्श पाते ही
धरती पर पुनः प्रेम लौट आयेगा
मगर
अगले वर्ष तक
पानियों में
काई की मोटी तहें जम चुकी होंगी
हवाएं, मटमैली, काली
धुओं में धुल चुकी होंगी
खेत, घास के मैदान, घने जंगल
नई सड़कों की आरी से
कई-कई टुकड़ों में
विभक्त हो चुके होंगे
शिकारी मौसमों की साजिशें भी
तेज होंगी
विदा, ए मेहमानों!
अगले वर्ष तक के लिए
अलविदा!
अगले वर्ष
हम तुम्हारे लौट आने की
खुशी का गम मनायेंगे...

**अनुवादक: आशा प्रभात**

□

# यश मालवीय

## एक चिड़िया अलगनी पर

धूप गर्वीली
सुबह की खिड़कियों से आ रही है
एक चिड़िया
अलगनी पर बैठ कर कुछ गा रही है

पेड़ के पीछे खड़ा सा
पहर आंखें मल रहा है
किरन की उंगली पकड़कर
फिर उजाला चल रहा है

हवा, छत पर बाल खोले,
ज्यों ध्वजा लहरा रही है

खुशी के पल-छिन पछोरे
सूप-सा सूरज दिखा है
नव वधू के भाल पर ज्यों
दृष्टि का उत्सव लिखा है

देहरी से देहरी
रस की नदी बल खा रही है

□

# कैलाश नीहारिका

## खास पल

वो कोई खास पल रहा होगा
आपसे हाले-दिल कहा होगा

देखके रंगतो-खुशबू गुल की
गुफ्तगू में शहद घुला होगा
थाम के वायदा निगाहों से
कहीं चुपचाप रख लिया होगा।

ख्वाब की परवरिश करते-करते
जाने किस तरह सब सहा होगा

एक शोला है न समझो जुगनू
किसी दामन में कब रहा होगा

□

## इंतजार बाकी है

महकता हरसिंगार बाक़ी है
जमीं से इसका प्यार बाक़ी है

देख शामें तेरी तन्हा-तन्हा
क्या कोई इंतज़ार बाक़ी है

आसमानों से दोस्ती तेरी
पर जमीं का दुलार बाक़ी है

मयस्सर है खुशनसीबी, तू है
किसका फिर इंतज़ार बाक़ी है

फिर वही नग़म-ए-परवाज़ सुना
मौसमों मैं बाहर बाकी है

□

# डॉ. शशि गोयल

## वर्षा का गीत

वर्षा, तू आती
मैं तेरा ही गीत गाती
अंतर से निकल गीत, अधरों पर आ गया
पछुआ के साथ-साथ संदेशा आ गया
भेड़ों के झुंडों सी पर्वत पर छितराई
हिम के शिखरों पर केश राशि लहराई
गेहूं के बालों के कानों में गुनगुनाती
चुपके से नीचे छिप पैरों की गुद्‌गुदाती
वर्षा तू आती मैं तेरा ही गीत गाती
शांत सागर को छेड़ती तू वह कुलबुला उठता है
नन्हीं मां बनकर बालू को थमथपाती तू
धूल भरे वृक्षों को पालिश से चमकाती तू
सतरंगी रिबिन लहरा कर खिलखिल इठलाती तू
वर्षा तू आती मैं तेरा ही गीत गाती।
भीड़ में खोई बालिका सी इधर उधर दौड़ती है
घर की तलाश में गली गली घूमती है
खिड़की दरवाजों को दस्तक तू देती है
घर का रस्ता बतादो मैं भूल गई पूछती है
चंदा की अठखेलियां तारों की मुस्कान है
बादल के गद्दे पर जाकर मुझे सोना है
रस्ता तू पूछती है तुझको घर जाना है
वर्षा तू आती मैं तेरा ही गीत गाती।

□

## तेलुगु कविता

# पापिनेनि शिवशंकर

## टूटेगी नहीं महाबोधि

निर्माण एक संकेत है
मनुज स्वयं एक निर्माण है।
हरे सागर के कानन में उठती तरंग में,
जुती माटी में पसीने के बीज से झंकृत जीवन-राग में,
यंत्र-घर्षण में चमकते लौह स्वप्न में,
वक्र विश्व-रेखा को नापते अन्वेषण में,
क्लोनिंग और जीनोम के कला-विन्यास में
प्रकट हुआ मानव का महादृश्य!
सृजनशील होकर कण-कण अपने आपका कर निर्माण
दैव को निर्लिप्त प्रेक्षक-सा
खड़ा किया हुआ एक स्वेच्छा संकेत।

विगत युद्ध, विगत सभ्यताएं,
निश्शब्द पैगम्बरों के संदेश,
द्वेष-द्वीप में उलझी हुई विश्व-यात्राएं,
घेरे में बंदी धर्म और देश
अस्तित्व में भय, दल-दल में धंसे चरण
कण-कण अपने आप को तोड़ता अ मानव का विषाद
साइबर सभ्यता में आदिम युगों की प्रस्तर-गदाओं का घर्षण
जीवन जैसा गहन कहां का है यह शोक?

विध्वंस का यह संदर्भ—
करता है अपमानित पीढ़ियों की संस्कृति को।
हे विध्वंसक!
अब तुम करते हो परकाय-प्रवेश
आत्मा से हथियार में
तुम देख नहीं पाते सुगत के धर्मचक्र का प्रवर्तन,

तुम पहचान नहीं सकते
दुख-निवारण के उन चार आर्य सत्यों को
जिन्हें दिखाया उन्होंने अपना कर जग के सारे दुख को

उन अमलिन चरणों का करो ध्वंस
विकसाया है जिन्होंने शांति-पद्मों को कदम-कदम पर।
करो ध्वंश अहिंसावाद का,
करो ध्वंस उन अर्धनिमीलित दयाद्र नेत्रों का
हरा जिन्होंने विश्वांधकार को,
हे पाषाणीकृत प्रतिमा-भंजक!
ध्वस्त करो शाश्वत ध्यानलीन विभूति को
भयंकर विस्फोटन से।
प्रतिमा होगी नहीं कृद्ध,
डरो मत, सब कुछ ध्वस्त होने पर
एक निष्फल धूल के पहाड़ पर टिककर
वह प्रतिमा तुझ पर
होगी नहीं कृद्ध।

हे शस्त्रधारी! हे अविश्वासी! हो जाओ दुखी
क्योंकि अब ध्वस्त करने के लिए बचा कुछ भी नहीं
अपने आपको छोड़ कर!
दुख-निवारण-वाक्य को ध्वस्त करने के कारण
तुम बनो दुखी और बताओ मुझे कि इस धरा पर
किस विद्रोही ने किया है आविष्कार
पहली बार विध्वंसक हथियार!

करुणा एक संदेश है,
वह मनुज से चखा हुआ अमृत फल है।
मनुज आज
महोन्नत पर्वत श्रृंग का कर आरोहण
फिसल कर गिरा हुआ दुर्बल है
वह ऐसी व्याकुल तृष्णा से पीड़ित है
जिसमें है यह विश्वास

कि अपार भौतिक संपदा के मेघ बरसेंगे
आनन्द की धाराओं को।
मानव हिंसा वादी हैं,
वह ऐसा शोक तप्त है
जो कभी भी ला नहीं सकता
मुट्ठी भर सरसों को शोकहीन आवास से।
मनुज है आज कीचड़-सा, लसलसाहट-सा
समस्त नदियों के जल से भी न धुलते पाप-लेपन-सा।

हे अंगुलीमाल! हे अंगुलीमाल!
किस अष्टांग मार्ग ने
तुम्हारी विलासिता के घूंघट को हटाकर
तुम्हें बनाया है निर्मल व निराडम्बर!
हे घायल हंस!
किस अमृत स्पर्श से तुम हो गये निरापद!
वह करुणा, जिसने बदल दिया है
द्वेषांधकार को ज्योत्स्ना-सागर में।
वह करुणा जिसने दिखा दिया है
टूटी नौका के जीवन-यात्री को
निर्वाण का तीर!
टूटेंगी प्रतिमाएं,
मिट जायेंगे प्रतिमा-भंजक,
रूप सभी होते अरुप,
आखिर हो जाते सभी हथियार शिथिल!
कभी भी शिथिल न होते
साक्ष्यीभूत एक मात्र सम्यक संकल्प मूर्ति
जिसके समक्ष कभी न कभी
करेगी मानव आत्मा
सुंदर वाक्य का निर्माण
शांति, शांति, शांति
(बमियान् की बुद्ध-प्रतिमा के विध्वंसजन्य विषाद में)

**अनुवाद: प्रो. पी. आदेश्वर राव**

□

# सिद्धेश्वर

## खुलती जाती हैं खिड़कियां

सादे पन्ने पर
उतर रही हैं कविताएं
जैसे उतर आती हैं
घर के आंगन में लड़कियां!

जैसे हवा का झोंका लगते ही
खुलती जाती हैं खिड़कियां!!
पन्ने पर उतरकर
कविता होने लगती हैं जवान
बिखेरने लगती है अपनी खुश्बू...

कविता
जिन्हें सिखलाया नहीं जाता
शब्दों के माध्यम से
किसी के दिल को छूना
किसी की भावनाओं से खेलना
किसी के विचारों से ताल-मेल करना
किसी सोये हुए को जगाना
आस-पास की गंदगी को भगाना...।

कहां बतलाया जाता है लड़की को
किसी लड़के से प्रेम करना
कहां सिखलाया जाता है
औरत को मां बनना...?
नहीं सिखलाया जाता हवा को
फूलों की खुश्बू लेकर
खिड़की के रास्ते
कमरे तक पहुंचना...

खुद ब खुद
सीख लेती है धूप
अंधकार भरे आंगन में
रोशनी बन कर पसर जाना...!

□

## शब्द अकेला हथियार नहीं होता

पंख कटवा लेने के बाद
उड़ने की आकांक्षा पालना
व्यर्थ है मेरे दोस्त!

धरती पर
पांव जमाने के पहले
अपने भीतर जमे हुए पानी को
गर्म खून बनाना होगा!!

शब्द
अकेला हथियार नहीं होता
मेरे दोस्त!
इस जंग के मैदान में
कमर कस कर उतरना है
हमें भी तुम्हें भी...

क्योंकि
पाने के लिए खुला आकाश
पागल हवाओं को
कैद करना होगा
अपनी मुट्ठी में
हमें भी
तुम्हें भी!!!

□

# नीलिमा श्रीवास्तव

## अगर ऐसा होता

पवन पे सवार हम
गगन को चीरते,
सरहदों के परे हम
उस मिट्टी पे उतरते।

झिलमिल सितारों तले
प्यार सा आंगन होता,
इंद्रधनुष के रंगों में पले
प्यार ही प्यार होता।

सूर्य की किरणें जहां
छूकर हमें जगातीं,
रेत की गर्मी हमें
ठंडक पहुंचाती।

पर्वतों के शिखर पे
नीलिमा का बसेरा होता,
घनेरे बादलों का जहां
नामों निशां न होता।

तराई की आगोश में
ये चांदनी यों छिटकती,
प्रीतम की बाहों में
वो दुल्हन यों सिमटती।

सूर्य ढल जाता मगर
सांझ से ये कहके,
उजाला करूंगा सदा
राह ये जीवन के।
आशा की किरणें जहां
सदा मुस्कुरातीं,
आत्मा की ज्योति
जीवन को जगमगाती।

□

# राजकुमार कुंभज

## निश्चित-निश्चय

मैं चलूंगा, निश्चित है
चलूंगा तो गिरूंगा वाकई गिरूंगा निश्चित है
गिरूंगा तो उठूंगा यानि कि उठूंगा निश्चित है
उठूंगा तो उड़ना भी सीखूंगा निश्चित है जनाब
और अगर उड़ना सीख गया
एक दिन सचमुच
तो याद रखना कि एक दिन
पिंजरे सहित उड़ जाऊंगा
और तुम गिनते रहना, गिनते रहना
पिंजरे की सलाखें।

## मैं एक ढील हूं

मैं एक ढील हूं
जो कहती है बार-बार कि सोचो
कुछ भी बोलने, कुछ भी करने
और कुछ भी स्वीकार करने से बहुत पहले
बहुत-बहुत सोचो।

## सीख कविता की

जितना लिखो उससे ज्यादा पढ़ो तो बेहतर
जितना पढ़ो
उससे ज्यादा सोचो तो बेहतर
जितना सोचो
उससे कम लिखो तो बेहतर
यही सीख कविता की।

□

## खिड़की में रहता है कौन?

इस पार की खिड़की में खड़ा हूं मैं
और उस पार की खिड़की में खड़ी है एक लड़की
अपनी खिड़की में खड़ी लड़की
मुझे देखती है तो देखती है अपनी खिड़की बराबर
और मैं भी देखता हूं तो देखता हूं कहां
उस एक लड़की को
अपनी खिड़की के बराबर से कुछ ज्यादा
या कुछ कम?
अपनी खिड़की में दिखाई देने वाली लड़की
सिर्फ़ अपनी खिड़की के बराबर है
और जो मैं अपनी खिड़की में बैठे-बैठे
उस पार की खिड़की में खड़ी लड़की देखता हूं
देखता हूं सिर्फ़ अपनी खिड़की के बराबर
मैं, खिड़की में खड़ी लड़की को
खिड़की बराबर ही देख पाता हूं
पता नहीं मैं खिड़की देखता हूं
या देखता हूं लड़की?
खिड़की में खड़ी लड़की भी
खिड़की बराबर ही देख पाती है मुझे
पता नहीं वह खिड़की देखती है
या देखती है मुझे?
सवाल इस पार और उस पार का नहीं
सवाल इस खिड़की और उस खिड़की का नहीं
सवाल सिर्फ़ उस खिड़की
और इस खिड़की से देखने का है
उस खिड़की से उसने मुझे कितना
और क्या-क्या देखा?
इस खिड़की से मैंने उसे कितना
और क्या-क्या देखा?
जबकि सच यही है कि सचमुच
मैं जानता ही नहीं हूं और जान ही नहीं पाया हूं
कि इस पार की खिड़की में खड़ा हूं मैं
याकि उस पार की खिड़की में?
खिड़की में रहता है कौन?

□

# डॉ. अल्पना मिश्र

## एक दिन

एक दिन ऐसे ही निकल पड़ूगीं
ऊब कर
घबड़ा कर या
किसी से मिलने को विकल

मेरी हड्डियों में मज्जा की तरह
साथ हो लेगें
कुछ विष बुझे प्रश्न
जरा सी झिजक में
न पूछे गये पते
घटाटोप अंधेरे में
आंख भर उजास
अनचाहे मिले स्वप्न
हल्की सी खीझ
और भूली बिसरी नोंक भर संतुष्टि

किसी का हाल पूछने को रुकेंगे
कि मारे संकोच के
कण्ठ से आवाज़ नहीं निकलेगी
यही होना था अपना हाल
सोचकर कोफ्त होगी

मिलने की विकलता में
समय का अनचीन्हापन व्यापेगा
उसकी याद से बह गये हैं
गुब्बारे, जंगल-जलेबियां और ट्यूबेल का जल
चांदी की डिबिया में सिंदूर लिए
दौड़ता एक नन्हा हाथ
बहुत पीछे रह गया है
समय की पकड़ के बाहर

तो नाप कर पृथ्वी
यही मिलना था—
चुम्बकीय विकर्षण की रिक्ति?
चिड़ियों के घोंसले से झांकेगीं उदास आंखें
बालों से निकलकर धूल के कण
हवा से बतियायेंगे
बस एक नीमकौड़ी टपकेगी कहीं
हम जैसे नींद से चौंकेगें
पीठ टिका लेंगे इसी दरवाजे से

## लड़की के सपने

अगर पता होता
अब तक नहीं होगी शादी
तो खड़ी हो जाती छात्र संघ के चुनाव में
कुछ करती तो सही
लड़ती तो सही
चूल्हे से निकाल कर थोड़ी सी राख

लड़की फिट नहीं कर पाती है अपने को
थमाये गये सपनों के साथ
जिसमें खड़ी होती है लाल जोड़े में
आंखें बंद, डर, घबराहट,
इन्तजार और पसीने से चिप चिप
उनमें से भी निकल जाती है लड़की
जिसमें कफ़न पहने
घर-गृहस्थी में डूबती
हाथ मारती, पांव चलाती
निढाल हो जाती
दया में आंसू
करूणा में कीचड़सने
पैरों का बनता है चित्र

लड़की के सपनों में हैं

खूबसूरत गोलू बच्चे
कुपोषित बच्चे बिगाड़ देते हैं
गोलू की तस्वीर
न जाने कहां से नंगे-धड़ंग बच्चा उठाये
घुस आती हैं ऐसी औरतें बेहाल
जिन्हें पहचानती तक नहीं लड़की
कभी-कभी कराहने लगती हैं ये औरतें
अपने कपड़े बटोरती
लड़की सीने लगती हैं उम्र की कतरन
एक भी चित्र नहीं बना पाती
रानी लक्ष्मी बाई से लेकर
किसी नये नकोर का
उसकी खुद की ही तस्वीर बनती है
बस लेबल बदल जाते हैं हर बार

चैन नहीं लेने देते ये सपनें भी
लड़की झिटकती है सिर
और धोने लगती है कीचड़सने पैर

□

# राधा शाक्य

## अस्वीकृत कविता

आज डाक से मिली है मुझे
मेरी अस्वीकृत कविता
सम्पादक महोदय, आपने लिखा है-
हम कविता प्रकाशित करने में विवश हैं
इसको अन्यथा न लें।
नहीं मेरे भाई हम जानते हैं।
आपकी विवशतायें।
अपने जानने वालों की रचनाओं के बीच
एक अजनबी की कविता विवशता ही तो है

चटपटी और सनसनीखेज खबरों के आगे
एक मासूम कविता
विवशता ही तो है
बड़े-बड़े पन्नों पर अभिनेत्रियों के
अर्धनग्न चित्रों के आगे
एक मर्यादित कविता
विवशता ही तो है
बड़े-बड़े पन्नों पर लाखों के
विज्ञापनों के आगे
एक बेमोल कविता विवशता ही तो है

और फिर मेरे भाई
मेरी कविता में था भी क्या?
हिंसा की शिकार नारियों की वेदनायें
बलात्कार की शिकार
मासूम बेटियों की मौन सिसकियां
दहेज की चिता में जीवित जलती
बहुओं की चीखें
इनमें नया भी क्या है।

इन वेदनाओं, सिसकियों और चीखों का
आप, और आपके ये अखबार
और आपका यह समाज
अब अभ्यस्त हो गया है
लेकिन मेरे भाई
जितने प्यारे लगते हैं
आपको ये अभिनेत्रियों के
अर्धनग्न चित्र
जितनी प्यारी लगती हैं आपको
ये चटपटी और सनसनीखेज खबरें
और जितने प्यारे हैं।
ये लाखों के विज्ञापन
उससे कई गुना प्यारी है
मुझे मेरी ये
अप्रकाशित कविता।

□

# मीरा हिंगोरानी

## अब तक

अवहेलित सब कुछ झेलती,
फिर भी सदा अखंडित,
अपने अरमानों को सहलाती,
कंटीले पथ पर चलती,
अभावों की कारा में कैद,
भर-भर आशीशों के कलश,
अपने जायों पर उडेलती,
अनजान डगर पर,
चलने को विवश।

कोमलांग कुस्मांग नारी,
चहूं और उगी, दुत्कारों की,
कंटीली झाड़ियों से,
अपना आंचल सम्भालती।
सन्देह की सिलाखों पर,
तड़पती कलपती, बिलखती,
भ्रांत, कलांत, अशांत सी।

कब तक!
बांधे चुप्पी की सिल्ली,
कमर से चलती रहेगी।
पग पग पर वेदनाओं का,
भुगतावन करती रहेगी।

कब तक!
छलनी करती,
उलाहनों की नन्ही नन्ही,
किरचों से, बचती रहेगी।

□

## नदी एक दोस्त

नदी! कभी तो बन कर महबूबा,
बहलाती, सहलाती,
मेरे गाल!
बढ़ाकर दोस्ती का हाथ,
बांटती मेरे दर्द!

नदी!
कभी तो सींचती संवारती,
उगाती मेरे बंजर मन में,
आत्मविश्वास के,
अनगिन पुष्प!

नदी!
कभी तो बिठाती मुझे,
अपनी लहरों के, स्नेहिल आगोश में,
और देती मुझे,
खुने नम का एहसास!

हे महामना!
महसूसती हूं, तुम्हारा अपनापन,
तोड़ समस्त,
कूल किनारे,
पल....पल,
कल....कल, बहती हो,
मेरे अंतर्मन में।

□

# वीरेश वात्स्यायन

## मैं आभारी

पहले कंचन हुई फिर हुई गंधवती काया
मैं आभारी पारस मणि के सहज परस का हूं।

यह तन माटी, माट ने
अभिषेक किया इसका
एक दूसरे की लय में है
सम्मोहन गति का

रूप राग मय हुआ परस्पर नयनों के मिलते
मैं आभारी प्रियतम तेरे मधुर दरश का हूं।

बादल के रथ पर चढ़ आया
चांद गांव मेरे
किरन हिरनियां नाचे
बहके झुरमुट के डेरे

पहले तपन बुझायी फिर दुलरायी आशायें
मैं आभारी घटा सांवरी ऋतु पावस का हूं।

आंसू की एक बूंद में गया
डूब महासागर
रुकने को मजबूर हुआ
जनमों का यायावर
पहले भाव दिये फिर शब्द दिये फिर छंद दिये
मैं आभारी संवेदना सने मानस का हूं।

□

# सुनील वाजपेयी

## कालगति हरदम रही समान

तन बदला सीमाएं बदली
अधर-अधर संज्ञाएं बदलीं
किंतु न बदला चंचल मन की
गतियों का विज्ञान,
काल गति हरदम रही समान,
एक अजाने कोरेपन में जग से मिलन हुआ
नए नए मुखड़े पहिचाने नामाकरण हआ
छण बदला छणिकाएं बदलीं
पहर पहर उपमाएं बदली
किंतु न बदला चंचल मन की
सखियों का आह्वान...
काल गति हरदम रही समान,.
दिन दूना फिर रात चौगुना, मन का सृजन हुआ
भाषा जाति धर्म को जाना गति ने गगन छुआ
कण बदला कणिकाएं बदलीं
लहर-लहर लतिकाएं बदली
किंतु न बदला चंचल मन की
कलियों का उद्यान।
काल गति हरदम रही समान।
मधु पराग ऋतु गंध जगी फिर बेसुध भ्रमर हुआ
कुंज-कुंज ही फिर बावरा जीवन समर हुआ
घन बदला वर्षाएं बदलीं।
लहर-लहर सरिताएं बदलीं
किन्तु न बदला चंचल मन की
छवियों का मध्यान।
काल गति हरदम रही समान।
धीरे-धीरे धूप ढ़ली फिर श्यामल गगन हुआ।
सिसक सिसक कर बरसे तारे काया क्षरण हुआ।

तृण बदला लतिकाएं बदलीं
ठहर-ठहर यात्राएं बदलीं
किंतु न बदला चंचल मन की
रुचियों का अज्ञान
काल गति हरदम रही समान।

□

# जयराम सिंह गौर

## अपने बसेरे

यह बहकती शाम
अभिमंत्रित सबेरे
तू मिला जब से
हुए हैं नाम तेरे!
महकती तनहाइयां गाने लगी हैं।
कूक कोयल की समझ आने लगी है।
रात कविता हो गयी है।
दिन चितेरे!
कह न पाए थे कभी अपनी व्यथाएं
मौन हो सुनते रहे जग की कथाएं
हो गए संस्पर्श से
मुखरित अंधेरे!
तुम बहारों में जिए पतझार लेकर
दर्द हम पीते रहे मुस्कान देकर
आज सुरभित हो गए
अपने बसेरे!

□

# कमल किशोर श्रमिक

## गंगा किनारे

शाम गंगा किनारे चली नाव में
एक बिछुआ कसकता रहा पांव में

रेत के उस हरे खेत में बैठकर
दो घड़ी हाथ में हाथ ले जी लिये
प्यास खुद में समर्पित रही इस तरह
आंख से आंख के नेह को पी लिये

दो दिलों में हृदय की तरंगें उठी।
लिप्त लेटी रही कुतली छांव में।

मुक्त आकाश की बांह में श्रष्टि सी
वो छुवन उम्र को आसरा दे गई
सूर्य की लालिमा की नियति देखकर
आग सिंदूर वाली भरा ले गई।
बांह में बांह ले डगमगाते क़दम
चल दिये दूर के अजनबी गांव में।

नेह की सीढ़ियां अस्था चढ़ रही
एक ठोकर कहां का पता दे रही
कांपते हाथ वाले सहारे लिये
प्रीत खुद मौन हो अस्मिता दे रही

हार से जीत से खेल में मुक्त हो
दर्द फिर आ गया रूप के दांव में

☐

# देवी प्रसाद शुक्ल राही

## स्वर्ग मुझे चूम गया घर पर ही

तुम्हारे नयन!
झील भी नहीं
सिन्धु भी नहीं, ज्वार भी नहीं
नदी भी नहीं, नाला भी नहीं
कूल भी नहीं, धार भी नहीं
अचरज तो इस पर
ये छलके जब मुझ पर
मैं नयनों तक डूब गया तट पर ही।

तुम्हारे केश!
भ्रमर भी नहीं
धूप के धुआं मेघ भी नहीं
नहीं तलवार, नहीं शैवाल
सर्प के कुटिल श्लेष भी नहीं
अचरज तो इस पर
ये लपके जब मुझ पर
मेरा मन जूझ गया दर पर ही।

तुम्हारे अधर!
प्रवाल भी नहीं
नहीं ये बिम्बाफल भी नहीं
लगे मुझको गधुघट भी नहीं
नरम पल्लव के दल भी नहीं
अजरज तो इस पर-
ये बोले जब हंस कर
स्वर्ग मुझे चूम गया घर पर ही।

□

# अर्पण कुमार

## तीन पीढ़ियों के बीच चौथी पीढ़ी

आ गयी हूं मैं 'ऑफिस
तैयार कर तुम्हें स्कूल को।
कह रखा है तेरे पापा को
सेकेंड हाफ में
पहुंचे वे सीधा घर
आफिस से।
आफिस में बैठी
देख रही हूं एकटक
लाल धागे को
बंधा है जो
मेरी कलाई पर।
कितने लाल 'अंबुज'
खिल उठते हैं
मेरी आंखों में
आस-पास बैठे लोगों से
बेखबर
कुछ-कुछ ढीठ सा।
सामने शून्य में स्थिर आंखें
लौटती हैं छह बरस पीछे।
आज ही के दिन
मक्खन का एक बड़ा
जिंदा लोना
मेरी बांहों में आया था।
स्व-रक्त-सिंचित
रेशम के उस गुच्छे को
अपने अंक में लेना और चूमना
सुफल पाया था मेरा स्त्रीत्व
उस पावन दिन।

याद है आज भी
तेरे पापा ने
नवाजा था हम दोनों को
परम्परागत लेकिन प्रसंगानुकूल
उपमान से।
मुझे 'पूर्ण चन्द्रमा'
और तुम्हें 'नवोदित सूर्य'
कहा था उन्होंने।
बेटे!
आज तेरा जन्मदिन है
लेकिन नहीं छोड़े हमने
काम अपने-अपने।
भली लग रही है
आज के दिन
अपनी पुरानी दिनचर्या
और गतिशीलता भी।

शाम है
और एक स्त्री जो
मां है
पत्नी है
वधू है
बैठी है
अपनी सारी सम्पदाओं समेत
परिवार के बीच
अपने बेटे के जन्मदिन पर।
कितना भीना-भीना लग रहा है
सुबह ही से
बैठी थी जब
पूजा की वेदी पर
अपने लाडले ईश्वर के लिए
ईश्वर से कितना कुछ मांगने।
बेटे!
अभी जब तू

किलकारी भर रहा है
इन सब के बीच
या जब
थक कर जम्हाई लेता
मेरी गोद से
नींद की गोद में जाता है
देख लेती हूं
समस्त ब्रह्माण्ड
तेरे मुंह ही में।
जी लेती हूं तुम्हारे बहाने
पौराणिक और महाकाव्यात्मक
जातीय स्मृतियों को।
रोमांचित होता है
पूरा शरीर
यशोदा और कौशल्या की
चेतना से।
सोचती हूं
हर शिशु
कृष्ण या राम होता है
अपनी मां के लिए
अपने देश में।

धूमधाम नहीं किया विशेष।
पिछले साल इसी महीने
टूट गया था
तेरा बेशकीमती खिलौना
खेलता था जिससे तू दम भर
और जो स्वयं से
दूर नहीं करती थी तुम्हें पल भर।
तेरी 'चाई' जा चुकी थी
तुमसे दूर
हम सब को अकेला छोड़ कर।
मुरझा गये थे
तेरे पापा भी

अपनी दादी को खोकर।
नहीं रहा था कोई
एक बच्चे के बाप को
बच्चा समझने और डांटने वाला।
पांच मिनट की भी देर होती
अगर मेरे घर पहुंचने में
बरामदे में बेचैन
टहलने लगती थी वह
अपनी 'पोत-पतोहू' के लिए
रह-रह कर
बाहर झांकते हुए।
बेटा!
इस वर्ष का तुम्हारा जन्मदिन
समर्पित है
उसी बड़े गुम हो चुके खिलौने की
याद को।

बेटे!
जरा देख तो उपर
आकाश से उतरती
आह्लादित इन दो बांहों को
जो फैल रही हैं
अंक में समेटने को
तुम्हें ही शायद!

□

# डॉ. पद्‌मा सिंह

## एक और जन्मदिन

वह एक क्षण
जब बच्चा हो जाता है मन
अनायास ढकेल देता है ढलान पर
वह आता है अतिथि सा

दर्द के समुद्र से उछली सीप सा
समा जाता है तन-मन में
वह ढेर सा सुख
छोटी छोटी हथेलियों का
छूट गया जो बहुत पीछे

कुलांचें भरते हिरण की छलछलाती आंखें
उतर आती हैं
छाती में
बचपन की गलियों में
भटकता है मन
हताशा होती है अब
उम्र के बढ़ने पर
और सुबह
वैसी ताजी नहीं लगती
जैसी कि सचमुच होती है

□

## अनछुए मुहावरे

तुमने समझ लिया जैसा चाहा
बना लीं मनचाही आकृतियां
बिना यह सोचे कि औरों को भी हक है
मनचाही मूर्तियां गढ़ने का
सबके पास होता है अलग ढांचा
अपनी परछाइयों का

खुद को खुद से अलग कर देखने की
संजीदा कोशिश करते तुम
काश कि रेशा-रेशा बिखरने से बचा लेते

पता ही नहीं चला कब से इकट्ठा होते रहे बेतरतीब
जरूरी और गैर जरूरी छपे हुए लिखे हुए
कुछ कोरे छोटे बड़े-पन्ने
जिन्हे सहेज नहीं पाये तुम
रोज की भागम भाग में
उलट कर ढूंढना दबे हैं इन्हीं में
रेशमी अहसासों के बिखरे खुले पन्ने

करीने से लगाना
जब कभी वक्त मिले
फिर गढ़ना अनछुए मुहावरे
फूलों के ओस के और धरती की छुअन के
जिनमें झरेंगे खुदबखुद
मेरे
तुम्हारे
सबके
सपनों के अर्थ

□

## पत्थर के बीज

जिंदा नहीं मरे हुए हैं हम
फिर भी कहते हैं
सांस लेते हैं

हमारी आंखों में झिलमिलाते नहीं वे स्वप्न
कोई अंकुर किसी दिशा में फूटता ही नहीं
हम बो रहे हैं पत्थर के बीज
कहते हैं फिर भी
बंजर है धरती की कोख़

और शान से सर उठाये
जुटे हैं खुद को नाकारा सिद्ध करने में

जब रोशनी की सीढ़ी से
बुलाता है सूरज
हम ओढ़ लेते हैं कम्बल
बहानों का

थक कर लौट जाती है रोशनी
हम अंधेरे को कोसते
धमकाते जमाने को
आसमान छूने की आजमाइश करते हैं

□

# स्वाति सूद

## कमजोर परों की आशा

जाने दो छूने दो मुझको अंबर,
छोड़ दो छूने दो मुझको अंबर,
दूर है, विशाल है, विशाल है ये दूर है
छोड़ दो बाजू ये मेरी, तोड़ दो जंजीर बैरी,

कुछ तो सीमित कर दिया,
कुदरत ने मेरे जीवन को,
जो कुछ बाकी बचा
तुम तो छीनो नहीं
प्रोत्साहित नहीं कर सकते तो
मुझे यूं हताश ना करो
जाने दो छूने दो....
छोड़ दो छूने दो....

तन को बांध सकते हो लेकिन

मन तो बांध सकते नहीं,
तुमसे कुछ मांगा नहीं,
मांगा है कुछ तकदीर से
जीतूं या हारूं परवाह नहीं
युद्ध भूमि में जाने तो दो
जाने दो छूने दो....
छोड़ दो छूने दो....

माना ये पर कमजोर हैं,
पर उड़ने को मगरूर हैं
मेरी मंजिल बड़ी दूर है
जाना मुझे जरूर है
जाने दो छूने दो.....
छोड़ दो छूने दो....

□

# सचिन भारद्वाज 'क्षितिज'

## अस्तित्व

लहरों के उत्थान पतन पर आश्रित,
शैनै-शैने पिघलते
निज रक्षा को
संघर्षरत
मध्यसागर में हिमखण्ड,
रवि की रक्त तप्त किरणें
उसके अस्तित्व विखण्डन
को तत्पर,
तभी तो हर कहीं
देखता हूं,
स्व को विस्मृत कर
निम्न से निम्नतर होता
मानव

पर पिघलना तो नियति है,
हिमखण्ड कभी उत्तुंग शिखर पर
छोटे-छोटे अनगिनत शिखरों का
उपहास करता था,
आज
क्षितिज तक विस्तृत समुद्र
के अंक में,
निःसहाय, निःस्तब्ध,
विलीन होने को अग्रसर......

□

# देवव्रत जोशी

## हंसा मैं/किस पर?

एक टांग पर खड़े पेड़ के सिवा
हंसे सब: जब मैं गिरा।
टूटे पांव को लेकर
बैठा मैं/वृक्ष के नीचे
उसने कुछ फूल-पत्तियां गिराकर
संवेदना जताई
(लापरवाही से देखती रही आदमजात
गाड़ियों पर सवार:
धूल उड़ाती निकल गई
देखके नहीं चलते!")
देखके वे नहीं चल रहे या मैं
सवाल मेरा नहीं, पूरे मुल्क का
वैसे खतरा पैदल चलने वालों पर ही आता है
फिलहाल मैं अपनी टांग सहलाता
सांत्वना पाता हवा के झोंकों से
सर्द बादल की टुकड़ियों देखता ऊपर
सिर्फ पशुओं की दयादृष्टि का पात्र बना
सुन रहा था। दक्षिण से आती

घंटाध्वनियों और प्रार्थनाओं के मंत्र
वाम मार्ग से गुर्राती
बुद्धिजीवियों की बहसें। बेवजह ठहाके
लगा कि समूचा भूमंडल मुझ जैसे
लंगड़ों/अपाहिजों की चिंता से बेखबर
दौड़ रहा था जिस गति से
मशगूल थे सब अपने क्रिया कलाप में
मसलन विश्व सुन्दरियां पसीना सुखा रही थीं....
कि मेरे गांव की 'गंगूड़ी'
अचानक गुजरी उधर से ही
उसने पहचाना मुझे। उठाया सहारा देकर
पहुंचाया घर तक।...बैठी रही पास
जब तक पत्नी मरहम लगाती रही,
मेरे चोटखाए पैर पर।
एक टांग पर खड़ा पेड़ पितृवत्सल दृष्टि से
अब भी देख रहा था मुझे।
ठीक सिर पर बादल था
हवा पंख झल रही थी
आसपास बैठे बेजुबान जानवर
जैसे दर्द बांट रहे थे।/बिना बोले
मुसीबत में सही पहचान
अपने परायों से लेकर
पेड़, बादल, हवा और मूक प्राणियों से होती है
ऐसे क्षण/अचानक में
कराहते हुए हंसा:
किस पर/नहीं जानता।

□

### आज फिर कुछ नया हुआ होगा

आज फिर कुछ नया हुआ होगा।
गंध ने आसमां छुआ होगा।

आज फिर दी शिकस्त सूरज ने
कैदखानों में तम छुपा होगा।

घंटियां खुद-ब-खुद क्यों बज उठीं
मूर्ति का मन बदल रहा होगा

सीकरी ठोकरों में उड़ती है
संत का पांव पड़ गया होगा।

हदों पै फूल क्यों, कबूतर क्यों?
...कोई मंटो गुज़र रहा होगा।

□

## अशोक आलोक

### एक

लबों पर जाम रखकर तिश्नगी की बात करते हैं
समन्दर में किसी सूखी नदी की बात करते हैं

बहस के वास्ते जब जब हमें मुद्दे नहीं मिलते
तभी हम आइने में बेवसी की बात करते हैं

उजाला छीनकर सौगात में देते अंधेरा जो
वही हर सिम्त हम से रोशनी की बात करते हैं

समय की कोख में जो रख दिए अन्याय के जंगल
वो अपने आप से अब बेहतरी की बात करते हैं

उन्हें खुद आइने को तोड़ देने का भरम होगा
अभी जो आइने में चेहरगी की बात करते हैं।

□

## दो

पीठ अपनी दे हवा को साथ में बहने लगा
खुद से ही संदिग्ध होकर कुछ से कुछ कहने लगा

तर्क की बैसाखियों पर ढूंढते हालात को
दो कदम भी चल न पाया और वो गिरने लगा

खुद को भी समझा कहां था बाद इसके आदमी
नासमझ यूं वक्त को क्या क्या नहीं कहने लगा

एक बेबस आदमी लड़ कर मरा था भूख से
उसके मरने की खबर से क्यूं कोई डरने लगा

कल हमारे कत्ल पर जी भर हंसा जो आदमी
आज जाने क्या हुआ वो सिसकियां भरने लगा।

□

# अनिरुद्ध सिन्हा

## लोग

ज़िस्म के अन्दर छुपा चेहरा दिखा देते हैं लोग
लॅफ़्ज मुझसे छीन मुझको ही दुआ देते हैं लोग

पीठ पर हंसते हुए खंज़र चुभा देते हैं लोग
रिश्तगी के नाम पर क्या-क्या सज़ा देते हैं लोग

औपचारिकता का ये कितना बड़ा गंदा मजाक
ग़म किसी का देखकर जब मुस्कुरा देते हैं लोग

नेकियां हालात का दामन पकड़ती हैं जहां
व्यर्थ की कुछ-कुछ नयी बातें बना देते हैं लोग

मेरे आंगन में खड़ी कच्ची दीवारों के खिलाफ
हर दफ़ा बरसात को रस्ता दिखा देते हैं लोग

□

## सौग़ात के लिए

टपके न आंख से कभी इस बात के लिए
मैं खुशनसीब शाम हूं बरसात के लिए

तुम लफ्ज से ज़मीन को छूकर गुज़र गए
यह कौन सा सुलूक था हालात के लिए

सूरज के साथ डूबना अच्छा नहीं सनम
आओ चिराग़ सा जलें इस रात के लिए

पलकों से टूटकर गिरी ये होंठ की शिकन
हल्की सी आंच है मेरे जज्बात के लिए

था इक जमीर उसको भी नीलाम कर दिया
क्या चाहिए हुजूर को सौगात के लिए

□

# डॉ. सुरेशचन्द्र शुक्ल

## सागर से

हे सागर!
तुम्हारी चंचल लहरें
क्यों बहा ले जाती है
मेरे बनाये
रेत के छोटे-छोटे
ये स्वप्न महल?

हे कलाकार!
तुम रेत के छोटे-छोटे घर
क्यों बनाते हो?
जो मेरी लहरों के सामने टिक नहीं पाते।

जब हमारी लहरों ने
तुम्हारा पहला घरौंदा गिराया
तब तुमने दूसरा क्यों बनाया?

मैंने रेत के अनेक
भिन्न-भिन्न फूलों के
गुलदस्तों से
अनेक प्यारे-प्यारे घर बनाये।
हर घर में भरा एक रंग
और दिया एक नाम।

हे सागर!
तुम्हें न दिखे
मेरे इन्द्रधनुषी घर
तुम स्याह सा हर रंग पचा गये।
तुम टूट-फूट की राजनीति से
हमारे घर तोड़ते (गिराते) हो
पर मैंने तुमसे जोड़ना सीखा
रेत के महल बनाना नहीं छोड़ा

□

## कवि-कविता

कवि वही जो समय का सच कहे।
व्यर्थ की बातों में कभी न बहे।।

जिसे पढ़कर उठा लें हम फावड़े,
न्याय के कर दे बराबर पालड़े
दूसरों की भूख को अपना समझ
रोजी रोटी की समस्या को लिखे।

भ्रष्टाचार के दलदल से बच रहे।
कवि वही जो समय का सच कहे।।

स्वर बने असहाय, निर्बल का
पिघल जाये हृदय की कटुता,
अंधियार में जले दीपक बन
आदमी की मिटा दे लघुता।

कोटि-कोटि दीनों का संबल रहे
कवि वही जो समय का सच कहे।

जो अर्थ दे, संगीत दे, लय तान दे
अकाल में हरा भरा संसार दे,

दुनिया की जेलों में लाखों सुकारात कैद हैं
उनकी मुक्ति के लिए आवाज दे।

अब किसी निरीह का लहू न बहे।
कवि वही जो समय का सच कहे।।

बंधुआ, निरक्षर, निरीह बोझ ढोता हुआ
कोई देह का व्यापार करता न फिरे
उस शान्ति की हम कामना कैसे करें?
जब तक अन्याय और गरीबी की बेड़ी रहे।

भय रहते स्वतन्त्रता कैसे रहे?
कवि वही जो समय का सच कहे।।

स्वतन्त्रता के बिना लोकतन्त्र कैसा?
जहां आदमी को न मिले समान शिक्षा?
संस्कार देती निरक्षर मां सन्तान को
जहां स्नातक को न मिलती आज भिक्षा?

जो तनों में श्रमसीकरों सा बहे।
कवि वही जो समय का सच कहे।।

मुक्ति दे, वह शक्ति दे, अभिव्यक्ति दे
नारियों को मिले समान आदर और शिक्षा
चिनगारियां ऐसी लगें, फिर बुझ न पायें
अन्याय के विरुद्ध कदम रुकने न पायें।

अलंकृत संघर्ष-मेंहदी से मन रच रहे।
कवि वही जो समय का सच कहे।

नींद खुल जाये ठिठुरती सर्द सुबह
जून की लू से कदम रुकने न पाये
हाथ पर हाथ रख न बैठे रहें हम,
श्रम का दीपक कभी बुझने न पाये।

जीवन को श्रम से सबल बहुरंगी करे
कवि वही जो समय का सच कहे।।

बदल दे जो नदियों की प्रबल धारा
करीब जीवन की निराशा हार को,
ऐसी कविता जो मन को झकझोर दे
जीवन के स्वच्छन्द यथार्थ को कहे।

हमारी धमनियों में रक्त सा बहती रहे।
कवि वही जो समय का सच कहे।।

उत्सवों में गीत, आन्दोलनों में नारे
मृत्यु में मर्सिया, बचपन में लोरियां।
बदलते सन्दर्भों की चिनगारियां
शादी ब्याह में गारियां।

जन्म से मृत्यु तक जो संग रहे,
कवि वही जो समय का सच कहे।

जो रोक दे इनसान की बिक्री
सांस बन जाये सिसकते प्राण के
तूफान-झंझावात में जलता दिया
जलधार बन जाये जले अंगार के।

कवि वही जो समय का सच कहे,
किन्तु दोषी भावना से बच रहे।

□

# रामबहादुर चौधरी

## सुन लो ये आंधियां

हाथों में लेके लोग अब चलते हैं आरियां,
सहमी हुई सी देखकर लगती हैं वादियां

चलते हैं मुंह में दिल लिए यूं आज आदमी,
रहतीं मगर खुशी में भी लिपटी उदासियां।

मरहम भले ही वक्त के जख्मों को भर गए,
गहरे थे कितने जख्म ये कहती निशानियां

खोया है कुछ कहीं मिटा पाने की फिक्र में,
अपना जमीर ही कहे अपनी कहानियां।

लेकर चिराग आई जो इक्कीसवीं सदी
ये बुझ न पायेगा कभी सुन लो ये आंधियां।

□

## रह गई जो जिन्दगानी

इस तरह अक्सर हमें काटा गया है
टुकड़े करके फ़िर उसे साटा गया है।
लाश बनकर रह गई जो जिंदगानी,
चील कौओं में उसे बांटा गया है।
जानते हैं आप कि कुत्तों के द्वारा,
बेकसों का मुह यहां चाटा गया है।
भूख की भाषा को अक्सर व्याकरण से,
पंडितों द्वारा सदा छांटा गया है।
आदमी गूंगा हुआ है वक्त बहरा,
शोर को लांघ सन्नाटा गया है।

□

# उदय प्रताप

## ग़ज़ल

चांद के चेहरे से झांकता कौन है
हमको अब तक नहीं है पता, कौन?

मां के इस प्रश्न से हम निरुत्तर हुए
''सबसे ज्यादा तुम्हें चाहता कौन है
उसकी रंगीनियां उसकी दुश्मन हुईं
वनी तितली के पर नौंचता कौन है
खुल के जीने की आदत से बदनाम हम
कुछ पता तो चले देवता कौन है
कठ-पुतलियों का क्या हारना-जीतना
प्रश्न है डोरियां खींचता कौन है
नाव डूबी तो नाविक कहां जायेंगे
इतनी गहराई से सोचता कौन है
सूर्योदय की खुशियों में पूछो 'उदय'
बुझ के हर शाम को डूबता कौन है।

□

# अतुल कुमार मिश्र 'अतुल'

## खंडित होता सत्य प्रेम

अनाम/तमाम शिल्पियों ने—
मिल गढ़ी होंगी/
ये
सत्य, शांति औ प्रेम की प्रतिमाएं
उसकी
कि जिसने,
मानवता औ भाईचारा
सत्य औ अहिंसा
जीव मात्र ही नहीं
निर्जीव प्रकृति मात्र से
प्रेम करो, का—
सन्देश फैला कर
जागरण के लिए
लगा दिया-सम्पूर्ण जीवन।
कि
स्वयं ही सहे
वर्षा, आतप, वात-झंझा/
और गहरे षड़यन्त्र/
किंतु दया ओ प्रेम के सहारे
युद्ध में लिप्त—
अजातशत्रु औ क्रूर कर्मा—
अंगुलिमाल को
सतजन बनाया
मानवता सिखाया।
उसी की प्रतिमायें गढ़ने में
लगा दिया/सम्पूर्ण जीवन
उन अनाम शिल्पियों ने
जिन्हें न थी—
यश की कामना
न अर्थ का स्वार्थ/
बस!

अक्षुण्ण रखने मानवता
दया, अहिंसा, समता औ प्रेम को/
होम कर दिया
स्वयं को।
प्रकृति की मार झेलते
सहते कठिन शीत ओ झंझा।
सतत्
लगन परिश्रम औ कल्पना से
मानव की रचनात्मक ऊर्जा ने
रचा था/अनगढ़ कठोर पाषाणों में—
दया की, प्रेम की
अविरल, अविचल धारा को।
इन विशाल प्रतिमाओं में
जो दया, प्रेम, सत्य के विशालता-
की प्रतीक थीं,
और थीं थाती समस्त विश्व की/
साक्षी थीं मानवता की-
मानव महत्ता की
उन्हें/उन प्रतिमाओं को
तोड़ दिया/ उड़ा दिया
भयानक विस्फोटों से/
तनिक न कंपा मन
इन सजीव पाषाणों का
क्रूर कर्माओं का;
जो कहते हैं-अनुयायी अपने को
उन अपूर्व पैगम्बर का/
कि जो थे—
स्वयं मुहब्बत, दया, समता
औ भाईचारे के
सजीव प्रतिरूप।
जिन्होंने जगायी मानव में—
एकता, समता।
आदम को आदमी बनाया।
उन महान पैगम्बर के
पथ के पंथी कहलाने वालों
तोड़ना है तो अपने अन्दर—

नफरत के पाषाण तोड़ो
निर्जीव हो चुकी चेतना—
ओ सोई इन्सानियत जगाओ/
तुम अपना ही लहू पी/लहूलुहान हो
बन गए हो रक्तपिपास-
अब इन पाषाणों में लहू खोजते हो?
पीने के लिए?
अरे तोड़ना है तो, मुहब्बत के बहाव से
हठधर्मिता तोड़ो/कुटिलता को छोड़—
नफरत का उन्माद छोड़ो।
तब बन पाओगे उन महान मोहम्मद के
सच्चे अनुयायी,
जिन्होंने फैलायी मुहब्बत दुनिया में।

□

# पुरातन भारतीय दंत-कला

## डॉ. रामस्वरूप पल्लव

प्राचीन भारतीय ललित कलाओं में गजदंत-कला का प्रमुख स्थान है। हमारी कला-संस्कृति में प्रारम्भ से ही हाथी को वैभव का प्रतीक माना गया है और उसके अमूल्य गज-दंतों पर विविधाकृतियां उत्कीर्ण एवं चित्रित करने में प्राचीन दंत-शिल्पी यथेष्ट सफल रहे हैं। भारत की इस समृद्ध कला-परम्परा के कारण गज-दंत की वस्तुएं अपने रूपगत सौन्दर्य एवं उपयोगिता के लिए विश्वविख्यात रही हैं। मनमोहक दंतकला-शिल्प कलाप्रिय लोगों के लिए गृहसज्जा का श्रृंगारिक उपकरण बन गया। प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों द्वारा निर्मित गज-दंत की शिल्पाकृतियों ने चार सहस्राब्दियों तक सम्मोहित किया। मोहेंज़ोदड़ों-हड़प्पा से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री में एक मुहर पर हस्ति-चिन्ह उत्कीर्ण हुआ है, जो भारतीय कला में अद्वितीय उदाहरण है। इसी युग में नारी सुव्यवस्थित केश विन्यास में रुचि लेती थी और हाथी-दांत की बनी कंघियों का प्रयोग करतीं थीं। हाथी-दांत पर उभारदार कार्य मोहेंजोदड़ो काल में भी होता था। कुछ द्यूत-क्रीड़ा सम्बन्धित पासे के टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं, जो हाथी-दांत से बने हैं। लोथल में भी गज-दंत की कुछ गोट प्राप्त हुई हैं।[1] प्राचीन भारतीय साहित्य में गजदंत-शिल्प का उल्लेख तो असंख्य स्थानों पर हुआ है, लेकिन इस दंत-कला का क्रमिक इतिहास उपलब्ध नहीं है।

रामायण काल (1000-700ई. पूर्व) में दंत-शिल्पियों को 'दंतकार' के नाम से पुकारा जाता था।[2] बाल्मीकी रामायण में हाथी-दांत की मूर्तियों का उल्लेख मिलता है, लेकिन यह मूर्तियां देव-पूजन के लिए नहीं थीं।[3] तद्युगीन कलाभिरुचि सम्पन्न नागरिक अपने गृह-सज्जा के लिए हाथी-दांत की शिल्प-वस्तुओं का प्रयोग करते थे। रामायण युगीन दंतकार अन्य कलात्मक उपकरणों के साथ साथ राजकीय रथों के निर्माण में पूर्णत: दक्ष थे। वह रथों को सिंह तथा व्याघ्र-चर्म से मंडित करके हाथी दांत और स्वर्ण

की पच्चीकारी द्वारा अलंकृत करते थे।[4] लंका नरेश रावण का रथ इसी प्रकार बनाया गया था (सिंह व्याघ्र-तनुत्राणैर्दान्तकांचनराजती;, रामायण-5/6/)। "रावण का राजमहल उन भव्य प्रासाद-पंक्तियों से शोभायमान हो रहा था जिसके गवाक्ष हाथी-दांत तथा चांदी से बने थे और सोने की जाली से ढ़के थे (दंतकारा जताश्चैव गवाक्षा: प्रियदर्शन:, हेमजालवृताश्चासंस्तत्रा प्रासाद-पंक्त्य:)। उनके प्रासाद-स्तम्भों पर भी हाथीदांत से, सोने-चांदी आदि धातुओं से और वज्र-वैदूर्य आदि मणियों से मनोहारी चित्रांकन किये गये थे (दान्तकैस्तापनीयैश्चस्फटिकै: राजतैस्तथा, वज्रवैदूर्यचित्रैश्च स्तंभैर्दष्टि मनोरमै:)। रावण ने अपने भाई कुंभकरण के लिए जो प्रासाद निर्मित करवाया था उसके सोपान तथा खिड़कियों की जालियां वैदूर्य मणि से, उसकी वेदिकाएं वज्र तथा स्फटिक मणि से और उसके तोरण हाथी-दांत से अलंकृत थे"।[5] भगवान राम से मिलने के लिए भरत जी जब अयोध्या से चित्रकूट की ओर चले तब उनके साथ दरबारी सदस्य, गणमान्य नागरिक, विविध श्रेणी (कुंभकार, मणिकार, सुधाकार स्वर्णकार) के साथ-साथ दंतकारों के प्रतिनिधि सदस्य भी साथ में वन की ओर गये थे।[6]

बौद्धग्रन्थ 'महावस्तु' में विविध श्रेणियों का उल्लेख मिलता है जिसमें शंखिक (शंख का कार्य करने वाले) और दंतकारों का भी वर्णन है।[7] एतरेय ब्राह्मण (6/27) में हस्ति-शिल्प का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रन्थों में दंतकारों को शिल्पार्य कहा गया है।[8] भारतीय दंतकारों, दंतकला-संघों (श्रेणी), और दंतकला के व्यावसायिक केन्द्रों का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। 'सीवल नागराज' जातक कथा से ज्ञात होता है कि वाराणसी में हाथी दांत के शिल्पियों का एक पृथक व्यावसायिक बाजार और दंतकला की वीथिका (गैलरी) थी, जहां हाथी-दांत की विविध कलात्मक सामग्री का निर्माण करके प्रदर्शित किया जाता था। अजन्ता के बौद्ध-भित्तिचित्रों में गुफा संख्या-10 में दो बार तथा गुफा संख्या में 17 छद्दन्त जातक कथा का चित्रण मिलता है।[9] बोधिसत्व ने छ: दांत वाले सफेद हाथी के रूप में जन्म लिया था। इसलिए उनका नाम छदन्त पड़ा।[10] पूर्व जन्म में वह हिमालयी प्रदेश में हाथियों के राजा थे और इनकी दो रानियां (महासुभद्रा और चुलसुभद्रा) थीं। छदतंत जातक कथा के दृश्यों में-हाथी अपने दांत खुद उखाड़कर सोनुत्तर शिकारी को सहर्ष देते हुए चित्रित है। एक अन्य सर्वाधिक विद्रावक दृश्य में-अधीरता से हाथी दांत की प्रतीक्षारत बनारस की रानी की मन:स्थिति का चित्रण है, जिसमें हाथी के उखड़े हुए षड़दन्तों को देखकर रानी मूर्छित हो जाती है और अन्त में पूर्व जन्म के पति के मोह में रानी प्राण त्याग देती है। भरहुत सांची मूर्तिशिल्प में बी षड्दंत कथानक का प्रदर्शन सर्वोत्कृष्ट रूप में हुआ है।[11]

प्राचीन भारत में अयोध्या, साकल (स्यालकोट, पाकिस्तान), मथुरा, बनारस, कपिलवस्तु, विदिशा आदि स्थानों पर दंतकारों के अनेक संघ थे। दंतकार अपनी श्रेणियां (संघ) बनाकर संगठित रहते थे। संघ की सदस्यता से दंत-शिल्पी को सम्मान,

सुरक्षा एवं व्यावसायिक संरक्षण मिलता था। दंतकारों, दंत-श्रेणियों और दंत-कला के प्रसिद्ध केन्द्रों का उल्लेख-रामायण, महाभारत, मिलिन्दपन्ह, महावस्तु, आवश्यक चूर्णी, महाकवि कालिदास की कृति मेघदूत (1/59), सोमेश्वर कृत मानसोल्लास, अश्वघोष के बुद्ध चरित और बुद्ध जातक कथाओं में यथास्थान उल्लेख हुआ है।

ईसा पूर्व में विदिशा (मध्य प्रदेश) एक समृद्धशाली व्यापारिक नगर था, जहां श्रेष्ठ दंतकारों की श्रेणियों का आवास था। यहां दंत-कला का प्रमुख व्यवसाय केन्द्र था। मौर्य सम्राट अशोक (273-236 ई. पू.) की ससुराल होने के कारण विदिशा नगर गौरवान्वित हुआ। विदिशा से नौ कि.मी. दूरी पर, 91 मीटर ऊंची सांची की मनोरम पहाड़ी पर कलाकारों को राजकीय आमंत्रण मिला। सांची का यह स्थान सम्राट अशोक ने भगवान बुद्ध के स्तूप तथा एकाश्मक स्तंभ के लिए चयन किया।[12] इसी सांची की पहाड़ी पर भव्य स्तूप. बनवाया। परवर्ती सातवाहन काल (ई. पू.) प्रथम शती) में हाथीदांत के शिल्पियों वृहताकार पाषाण-खण्डों को दंत-कला शैली में रूपायित किया। इसकी पुष्टि दक्षिणी तोरण-द्वार के बाएं स्तम्भ से होती है। सांची-स्तूप पर उत्कीर्ण अभिलेख में लिखा है-वेदिसकेहि दंतकारेहि रुपकम्मं कतम्। अर्थात् "स्तम्भ पर जो अलंकरण (रूपकम्प) बने हैं, वे हाथी दांत का कार्य करने वाले विदिशा के दंतकारों की कृति है"। अत: विदिशा के दंतकारों द्वारा सांची-स्तूप के प्रस्तर उत्कीर्ण और उत्सर्ग कार्य में दंतशिल्प की उत्कृष्टता दिखायी देती है।[13]

प्राचीन भारत में कागज-आविष्कार (12वीं शती) से पूर्व मुख्यत: तीन प्रकार के चित्र बनाये जाते थे—(1) भित्तिचित्र, (2) पट्ट चित्र, और (3) चित्रफलक। भित्तिचित्र दीवार पर बनाये जाते थे। चित्रपट्ट जो सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र और चमड़े पर चित्रित किये जाते थे, इनको लपेटकर रखने की विशेष सुविधा रहती थी। चित्रफलक के लिए के लिए लकड़ी, कीमती पत्थरों और हाथी-दांत[14] का प्रयोग किया जाता था। गज-दंत दो प्रकार का होता है-प्रथम दक्षिण अफ्रीका से प्राप्त और दूसरा एशियाई देशों में उपलब्ध। विशेषज्ञ ऐसा मानते हैं कि भूमध्य रेखीय प्रदेश के हाथी और हाथी-दांत की गुणवत्ता अच्छी मानी जाती है। वर्जिल ने भारतीय गज-दंत की कलात्मक सामग्री, हाथी-दांत पर चित्रित चित्रकारी के पक्के रंगों और दंत गुणवत्ता की प्रशंसा की है, क्योंकि भारतीय हाथी-दांतों का रंग सफेद होता है।[15] इन सफेद गज-दंतों के चिकने और पतले फलकों पर चित्रकारों ने अपनी रंग-कौशलता का परिचय दिया। परम्परागत रंग-निर्माण-प्रविधि को दंत-फलक जैसे चिकने माध्यम पर रंगते समय निश्चित ही विशेष रंग-पद्यति का प्रयोग किया होगा। चित्रकारों ने स्व निर्मित धातु-पत्थरों के प्राकृतिक रंगों का प्रयोग किया। गिलहरी-हिरण के सुकोमल बालों से बनी तूलिका द्वारा रंगाकन किया गया। चित्रित हाथी-दांत के फलकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दंत-चित्रकारों ने अत्यन्त धैर्य से थोड़ा-थोड़ा रंग लेकर सुंदर रूपांकन किया। इस कार्य में एक बाल से बनी महीन तूलिका, सुकोमल रंग-योजना, छाया-प्रकाश की कुशल दक्षता ने दंताकृतियों को विशिष्ट सौम्यता प्रदान की है।

प्राचीन काल से हाथी को शक्ति, बुद्धि और वैभव का प्रतीक माना गया है। हाथी का शिकार करने पर पूर्णत: प्रतिबंध था, फिर हाथी दांत के लिए ही हाथी का शिकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। राजसी वैभव की शान-शौकत और युद्ध के लिए चतुरंगिनी सेना में हाथी को आवश्यक अंग माना जाता। राज्य की ओर से गजबन्ध (वनों से हाथी पकड़ना-कुञ्जरबन्धनम्) करके जंगली हाथियों को पालतू बनाकर सेना में शामिल किया जाता था। मौर्य साम्राज्य के उत्कर्षकाल (तीसरी शती ईसा पूर्व) में सृजित ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' में गज-शिक्षा के अध्याय में वर्णित है कि राजा अपनी सीमाओं के साथ हस्ति-वन रखता था। इन हि्स्त-वनों में आने-जाने के मार्ग को दो दंड चौड़े[16] (लगभग चार मीटर) बनाने का निर्देश कौटिल्य ने दिया। हाथियों की सुरक्षा व संरक्षण के लिए अटवी-पाल नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जो आरक्षित वन के हाथियों की देखभाल और गज-गणना करके राजा को सूचित करता। वन-क्षेत्र में हाथी की स्वाभाविक मृत्यु होने पर ही हाथी-दांत को निकाला जाता था। गज-दंत राजकीय सम्पत्ति होती थी और जो व्यक्ति अटवी-पाल के पास गज-दंत को जमा करता, उसे राज्य की ओर से उचित पुरस्कार (सवा चार पण) मिलता था।[17] संग्रहित हाथी-दांतों को, राज्य की ओर से गज-दंतकारों को उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था की जाती।

सैल्यूकस निकेटर 305 ई. पूर्व में चन्द्रगुप्त मौर्य से पराजित हुआ और उसने अपनी लड़की का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया था और दहेज में पांच सौ हाथी[18] उपहार स्वरूप दिये। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में कौशाम्बी एक महत्त्वपूर्ण जनपद था। कौशाम्बी के राजा उदयन (उदेन) को हाथी पकड़ने का शौक था। वह अपनी सुरमंडल बीन बजाकर, हाथी को मोहित करके पकड़ लेता था।[19] उसके पास हाथियों की शक्तिशाली सेना थी। राजा उदयन की व्यक्तिगत अभिरुचि हस्तिपालन हस्ति-संचालन एवं वीणा वादन में थी। उदयन की गज सेना-शक्ति के अहम ने ही अवंती के राजा चंड पज्जोत की कन्या वासवदत्ता का अपहरण करवाया। वासवदत्ता भी हस्ति-संचालन में दक्ष थी। भारतीय मूर्तिकला के कई मृण्फलकों में उसे हथिनी भद्रवती पर सवार दिखाया है, जिसको वह स्वयं संचालित करती थी। उदयन-वासवदत्ता अपहरण दृश्य हाथी-दांत पर भी अंकित किया गया। कोंडापुर (आंध्रप्रदेश) में उत्खनन से प्राप्त इस दंत-फलक पर चार गजारूढ़ हैं जिसमें सबसे आगे पुरुष की गोद में वासवदत्ता बैठी है। यह दंत-फलक राज्य संग्रहालय, हैदराबाद में संग्रहीत है। यह दंत-फलक राज्य संग्रहालय, हैदराबाद में संग्रहीत है।

प्राचीन भारत में स्थापत्य-सज्जा कें लिए हाथ-दांत का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। द्वारों, कपाटों, वेदिकाओं, गवाक्षों, तोरण-द्वारों वल्लभी स्तम्भों पर हाथी-दांत की पच्चीकारी के उदाहरण मिलते हैं। दंत-कपाट तथा दंत-वल्लभिका का उल्लेख 'कादम्बरी' में और दंत मत्तवारण का उल्लेख सोमेश्वर द्वारा रचित 'मानसोल्लास' (1131 ई.) में हुआ है। इसी कृति में गज-दंत की स्वर्ण जड़ित दंत-पादुकाओं का

वर्णन मिलता है[20]। बाणभट्ट की कृति 'हर्षचरित' में मकर-मुखाकृति (गजदंतमय मकरमुख महाप्रणाल) वाले गज-दंत के पायों का वर्णन मिलता है। महाकवि कालिदास की कालजयी कृति 'मेघदूत' (1/59) में हाथी दांत का मंचक तथा 'महावस्तु' में गजदंत-पायों का उल्लेख मिलता है। हाथी दांत की अलंकृत पालकी का उल्लेख कवि अश्वघोष (ईशा की प्रथम शताब्दी) ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'बुद्धचरित' में यथा स्थान किया है। प्राचीन साहित्य में उल्लिखित वर्णनों से ज्ञात होता है कि हाथी-दांत के दक्ष शिल्पियों ने अपनी दंतकला को प्रदर्शित करते हुए उत्कृष्ट, कलात्मक एवं उपयोगितापूर्ण वस्तुओं-श्रृंगार पेटिका (दंत शफरूक), भुजबंद, चूड़ियां (नागदंत वलय), कर्णाभूषण, कंठाभूषण, मालायें, लॉकेट, अंजन-शलाकाएं, बटन, कंघियां, दर्पण की मुठ, तलवार-चाकू की मुठ, खूंटियां (नागदंत), गंजीफा[21], शतरंज की मोहरें, चौपड़ के पासे, राजसी सिहांसन, कुर्सियां, दीपदान, सूइयां रखने की पेटिका, बच्चों के खिलौनों की लोकप्रियता चतुर्दिक फैली।

सारत: विश्वविख्यात भारतीय कला की अमूल्य दंतकला-निधि ने सहस्राब्दियों तक शिल्पकला-प्रिय लोगों को अद्भुत कृतियां दी और अपने शिप्लीय सम्मोहन से प्रेक्षकों को अभिभूत किया। हमारी प्राचीन भारतीय मूर्ति कला का आदर्श अनेक अंशों में हाथी-दांत की शिल्पकला से प्रेरित एवं आघृत है[22]। इतिहास साक्षी है कि भारतीय दंत-कलाकृतियों की विदेशों में अत्यधिक मांग थी। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से भारत-रोम के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित हो चुके थे। रोम के पोम्पई नगर से प्राप्त हाथी-दांत की नारी मूर्ति प्रमाणित करती है कि ईसा पूर्व में भारतीय गज दंताकृतियां विदेशों में भेजी जातीं थीं[23]। रोम की विलासिनी सुंदरियां भारत के आभूषण, इत्र, रेशमी परिधान, सौंदर्य प्रसाधनों एवं गज-दंत से बनी श्रृंगारिक सामग्री को उपयोग करके अपने को धन्य मानती थीं।

## संदर्भ


1. सैंधव संस्कृति में क्रीड़ा एवं खेलकूद: डॉ. रीता पांडेय (लेख) कादम्बिनी, नवम्बर-87
2. भारतीय हाथी दांत का शिल्प: केशवानन्द ममगाई (लेख) संस्कृति-1980, पृ. 12
3. वही, पृ. सं. 11
4. भारतीय कला: ए.एल. श्रीवास्तव, इलाहाबाद, 1997, पृ. 194
5. वही, पृ. सं. 195
6. भारतीय हाथी दांत का शिल्प: केशवानन्द ममगाई (लेख) संस्कृति-1980, पृ. 11
7. भारत का सांस्कृतिक इतिहास: डॉ. राजेन्द्र पांडेय, लखनऊ-1976, पृ. 156
8. भारतीय कला: ए. एल. श्रीवास्तव, इलाहाबाद, 1997, पृ. 194
9. कला और कलम: डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल, अलीगढ़-1986, पृ. 63
10. अजन्ता की बोलती तस्वीरें: विमला दत्ता, दिल्ली-1969, पृ. 54
11. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर : डॉ. वासुदेव उपाध्याय, पटना-1972, पृ. 36-48
12. सांची: देवला मित्र, भारतीय पुरातत्व सवेक्षण नई दिल्ली 1993, पृ. 3
13. भारतीय मूर्तिकला: रायकृष्ण दास, वाराणसी-1996, पृ. 42

14. भारत की चित्रकला: रायकृष्ण दास, इलाहाबाद-1972, पृ. 7
15. भारतीय हाथी-दांत का शिल्प: केशवानन्द ममगाई (लेख) संस्कृति-1980, पृ. 12
16. भारत के नगर: अ. कोरोत्स्काया, मास्को-1948, पृ. 82
17. भारतीय हाथी दांत का शिल्प: के. ममगाई (लेख) संस्कृति-1980, नं. 66, पृ. 11
18. प्राचीन भारत: द्विजेंद्रनारायण झा, प्रथम सं., नई दिल्ली-2000, पृ. 105
20. पादुकागजदंतसमुद्भूता सुवर्णरचनान्विता, मानसोल्लास: सोमेश्वर
21. गंजीफा खेल को तीन-चार खिलाड़ी ताश की तरह खेला करते थे। हाथी-दांत का 96 कार्ड वाला चित्रित गोलाकार गंजीफा राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में संग्रहीत है।
22. भारतीय मूर्तिकला: रायकृष्णदास, वाराणसी-1996, पृ. 42
23. प्राचीन भारत: द्विजेन्द्रनारायण झा, प्र.स., नई दिल्ली-2000, पृ. 143

□

# दक्षिणी द्वार पर

## डॉ. कृष्ण चन्द्र गुप्त

पन्द्रह वर्ष पहले हैदराबाद से व्यक्तिगत परिचय का सिलसिला शुरू हुआ था, जब हैदराबाद विश्वविद्यालय में उसी वर्ष नियुक्त डॉ. अरुण अग्रवाल से बेटी अल्पना का विवाह निश्चित हुआ। लेकिन यहां आने का सौभाग्य मिला 1989 में, त्रिवेन्द्रम से लौटते हुए। यों हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय, सालार जंग म्युजियम, गोलकुंडा, चारमीनार और हुसैन सागर का नाम तो सुना था, थोड़ा बहुत परिचय दक्खिनी... हिंदी और हिंदी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'कल्पना' से भी था, लेकिन जब पहली बार यहां आया, तब देश के इस दक्षिणी द्वार के रूप रंग से साक्षात्कार हुआ।

डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है यदि निराला की "दक्खनिया हवा" कम लगी होती तो हिंदी को एक और एक तुलसीदास मिल जाता। इसका आशय-अभिप्राय मुझे तभी समझ में आया जब 1989 से त्रिवेन्द्रम, कन्याकुमारी, गोल्डन बीच, महामल्लेपुरम, शिव कांची, तिरुपति, और हैदराबाद के सामान्य और अभिजनों के सम्पर्क में आया, तब प्राकृतिक, मानवीय और कलागत सौन्दर्य की त्रिवेणी को छूकर चलने वाली दक्खनिया हवा और रंगत को देखा।

दक्षिण का सौन्दर्य, छोटे-बड़े जलाशय, सागर-समुद्र, नदियां, नारियल के आकाश धर्मी पेड़-जिनके पत्ते अपने अनियारेपन के कारण उत्तर भारत से आये दर्शकों को विस्मय-अभिभूत कर देते हैं'। और हैदराबाद में तो चट्टानों का सौंदर्य अद्भुत ही कहा जायेगा। भिन्न-भिन्न आकार की चट्टानें, एक के ऊपर एक रखी हुई, परस्पर सटी हुई। एक विशाल चट्टान के ऊपर चिड़िया की चोंच सी रखी हुई दूसरी चट्टान। कहीं मेढ़क के आकार की, तो कहीं कुकुरमुत्ता जैसी। कोई एक चट्टान ऐसी कि बीच में से चीर दी गयी हो और कहीं बच्ची के द्वारा बनाये हुए घरों जैसी कटी-घटी आकृतियां। सुनकर या पढ़कर इनकी कल्पना हो ही नहीं सकती। इनका यह विलक्षण सौन्दर्य तो देखते ही बनता है। सिकन्दराबाद स्टेशन से लिंगमपल्ली जाते

हुए ऐसी विराट भव्य चट्टानों का यह दृश्य वास्तव में दृष्टि को बांधे रखता है। और यहीं आकर लगता है कि ऐसे क्षेत्र को एक राक गाईन तो क्या राक डिविजन कहना उचित होगा। चण्डीगढ़ में कूड़े-करकट से बनी भौंडी-भद्दी, ऊट-पटांग आकृतियों के झुण्ड को राक गाईन कहना या मानना हैदराबाद के उस चट्टान-वैभव का अपमान है। खुरदरी, कठोर चट्टानों में भी कोई आकर्षण हो सकता है और यह नयनाभिराम हो सकता है, यह अनुभूति यहां आये बिना नहीं हो सकती। यों चम्बल के बीहड़ों का अपना आकर्षण है जो मध्यप्रदेश को पार करते हुए दिखायी पड़ता है। लेकिन हैदरबाद की ये चट्टानें अपनी उपमान आप ही हैं। बड़े विशाल जलाशय, जिनकी विराटता इन्हें सागर या झील बना देती है, इनका तरल सौन्दर्य चट्टानों के ठोस सौन्दर्य के वैषम्य में और भी अधिक मनोहारी लगता है।

कुछ और भी चीजें ऐसी हैं जो एक उत्तर भारतीय को यहां आकर एकदम पकड़ लेती है फिर जिन्हें भुला पाना उसके लिए सम्भव नहीं होता। इनमें सबसे प्रमुख है प्रत्येक दक्षिणी के द्वार पर अंकित अल्पना (रंगोली) लोक और नागर कला का सम्मिलित रूप सांस्कृतिक समृद्धि का यह अंकन, दक्षिण नारियों की कला परिचर्या से अधिक पारिवारिक सुख शांति और सांस्कृतिक अभिरुचि की अभिव्यक्ति लगता है। दिन निकलते ही घर-बाहर को धो बुहारकर द्वार पर सौभाग्य-का सूचक यह मांगलिक अंकन, आगन्तुक का हार्दिक स्वागत करने को तत्पर दिखायी पड़ता है। कुल कन्या-वधू के कलात्मक सौन्दर्य के स्रोत हृदय से निकले लोक संस्कृति के रमणीक प्रतीक अभिप्राय का, अधिकतर सफेद यदा-कदा रंग-बिरंगे चूर्ण से किया गया यह अंकन बड़ा भला लगता है। यों विशेष मांगलिक पर्वों-अवसरों पर सम्पूर्ण भारत में ऐसे अंकन होते हैं लेकिन विशेष पर्वों पर ही, मूलत: दक्षिण निवासियों के द्वार पर यह अंकन दिखायी नहीं पड़ता है तो किसी अनिष्ट या दु:ख का अहसास इससे व्यक्त होता है।

प्रवेश द्वार से बाहर ही जूते चप्पल निकालने की प्रथा भी दक्षिण को उत्तर से अलग कर देती हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक स्थानों पर या किसी अन्य के घर पर गिलास से मुंह लगाकर पानी नहीं पिया जाता। इस सहज शुचिता के सामने एक ही बोतल से कई लोगों को मुंह लगाकर पानी पीते देखकर घिन सी आने लगती है और सामूहिक भोजों में बिना ढंग से घुले हुए ग्लासों में पीने को तो मन करता ही नहीं। अत: स्वास्थ्य और पवित्रता की दृष्टि से जल पीने की यह दक्षिण शैली वांछनीय और आवश्यक लगती है।

राजशेखर के प्राकृत नाटक ''कर्पूरमंजरी'' में वसन्तागम का आभास दक्षिणात्य प्रदेशों की अंगनाओं के रूप लावण्य और सज्जा प्रसाधनों की मनोहारी शैलियों के माध्यम से कराया गया है। ऋतु परिवर्तन के कारण उपस्थित प्रकृति के उपादानों के सम्पर्क में आने के कारण दक्षिण नारियों के तन और मन में होने वाले संचारी भावों के उद्द्वेलन और उनकी छटाओं को कई दशकों तक कक्षा में पढ़ाता रहा, लेकिन उनका प्रत्यक्ष अनुभव यहीं आकर हुआ और खूब हुआ।

दक्षिण नारियों के केश सौन्दर्य बड़ा चिन्ताकर्षक-कज्जल काले नितम्ब स्पर्शी केश पूरी पीठ पर फैले हुए, गुंथी हुई वेणी में लगे हुए विभिन्न रंगों के फूलों की माला और कभी वेणी मूल में लगा हुआ एक ही फूल। गले में सोने की चैन, माथे के बीच में कुछ ऊपर को लगी बिंदी और नीचे शिव के भाल पर सुशोभित त्रिपुंड की अवशेष एक आड़ी मोटी रेखा चन्दन की। हंसने पर सलोने मुख मण्डल पर कुछ दीख पड़ने वाली श्वेत दन्त पंक्ति, तो कभी खिल-खिलाकर हंसने पर मुख मण्डल पर दिखायी पड़ने वाली, दन्तावली। लगता है इसी दक्षिणी मुख छवि को देखकर या कल्पित करके तुलसी ने लिखा-"चपला चमकेधन्न बीच मनै। छवि मोतिन माल अमोलन की।" घने काले बादलो के बीच में चमकने वाली बिजली-धुर दक्षिण भारत में, यह बड़ी सहजता-प्रचुरता से दिखायी पड़ता है। तो प्राकृतिक सौंदर्य जैसा ही रमणीक यह मानवीय सौन्दर्य। प्रकृति के विराट अद्‌भुत सौन्दर्य की तुलना में मानवीय सौंदर्य की ये सूक्ष्म छवियां सहृदयों का मन मोह ही लेती हैं, क्योंकि गोरे और गेहुंए रंग के मुख पर दन्तावली की यह शोभा उतनी तिमुग्धकारी नहीं लगती, जितनी श्याम सलोने मुख पर खिल उठती है। अधिकतर छरहरी देहयाष्टि घने रंगीन परिधान, सहज संकोच से सिमटे अगों की शोभा देखते ही बनती है। प्रौढ़त्व आने पर केशों की जमुना में गंगा आकर मिलने लगती है, उस सहज संगम को छिपाने के लिए शौकीन मिजाज़ों के द्वारा जो केश रंजन-हेयर डाई-समूचे उत्तर भारत में किया जाता है वह रंजन कौशल के अभाव में बड़ा फूहड़ और भद्दा हो जाता है, पूरे दक्षिण में ऐसे दृश्यों को देखने का कष्ट नहीं झेलना पड़ता।

दक्षिण के मंदिरों के कला वैभव की विराटता और भव्यता तो दर्शनीय है उन्नत गोपुर, बड़े विशाल परिसर, मूर्ति बाहुल्य, रंग-बिरंगी मूर्तियों से बाहरी सज्जा, अनेक देवी-देवताओं और उनके परिवार का जीवंत अंकन। अनेक बहु प्रचलित प्रतीक-अभिप्राय-सिंह, व्याघ्र सर्प, मंगल कलश, नारियल, वनस्पतियां। विराटता और भव्यता के प्रतीक, नटराज की विभिन्न गुहं आम्नी चक्र, चारों हाथों की दशा विस्मय-अभिभूत कर ही देती है। महाबलीपुरं के स्थापत्य, मूर्ति और चित्र वैभव की प्रचुरता अपनी जैसी आप ही है। इनका उपमान खोजना सरल नहीं।

दक्षिण में प्रवेश करते ही यहां के मूल निवासियों की सहजता, सरलता, और संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। परम्परागत शास्त्रीय नृत्यों में भरतनाट्यं, कथकली, कुचीपुड़ी, मोहिनी अट्टम का कला वैभव तो मोहित करने वाला है ही परम्परागत वस्त्र और केश सज्जा और आभूषण, देह का छन्द जो तकनीकी ज्ञान के अभार में भी दृष्टि और मन को बांध लेता है। पूरे शरीर की मुद्राएं लय सज्जा और अलंकरण की एक-एक छवि विमुग्ध करने वाली होती है गायन, वादन नर्तन की संगति जिन सहृदयों को उपलब्ध हो जाती है। बिहारी के शब्द में वे इन सब में 'डूबकर तिर जाते' हैं। ऐसे दक्षिण में रमण करते, हुए और इस दक्खनियां के जादू से सहृदय औरे तन, औरे मन, औरे रंग हो जाते हैं।

□

# साहस और वेदना का दस्तावेज : 'पाषाण युग'

डॉ. मधु संधु

''पाषाण युग'' न कोई क्रांति गाथा है, न विद्रोह कथा, यह कश्मीर की सुलगती घाटी के छह वर्षों को समेटता उपन्यास है। यहां एक ओर जिहाद, धर्मयुद्ध, और पसेपर्दा जंग के नाम पर फन फैलाए मनुष्य के आदिम संस्कार हैं तो दूसरी ओर जलते हुए पहाड़ों के बीच रहकर लगभग आत्महत्या कर रहे अल्पसंख्यक और सुरक्षाबलों के सिपाही हैं। न विश्व-इतिहास में कोई नई घटना घटी, न हिरोशिमा, नागासाकी के कांड की पुनरावृत्ति हुई, न तीसरा विश्वयुद्ध छिड़ा। बस देखते ही देखते एक तपोवन आदमखोरों से भर गया। इतनी लम्बी सांस्कृतिक यात्रा तय करने के बाद मनुष्य पुनः आदिम युग, पाषाणयुग में चला गया। उपन्यास में मनुष्य के उदात्त आदर्शों को हर पल चुनौती मिल रही है। सरहद के उस पार कहते हैं कि अमानुल्ला खान साहब ने फ़रमाया है कि कश्मीर की आजादी के लिए सीधी लड़ाई छेड़ी जाएगी। जामे शहादत पीने के लिए तैयार रहें, किंतु नायिका अंजलि के पिता को कश्मीरियों का शहीद होना विश्व का आठवां आश्चर्य लगता है क्योंकि, 'कश्मीरी हिंदू दुनिया का सबसे कायर आदमी है और मुसलमान ज्यादा से ज्यादा दरिया किनारे पर खड़ा हो मुक्के दिखा सकता है।...गोली चलाने का कलेजा नहीं है यहां के लोगों के पास। ''पाषाण युग'' संजना कौल के साहस और वेदना का दस्तावेज है। जिसे फ्लैश बैक का स्पर्श देते भारत-पाक युद्ध तक भी ले जाया गया है।

आतंकवाद एक ध्वंसपरक प्रक्रिया है। जीवन यथार्थ की परिस्थितियों में इसकी कहीं संगति नहीं। एक मतवाद के प्रचार के निमित्त कठमुल्ले इसका राजनैतिक

उपयोग कर रहे हैं। इसके मूल में न धार्मिक आस्थाएं हैं, न दार्शनिक मान्यताएं, न सामाजिक मूल्य, न वैयक्तिक विवेक और न वैज्ञानिक चेतना। यह मात्र एक ध्वंसपरक प्रक्रिया है। कश्मीर में सरहद पार से यह आतंकवाद आया है। कहीं तेरह-चौदह वर्ष का एक लड़का बी.एस.एफ. की गाड़ी पर बस फेंक रहा है, कहीं श्रीनगर की मुख्य सड़क पर दो युवा औरतें बम से बुरी तरह घायल हो जाती हैं, पुलिस अफसरों और आम जनता पर जब तब गोलियों की बौछार होती है। भारतद्रोह से संबंधित पैम्पलेट और किताबें बांटी जाती हैं। गोली से उड़ा देने के पत्र फेंके जाते हें। कालेज के एन.सी.सी. शस्त्रागार पर हमला करके शस्त्र लूटे जाते हैं। फर्स्ट इयर के छात्र वरुण गुप्ता का कत्ल किया जाता है। चौदह अगस्त को लड़कों के एक कालेज में पाकिस्तानी झंडा लहराया जाता है। मस्जिदों से कानों के पर्दे फाड़ने वाले नारे गूंजते हैं-'अल्ला हो अकबर, हम क्या चाहते हैं-आजादी'। भारतीय कुत्तों वापस जाओ। आइने हिंद, आइने हिंद, मंजूर नहीं, मंजूर नहीं।'' आतंकवादियों को छुड़ाने के लिए अपहरण किए जाते हैं और पुलिस की मुखबिरी करने वालों को चौराहे पर मारकर उन पर थूका जाता है। सुरक्षा बल के बंकर के सामने रहमान टैक्सी वाले का बेटा जावेद तिरुंगा जलाता है। कोयला फेंकने वाला मजदूर बृजमोहन जी को घर में आकर गालियां दे जाता है। दीवारों पर कूट भाषा में नारे लिखे जाते हैं। पाषाणयुग में अपहरण, गोलियां, बम, हत्या का गर्भपाती वातावरण है। नायिका अंजलि के पिता बृजमोहन को अपने अखबार 'रफ्तार' में तीन-तीन, चार-चार हत्याएं कर चुके आतंकवादियों की फोटो छापनी पड़ती है। उन्हें फैज अहमद फैज के क्रांतिकारी काव्य से सजाना पड़ता है। मुज़ाहिदों के ज़िहादी जोश के किस्से मुख्य पुष्ठ पर अंकित करने पड़ते हैं और अन्तत: उसका अखबार ही बंद कर दिया जाता है। रवि घर में न रहकर एक होटल में रहता है जिस दिन घर आता है उसी दिन उसे गोलियों से ढेर कर दिया जाता है। जम्मू जा चुके लोग वापिस नहीं आ सकते। उन्हें भून दिया जाता है।

इस जलती हुई घाटी में फैला सरकारी आतंक भी आतंकवादियों के आतंक से कहीं कम नहीं है। सफदरहाशमी इसलिए मारे जाते हैं कि उनके नुक्कड़ नाटक से हुकमरानों को अपनी कुर्सी डोलती हुई नजर आती है। 'रफ्तार' अखबार से सरकार इसलिए परेशान है कि वह उसके कच्चे चिट्ठे खोलता है। इसीलिए अखबार के सम्पादक एवं उपसम्पादक पर पिछला चुनाव हार चुकी एक हस्ती अपने दो गुण्डों से हमला करवा देती है। आए दिन होने वाले ब्रेकडाउन से जनता अलग परेशान है। पुरुष सुबह शिनाख्ती परेड के लिए निकलते हैं और लौटते शाम हो जाती है। मिनटों में घर फौजी बूटों की धप-धप से भर जाता है। वे घर के सदस्यों की संख्या से लेकर, ''अपको कोई तंग तो नहीं करता'' कहते-कहते ''क्या अंदर किसी को छिपाया हुआ है'' तक आ जाते हैं। इसी बीच अगर खाली घरों में रहने वाले आतंक वादी उन पर हमला कर दें तो वे किसी भी घर को मोर्चा बना सकते हैं। जिसका अर्थ है धू धू जलता मकान और पूरे परिवार को निशाना बनाती जिहादी गोलियां। 'हिंदू का घर,

हिंदू जिंदा है अभी यहां...जिंदा कैसे नहीं रहेंगे? ये भी इनके साथ मिले हुए हैं।'' जैसे वाक्यों का उच्चारण भी खाकी वर्दी धारी करते हैं। सुरक्षाकर्मियों पर जनून सा छा जाता है। आतंकवादियों को ढूंढने के बहाने घरों का सब कुछ उलट पुलट देते हैं। ताले तोड़ देते हैं जबकि स्थिति यह है कि आतंकवादी पुलिस की नाक के नीचे से निकल जाते हैं। आतंकवादियों के मकान का दरवाज तक नहीं खुलवाते, बस एक लात जमाकर आगे बढ़ जाते हैं। एक बार तो वसंतनाग के बाजार में एक पुलिसकर्मी नायिका अंजली को हल्का सा धक्का दे अपमानित कर डालता है। शशि दीदी ब्रेकडाउन के समय बेहोश हो जाती हैं। बंदूक के जोर पर उनके घर में आतंकवादी रह रहा है और वे दोंनों तरफ से आतंकित हैं। कई बार दिन रात का लगातार कर्फ्यू लगा रहता है। आम आदमी आतंकवादियों की स्टेटमेंट पर हस्ताक्षर करे तो नौकरी से जाए। न करे तो गोलियों का शिकार हों। कभी दीवाली शिवरात्रि जैसे त्यौहार बड़े उत्साह से मनाए जाते थे। अब तो घर के एक अंधेरे कोने में दो डरी सहमी मोमबत्तियां जलकर बुझ जाती हैं।

*'पाषाण युग'* अखबार की कतरनों में संग्रह नहीं। इसमें आतंक से उत्पन्न संत्रास का बहुमुखी चित्रण है। एक कंपकंपा देने वाला भय, मन की तहों तक उतरा डर सर्वत्र समाया हुआ है। नायिका अंजलि को शहर की सड़कें, पेड़-पौधे, यहां तक कि अपने मुहल्लों के मकान भी किसी अपशकुन की तह संत्रस्त करते हैं। भरत को लगता है, ''हम इन लोगों के जबड़ों में फंसे हुए हैं। ये जब चाहें हमें चबा सकते हैं। घर में जवान बहनें हैं। क्या होगा इनका।'' (पृ. 27) अंजलि के पिता बृजमोहन पत्नी से कहते हैं, ''प्रभा कहीं हमारी बारी तो नहीं आने वाली।'' (पृ. 27) भाई राजू घर से बाहर जाना पूरी तरह छोड़ देता है। बृजमोहन न मित्र रफीक चिश्ती की हत्या पर कोई आंसू गिराते हैं और न भतीजे रवि की हत्या उन्हें रुला पाती है। अखबार पढ़ते घबराहट होती है। लगता यह अखबार नहीं, चारों ओर हथियार ताने खड़े लोग हैं, जो मौका मिलते ही हत्या कर देंगे। हर समय यही लगता कि हत्यारे उन्हें घूर रहे हैं। टीन की आवाज भी बम धमाके सी लगती है। यह संत्रास हर एक व्यक्ति की रग-रग में समा चुका है। पोस्टमैन दीदार सिंह कहता है, ''नहीं दीदी जी, आजकल तो सही सलामत घर पहुंच जाएं आदमी, यही अच्छा। ''(पृ. 41) बारूदी सुरंगों में बैठे सैनिकों की काली पुतलियों में बमों, गलियों से उत्पन्न मौत का संत्रास समाया है। अंजलि रात को भयानक सपने देखती है-कभी भाई राजू की घुटनों तक सूजी टांग, कभी बेकफन लाशों के ढेर, कभी खून टपकाते नंगे शरीर और कभी बियाबानों में भटकती वह स्वयं। अम्मा को स्वप्न में लगता है जैसे चिड़िया पंख फैलाकर मर जाती है, उसी तरह वे भी राजू के पैरों के पास गिरी पड़ी है। इंसान तो क्या इस शहर की बुलबुलें भी संत्रस्त होकर शहर छोड़ गई हैं।

इस उपन्यास का एक फलक श्रीनगर के महिला महाविद्यालय में खुलता है। यहां छात्राओं को नित्य प्रति सरकार के खिलाफ जुलूसों में जाने को विवश किया

जाता है। बुर्के की पाबंदी लगाई जाती है। आतंकवादियों के आदेशानुसार लम्बे-खुले कपड़े न पहनने पर हरा रंग छिड़का जाता है। नकल का विरोध करने वाली प्रवक्ताओं को धमकियां दी जाती हैं। पैम्पलेट बांटे जाते हैं। बेपर्दा, फैशनेबल लड़कियों को उड़ाने, उनके चिथड़े करने और कालेज को राख करने की धमकियां आम बात है। प्रिंसिपल तो सहमी रहती है।

अंजलि इतिहास पढ़ाती है। हिंदू होने के कारण उसकी छात्र संख्या कम है। पंजाबी की महिन्दर कौर पर जलन छोड़ने वाला रंग छिड़का जाता है। मिसेज कुरेशी के पति का अपहरण होता है और अगले दिन उनकी लाश नीलम चौक पर मिलती है। कैमिस्ट्री की नजमा खान को नकल का विरोध करने के कारण इज्जत और जान की चुनौती दी जाती है। परवीन मिर्जा के पति वकार मिर्जा की दोनों टांगों पर गोलियां लगती हैं। नसीम की छोटी बहन बम धमाके में मारी जाती है। परवीन मिर्जा और जोहरा रियाज के घर बंदूकधारी कर उगाहने भी आते हैं। इसी कालेज की आबिदा सुलताना और मिसेज़ अहमद आतंकवादियों के साथ हैं, किंतु दोनों के बच्चे बम्बई, बंगलौर और दिल्ली में उच्च शिक्षा पा रहे हैं।

बंदूकधारियों की एक पार्टी ने अखबार में औरतों को पढ़ाई लिखाई और नौकरी छोड़कर घर का काम संभालने की सलाह दी है। औरतों का नौकरी करना इस्लाम के विरुद्ध बताया है।

आतंकवाद की प्रतिक्रिया में पात्र मनःरोगी होते भी दिखाई देते हैं। मनोविज्ञान की शब्दावली में जिसे ओबसेसिव कम्पलसन कहा गया है वह स्थिति हमें बृजमोहन और दुलारी में दिखाई देती है। बृजमोहन बार-बार कुंडी ताले जांचते हैं। थूकने के बहाने बार-बार खिड़की की ओर जाते हैं। दुलारी कड़ाके की ठंड में भी मुंह अंधेरे विवस्ता के पानी में बैठ शरीर को रगड़-रगड़ कर नहाती है। तनाव, डिप्रैशन और दहशत के कारण ये पात्र इस मनोविकार का शिकार हो गए हैं।

पलायन अब नियति बन गया है। विनय भैया और रागिनी भाभी कश्मीर छोड़ देते हैं। राजू वर्मा बेकार घूमने के बाद जम्मू के कैम्प में चला आता है। बाबा श्रीनगर से चल देते हैं। मिसेज कुरेशी की बेटी पहले से ही लखनऊ में है और पति की हत्या के बाद वे भी लम्बी छुट्टी पर वहीं चली जाती हैं। शशि दीदी की बेटी चण्डीगढ़ में पढ़ रही है। ज्योतिषाचार्य पण्डित गोविन्दराम सो का पंचांग भी सच रह जाता है और कश्मीर छोड़ जम्मू चल देते हैं। दयाशंकर एक ट्रंक ले निकल जाते हैं। गोकुल मामा जम्मू में किराये का कमरा ले रहने लगते हैं। शहनाज कश्मीर छोड़ अमरीका में बस जाती है। उसका पति सरदार है किंतु पति-पत्नी का दाम्पत्य तनाव रहित है।

इस आतंकवाद से नुकसान सभी का हुआ है। नसीम का पति इरफान कहता है, ''हम न हिंदुस्तान के रहे, न पाकिस्तान के। हमारे बच्चों को भी अब शक की निगाह से देखा जाने लगेगा।'' (पृ. 119) नसीम कहती है, ''हमारी इस कौम का एक दिन बेड़ा गर्द होना था और वह होकर रहेगा।''

इस *'पाषाण युग'* में सज्जाद साहब और मंसूज जैसे भी हैं जो जब तब पड़ौसियों की मुसीबत में मदद करते हैं। मिराज कुरैशी जैसी बुद्धिजीवी भी है जो एक अफसर के आतंकवादी बेटे की मृत्यु पर कहती है, ''क्यों गया इस काम में। आप क्यों नहीं गई। मैं क्यों नहीं गई।'' (पृ. 93)

*'पाषाण युग'* के सभी पात्र रिश्तों के बियाबान में भटक रहे हैं। अंजलि के परिवार ने राजू को खो दिया है। वह एक बार कश्मीर से निकलता है तो कभी लौट नहीं पाता। मां, बाप, बहन उससे न मिल पाने को विवश है। आतंकवादियों के भय के कारण रवि का दाह संस्कार ढंग से नहीं हो पाता। बच्चे तो लगभग सभी परिवारों ने बाहर पढ़ने भेजे हुए हैं। नसीम की बहन की ढ़ाई वर्षीय बेटी को अनाथ कर दिया जाता है। मिसेज कुरैशी को वैधव्य का शाप मिलता है। परवीन मिर्जा का पति अपाहिज हो जाता है। यानी हर परिवार सिसक रहा है। अधर में लटका है। त्रिशंकु स्थिति में है।

*'पाषाण युग'* में इतिहास की अनगिनत सदियों के पीछे आदिम गुफाएं निकल आई हैं। इस भटकी हुई पीढ़ी को एक और कबीर की जरूरत है। संजना कौल का विश्वास है कि आतंकवाद का यह टिड्डी दल भाग तो जाएगा लेकिन खड़ी फसल को बरबाद करने के बाद। उन्होंने आतंकवादियों के आतंक के साथ-साथ सरकारी आतंक को भी दोष दिया है। यहां हर व्यक्ति के मन का हर कोना संत्रस्त है। एक विशेष जमात के बाद सभी लोग इससे पीड़ित है। किंतु उपन्यास के अन्त में अंजलि और देवेन्द्र दोनों आशावादी दिखाई देते हैं। भाषिक स्तर पर उपन्यास में उर्दू शब्दों की भरमार है। कहीं कहीं प्रतीकात्मकता भी है जैसे मैना भी बच्चे का वियोग नहीं झेल सकती पर कश्मीरियों की यह नियति है। रवि का स्कूटर उस नंगी लाश की तरह पड़ा है जो धूप, बारिश और बर्फ से सड़ रही हो। ''पाषाण युग'' के अंत की बात थोड़ी झूठी पड़ गई है। क्योंकि इसके बाद भी हमने कारगिल युद्ध देखा है, नित्य हो रही हत्यायें झेली हैं, किंतु संजना कौल कश्मीर की शांति के लिए काफी आशावादी हैं। कुल मिलाकर उपन्यास कश्मीर के वर्तमान जीवन का सशक्त चित्र है।

□

# भारत और बर्मा के बीच सेतु—चन्द्र प्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि'

## तेजपाल

बुद्धं शरणं गच्छामि।

प्रभाकर जी के मुंह से निकले ये शब्द हृदय के भीतर आनन्द की धारा प्रवाहित कर गए। जिस प्रसंगवश उन्होंने उक्त शब्द कहे थे, उससे इस बात की स्पष्ट झलक दिखाई दी कि प्रभाकर जी अपने जीवन के सिद्धान्तों के प्रति कितने अडिग हैं। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि मनुष्य यदि चाहे तो संसार की समस्त बुराइयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता साहस, न्याय और परेशानियों का सामना करने की है। और, ये सभी गुण प्रभाकर जी में विद्यमान हैं।

प्रभाकर जी का पूरा नाम चन्द्र प्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि' है। प्रभाकर जी का जन्म वर्मा के उत्तरी शान प्रदेश के एक छोटे से शहर चौमे में हुआ था। इस प्रदेश का अन्य नाम 'मौ' भी है। बर्मी भाषा में 'तीरि' शब्द 'श्री' के लिए प्रयोग में आता है। यही कारण है कि वे अपने नाम के आगे 'मौतीरि' लगाते हैं जो, जन्म-स्थान के प्रति उनके हृदय में प्रेम का सूचक है। वर्ष 1965 में मई माह में बर्मा से भारत आए प्रभाकर जी को उनकी वर्तमान स्थिति में देखकर कोई भी यह अनुमान नहीं लगा सकता कि किन परिस्थितियों में वे अपना जन्म-स्थान छोड़ कर भारत आए थे और उन्होंने तब से लेकर आज तक के सफर में कितनी जटिल समस्याओं और कठिनाइयों का सामना किया है।

मेरा परिचय प्रभाकर जी से मेरे सौभाग्यवश हुआ। बर्मा में हिंदी भाषा की अद्यतन स्थिति जानने की मेरी इच्छा थी और मैं किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में था जो मुझे उपयुक्त जानकारी दे सकता हो। इस संबंध में मैंने डाक्टर कमल गोयनका से सहायता

मांगी और उन्होंने तुरंत ही प्रभाकर जी का नाम सुझा दिया। प्रभाकर जी से मिलकर जब बातचीत शुरू हुई तो पता ही नहीं चला कि तीन घण्टे कब बीत गए। बर्मा साहित्य को हिंदी में रूपांतरित करके उन्होंने न केवल हिंदी साहित्य को अपना अमूल्य योगदान दिया है बल्कि दोनों देशों को और समीप लाने में भी अहम् भूमिका निभाई है। बातचीत के दौरान मुझे लगा कि हमारे हिंदी जगत् ने उन्हें वह पहचान और स्थान नहीं दिया जो उन्हें मिलना चाहिए। प्रभाकर जी संभवत: एकमात्र साहित्यकार हैं जिन्होंने अपनी इच्छा पूर्ति और मन की शांति के लिए भारतवासियों को वर्मा की समृद्ध लोक परम्पराओं जीवन-शैली और बर्मी साहित्य से परिचित कराने का कार्य किया है।

भारत आने के बाद प्रभाकर जी ने अपने आरंभिक दिनों में बहुत कष्ट झेले। जब वे अपने परिवार सहित, जिसमें 11 सदस्य थे, दिल्ली के हवाई अड्डे पर उतरे तो उनके पास मात्र 175 रुपये थे और वे भी अपने ठहरने के स्थान तक पहुंचने में खर्च हो गए। अपने अतीत का वर्णन करते हुए ऐसा लगा जैसे वे वापस उन्हीं दिनों में पहुंच गए हैं। उन्हीं के शब्दों में ....

"दिल्ली में मेरे परिवार के ठहरने की व्यवस्था मेरे चाचाजी ने की थी। हम लोग उनके मकान की छत पर ठहरे थे। बड़ा आश्चर्यजनक लग रहा था क्योंकि न तो हम इस तरह रहने के अभ्यस्त थे और न ही कभी इस प्रकार की कल्पना की थी। जीवन-नैया को फिर से सही दिशा देनी थी। पास में फूटी कौड़ी न थी परंतु विश्वास की अथाह पूंजी थी। मन में शंका थी। परंतु उसका सामना करने के लिए साहस भी था। दिन निकलने से पूर्व ही घर में किसी को कुछ कहे बिना मैं सड़क पर अकारण घूमने निकल आया और फिर थोड़ी देर बाद संभवत: विश्राम लेने के लिए एक बस-स्टाप पर रूक गया। मैंने देखा एक व्यक्ति पहले से वहां था। मुझे लगा जैसे पहले कहीं देखा हो, याद करने की कोशिश की परंतु सफलता नहीं मिली। मुझे लगा वह व्यक्ति भी मुझे निरंतर देख रहा है और मुझे पहचानने का प्रयास कर रहा है। विचित्र स्थिति थी क्योंकि यहां पर मैं पूरी तरह से अजनबी था, स्थान से भी और यहां रहने वाले व्यक्तियों से भी नियति अपना खेल रच रही थी। कुछ पल बाद ही हम आपस में बात कर रहे थे और एक-दूसरे से परिचितों जैसा व्यवहार कर रहे थे। वास्तव में वह व्यक्ति भी वर्मा से आया था किंतु मुझसे काफी समय पहले, और अब वह पूरी तरह से यहां व्यवस्थित हो चुका था। उसने मेरे सामने नौकरी का प्रस्ताव रखा जो मैंने तुरंत ही स्वीकार भी कर लिया। मुझे नौकरी मजदूर के रूप में मिल रही थी, आठ रुपये प्रतिदिन की दर से। कोई विकल्प नहीं था मेरे पास। मेरे लिए यही ठीक था कि मैं अपने खुशहाल अतीत को भूल जाऊं और वर्तमान में जीऊं। मैं उस व्यक्ति के साथ उस फ़ैक्टरी में गया जहां मुझे काम करना था। अभी तक घर में किसी को मालूम नहीं था कि मैं कहां हूं और क्या करने जा रहा हूं। फैक्टरी के मालिकों से बात हो जाने पर मैंने वहीं से अपने घर वालों को फोन पर अपनी स्थिति बताई। मेरी नौकरी या यूं

कहिए कि मजदूरी उसी दिन से आरंभ हो गई थी। जब मैं फैक्टरी के मालिक से बात कर रहा था तो उसके पूछने पर मैंने उसे बताया था कि मैं बर्मा से विस्थापित हूं और बर्मा के लाश्यों शहर में पिछले 10 वर्षों से वहां के इण्डियन पब्लिक स्कूल में प्राधानाचार्य के पद पर कार्य कर रहा था। फैक्टरी के मालिक से बातचीत के दौरान मुझे जो संकेत मिला वह यह था कि वह मुझे अधिक समय तक अपने यहां मजदूरी नहीं करने देंगे। हुआ भी यही। उन्होंने मुझे अकाउण्ट्स क्लर्क का कार्य दिया और साथ ही अपने तीन बच्चों को पढ़ाने का कार्य भी, जिसके लुए मुझे अलग से मेहनताना मिलता था।''

प्रभाकर जी जब यह बता रहे थे तो मैंने देखा कि उनकी आंखों की कोरें भींग आई थीं, उस समय विशेष रूप से जब उन्होंने यह बताया कि घर चलाने और पेट भरने के लिए उनकी पत्नी ने भी पांच रुपये रोज पर एक फैक्टरी में नौकरी ले ली थी। उस समय प्रभाकर जी की मानसिक स्थिति क्या होगी, मैं अब भी जब यह सोचता हूं तो सही निर्णय नहीं कर पाता। एक ऐसे व्यक्ति को, जो कुछ दिनों पूर्व ही एक स्कूल का प्रधानाचार्य था, जिसे बर्मा की क्रांतिकारी सरकार ने वर्ष 1964 के लिए राष्ट्र के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान से सुशोभित किया था और जिसे तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने एक शिष्टमण्डल के हाथ बधाई भेजी थी, ऐसी परिस्थितियों के बीच रहना कैसा लग रहा था।

1952 से 1965 तक लाश्यों, बर्मा में रहते हुए प्रभाकर जी ने कई हिंदी कहानियों का बर्मा भाषा में रूपान्तर किया। इनमें मुंशी प्रेमचंद्र की ही लगभग 50 कहानियां हैं। बर्मा सरकार द्वारा उन्हें राष्ट्रीय साहित्यिक पुरस्कार प्रेमचंद्र की अमर कृति 'गोदान' के बर्मी अनुवाद के लिए ही दिया गया था। इस उपलब्धि को तथा एक अन्य घटना को सुनाते हुए उनके चेहरे पर अत्यधिक प्रसन्नता और सन्तोष झलक उठा था। वह घटना कुछ इस प्रकार थी कि 1943 में प्रभाकर जी के कस्बे से कुछ दूर मेम्यों शहर में नेता जी सुभाष चन्द्र बोस की रानी झांसी रेजीमेंट ठहरी हुई थी। एक दिन सुभाष चन्द्र बोस स्कूल का निरीक्षण करने चौमे आए और उन्होंने भारतीय देखकर पूछा कि हिंदी आती है। उनके 'न' कहने पर उन्होंने कहा कि यहां से बस्ता उठा कर घर चला जा और सबसे पहले अपनी भाषा सीख। नेताजी ने उनकी कापी पर लिख भी दिया कि बच्चे को पहले हिंदी पढ़ाओ। इस घटना ने उनमें ही नहीं अपितु उनके पूरे परिवार में क्रांति ला दी थी।

प्रभाकर जी जिन दिनों फैक्टरी में कार्य करते थे तब अचानक एक दिन एक अजनबी व्यक्ति से उनकी भेंट हुई और उसने उन्हें इंदिरा जी से मिलवाया। इंदिरा जी को जब प्रभाकर जी का परिचय मिला तो पहले तो वे नाराज हुई और उन्हें बर्मा से चले आने पर धिक्कारा। परंतु वस्तुस्थिति का ज्ञान होते ही उन्होंने उनके लिए आल इण्डिया रेडियो के बर्मी प्रभाग में नौकरी दिलाने में मदद की। यह एक ऐसा मुकाम

था प्रभाकर जी के लिए जहां से उनके कदम पल प्रति पल प्रगति की ओर बढ़ते चले गए। बर्मा प्रभाग में उन्होंने अपने लिए एक विशेष स्थान बनाया और लगभग 26 वर्ष वहां नौकरी की। इंदिरा जी ने उस समय प्रभाकर जी की पत्नी से भी पूछा था कि बर्मी में वे क्या करती थीं। यह बताने पर कि वे अध्यापक थीं और यहां पर एक स्कूल खोलने की उनके मन में इच्छा है इंदिरा जी ने उन्हें तत्काल 5000 रुपये की राशि भी उपलब्ध कराई। प्रभाकर जी ने उस समय इतनी ही मांग की थी, यदि कुछ अधिक की मांग की होती तो संभवत: वह पूरी हो गई होती। खैर, प्रभाकर जी और उनकी पत्नी की अटूट लगन, कड़ी मेहनत और दृढ़ इच्छा का यह परिणाम निकला कि आज विकास पूरी क्षेत्र में उनका एक सीनियर सैकेण्डरी स्कूल है जहां हजारों बच्चे पढ़ रहे हैं। सेवा-निवृत्ति के बाद से प्रभाकर जी अपना अधिकांश समय बर्मी भाषा की श्रेष्ठ पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद करने में लगाते हैं। प्रभाकर जी ने अनेक खण्डों में बर्मी लोक कथाओं का हिंदी भाषा में अनुवाद किया है और हिंदी के पाठकों को बर्मी लोगों के जीवन, उनकी परम्पराओं, संस्कृति और वहां की समकालीन राजनीतिक, समाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से अवगत कराया है।

प्रभाकर जी वास्तव में कलम के धनी हैं। उन्होंने गद्य ही नहीं, कविता के क्षेत्र में भी पद्य-प्रेमी पाठकों को बर्मी भाषा की उत्कृष्ट कविताओं के हिंदी रूपान्तर उपलब्ध कराए हैं। इन अनूदित कविताओं को पढ़ने पर बर्मी कवियों के मन के भीतर बहती कल्पनाओं, मानव प्रेम, संवेदना आदि के रूप में संचित अद्‌भुत सम्पदा का परिचय प्राप्त होता है। बर्मी साहित्य से भारतीय पाठकों को परिचित कराकर प्रभाकर जी ने दोनों देशों के लोगों के बीच भी एक ऐसा साहित्यिक संबंध स्थापित कर दिया है जो आने वाले समय में और घनिष्ठ होगा।

यूं तो प्रभाकर जी की कलम से निकले प्रत्येक शब्द ने बर्मी-हिंदी साहित्य में अपना योगदान दिया है किंतु बर्मा के भूतपूर्व प्रधान मंत्री ऊ नु की जीवनी 'उत्पाती शनिपुत्र' का हिंदी रूपान्तर विशेष स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त "दो पत्तों की परछाइयां", "किसान" शीर्षक से प्रकाशित उपन्यासों, "बर्फीले हिरन" शीर्षक से प्रकाशित बर्मी कवियों की कविता-यात्रा और प्रंद्रह खण्डों में बर्मी कहानियों की हिंदी रूपान्तरित कहानियों को पढ़ने से प्रभाकर जी की बर्मी और हिंदी भाषाओं पर गहरी पकड़, अनुवाद कला की पूर्ण जानकारी और रूपांतर के दौरान मूल भाषा के साथ पूर्ण न्याय करने की उनकी योग्यता का पता चलता है।

प्रभाकर जी के भीतर का इंसान अत्यन्त कोमल है, मानवता के प्रति प्रेम से ओत-प्रोत है, साथ ही जटिल से जटिल परिस्थितियों में भी साहस और विश्वास के साथ निरन्तर आगे बढ़ते रहने के लिए दृढ़-संकल्प भी हिए हैं। प्रभाकर जी ने जाने-अनजाने में हिंदी साहित्य की जो सेवा की है, बर्मी और हिंदी साहित्यकारों तथा हिंदी जगत् को बर्मी साहित्य से परिचित कराने में जिस भूमिका का सफलता से निर्वाह

किया है वह अभूतपूर्व है, अतुलनीय है और बेहद सराहनीय है। प्रभाकर जी आज भी अपने इस पुनीत कार्य में पूरी निष्ठा से जुटे हैं और बर्मी लोगों को हिंदी साहित्य से तथा भारतीयों को बर्मी साहित्य से परिचय करा कर दोनों देशों के लोगों और दोनों देशों को और नजदीक लाने में लगे हैं। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि प्रभाकर जी को हिंदी जगत् की ओर से जो सम्मान और स्थान अपेक्षित है वह अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ हैं। हिंदी लेखकों, हिंदी साहित्य से जुड़ी सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं आदि को उनकी ओर उचित ध्यान देने, उन्हें प्रोत्साहित करने और हर संभव सहायता उपलब्ध कराने की अत्यावश्यकता है ताकि उनकी सृजन-शक्ति को बल मिले और वे अपनी इस पुनीत इच्छा की पूर्ति के लिए लेखन-कार्य में लगे रहें और इसी प्रकार अपनी योग्यता और कर्मठता के साथ हिंदी की सेवा करते रहें।

अंत में मैं एक बात और कह देना आवश्यक समझता हूं जो आज के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है। हमारे देश में संभवत: आज ऐसा कोई भी मंच नहीं है जहां से किसी विद्वान को किसी विदेशी भाषा के साहित्य को हिंदी भाषा में रूपांतरित करने पर पुरस्कृत/सम्मानित किया जाता हो। भारतीय भाषाओं के साहित्य को हिंदी भाषा में रूपांतरित करने पर तो विद्वानों को पुरस्कृत किया जाता है। परंतु विदेसी भाषाओं के हिंदी रूपांतरण कार्य के लिए सरकारी अथवा गैर-सरकारी स्तर पर कहीं कोई व्यवस्था नहीं है। भारत और बर्मा दोनों देशों ने एक साथ, एक ही सत्ता से लगभग समान परिस्थितियों और विचारधाराओं के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी और दोनों देशों को लगभग एक ही समय, केवल चार-साढ़े चार माह के अंतराल पर स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बर्मा के तत्कालीन प्रधान मंत्री ने इस बात को अत्यंत महत्वपूर्ण समझा कि अपने देशवासियों को विश्व के साहित्य से परिचित कराया जाए। इसके लिए उन्होंने अपनी अध्यक्षता में एक ऐसी संस्था गठित की जिसका उद्देश्य विदेशी भाषाओं के साहित्य को बर्मी भाषा में उपलब्ध कराने वाले विद्वानों को पुरस्कृत करना था, वह भी राष्ट्रीय साहित्यिक पुरस्कार के रूप में। बर्मा सरकार की इसी संस्था ने प्रभाकर जी को 'गोदान' का बर्मी अनुवाद करने के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से सुशोभित किया था। इससे न केवल बर्मी साहित्य समृद्धि हुआ बल्कि सम्बद्ध देशों, वहां के लेखकों और पाठकों के बीच भी मधुर संबंध बनने का मार्ग प्रशस्त हुआ। हमारे देश में यदि किसी भारतीय भाषा की श्रेष्ठ कृति का हिंदी भाषा में अनुवाद होता है तो हिंदी का पाठक वर्ग तो लाभान्वित होता ही है, साथ ही मूल भाषा और अनूदित भाषा दोनों को भी लाभ पहुंचाता है। तथा लेखक और अनुवादक दोनों को गौरव मिलता है। यदि इस विषय पर गौर करके ऐसी संस्था बनाई जाए तो प्रभाकर जी जैसे विद्वानों को तो प्रोत्साहन मिलेगा ही, देश को अनेक अन्य प्रभाकर जी जैसे विद्वान उपलब्ध हो जाएंगे।

□

# परंपराओं में सदैव जीवित विलुप्त देवनदी सरस्वती

बल्लभ डोभाल

*प्राचीन ग्रंथों में देवनदी सरस्वती का उल्लेख इस मात्रा और महतत्त्व के साथ आता है कि यह विलुप्त नदी आज भी हमारी वाणी पर वैसा ही अधिकार रखती है जैसा कि गंगा-जमुना आदि। हिंदी के वरिष्ठ उपन्यासकार बल्लभ डोभाल अपने प्रस्तुत आलेख में सरस्वती के अस्तित्व में होने के आधार तथा साक्ष्य निरूपित करके यह बताते हैं कि उल्लेखों के अनुसार यह नदी थी जो कि गंगा-जमुना की तरह पूर्व की ओर नहीं, बल्कि पश्चिम की ओर बहती थी। कुछ राजाओं के पराक्रम और राजनीति से इस नदी का विलय, गंगा की धारा में कर दिया गया। नदी परंपरा का यह संभवतः सबसे रहस्यमय आध्यात्मिक, भौगोलिक और भावनात्मक पक्ष है।*

लगभग पिछले चार हजार वर्षो से लुप्त प्रायः देवनदी सरस्वती की खोज में इतिहासकार और भू-वैज्ञानिक, विशेषज्ञ आज भी संलग्न हैं। समय-समय पर सरस्वती की चर्चा में उसके मिलने की सम्भावनाएं भी व्यक्त की जाती रही हैं, किंतु इन सम्भावनाओं के कोई ठोस आधार अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। किन्हीं विश्वस्त सूत्रों द्वारा इस नदी को खोज लाने की जगह उसके अस्तित्व को ही यदि

कोई नकार दें तो यह उसकी अल्पज्ञता ही कही जाएगी।

प्राचीन-ग्रन्थों से स्पष्ट है कि वैदिक-काल में गंगा से अधिक सरस्वती का महत्व था। आकार-प्रकार में यह गंगा से भी बड़ी नदी थी। ऋग्वेद में चालीस बार सरस्वती का उल्लेख आता है। इसके नदीसूक्त में 'बृहद्देवता' के रूप में सरस्वती का स्तवन किया गया है। स्पष्ट है कि वैदिक-आर्यों की दृष्टि में सरस्वती के प्रति वही श्रद्धा थी जो उत्तर वैदिक युग में गंगा को प्राप्त हुई है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर भारतीय संस्कृति के संदर्भ में एक जगह लिखते हैं-'इसमें सन्देह नहीं कि आर्यलोग गंगा से अधिक सरस्वती को मानते हैं।' यही बात 'आर्यों का आदि देश' नामक अपने ग्रंथ में डॉ. सम्पूर्णानन्द ने कही है: 'आजकल हिंदुओं में गंगा-जमुना का महत्त्व सभी नदियों से बढ़-चढ़कर है, किंतु वैदिक काल में सिंधु और सरस्वती का ही अधिक गुणगान होता था।''

ऋग्वेद (3.23.4) में अग्निदेव का स्तवन करते हुए सरस्वती के तटों पर रहने वाले मनुष्यों के घरों को दीप्त करने की प्रार्थना की गई है तो ऋग्वेद (6.61.2) में ही सरस्वती को अपनी प्रबल बेगमती तरंगों से ऊंचे पर्वतों को तोड़नेवाली तथा अपने तटों का विनाश करने वाली नदी बताया गया है। ऋषिगण एक जगह कहते हैं, ''आओ! हम अपनी रक्षा के लिए स्तुति और यज्ञ द्वारा दोनों तटों का विनाश करने वाली सरस्वती की वन्दना करें।''

*नारायणं नमस्कृत्यं नरञ्चैव नरोत्तम:।*
*देवीं सरस्वती चैव ततो जयमुदीरयेत्।।*

महाभारत काल में सरस्वती का विस्तार से उल्लेख है। इसके हट पर साधु-संतों के प्रचुर आश्रम थे। बालकिल्य ऋषियों ने सरस्वती तट पर यज्ञ किया था। जहां अत्यन्त पावन न्यग्रोध, पुण्य पाञ्चाल्य, दालम्यघोष और दालम्य नाम के पांच तीर्थो का वर्णन आता है। यहीं पलाश-तीर्थ था, जहां महर्षि जमदग्नि तप करते थे। परुशराम ने भी सरस्वती-तट पर यज्ञ करने के पश्चात् क्षत्रियों का संहार किया। तब दृशद्वती, जिसे अब 'घघ्घर' नाम से जाना जाता है, इसकी सहायक नदी थी जो वर्तमान अम्बाला के पास सरस्वती से संगम बनाती थी। महाभारत (वनपर्व, अध्याय 93 में) दक्षिण की ओर सरस्वती तथा उत्तर की ओर दृशद्वती के मध्य कुरुक्षेत्र बताया गया है। इस सम्पूर्ण अध्याय में उस परिसर का विस्तृत ऐतिहासिक और भौगोलिक वर्णन है। स्पष्ट है कि महाभारत-काल में सरस्वती यहां विद्यमान थी। फिर अचानक इतनी बड़ी नदी का लोप कहां हो गया? प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कुम्भादिक-पर्वों पर प्रयागराज त्रिवेणी में स्नान का सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है। गंगा, जमुना और सरस्वती जैसी पवित्र नदियों का संगम होने के कारण प्रयागराज का यह त्रिवेणी तीर्थ संस्कृति के मध्यकाल... यानी महाभारत काल से ही प्रसिद्ध हो चला था। कहते हैं कि

उक्त तीनों नदियां यहां वेणी की तरह गुंथी हुई हैं। किंतु सच्चाई यह है कि गंगा-जमुना की तरह सरस्वती स्पष्ट दिखने में नहीं आती। लोगों की धारणा है कि वहीं संगम के पास किले के नीचे से प्रच्छन्न-रूप में निकलकर सरस्वती की धारा गंगा जमुना के साथ संगम बनाती है।

यद्यपि यह कथन तर्क-संगत नहीं ठहरता। पर पुरानी मान्यताओं के कुछ आधार ऐसे हैं जिनमें परस्पर संगति बैठाने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्राचीन भौगोलिक संरचना का अध्ययन करने के बाद पता चलता है कि गंगा और सतलुज (सुतुद्रि) नदी के मध्य सरस्वती प्रवाहित थी। हिमालय के एक ही पर्वत शिखर से निकल, ढलवां भूमि के कारण पानी तीन धाराओं में बंट जाता है, जिसमें इन तीनों नदियों का आविर्भाव होता है । गंगा नाम से जो नदी अस्तित्व में आती है, तब उसका जल अलकनंदा, मंदाकिनी, धौली आदि... पांच धाराओं में विभाजित था। प्राचीन ग्रंथों में तब हिमालय के इस भाग को 'पंचगंग-प्रदेश' के नाम से जाना जाता था। आगे अपने शासनकाल में राजा भागीरथ ने इन पांचों धाराओं को जोड़कर उसे 'गंगा'-एक महानदी का रूप दिया, जो अब हिमालय से लेकर सागर-संगम तक भारतभूमि को शस्यश्यामला बनाती आ रही है। राजा भागीरथ के इस महान् कार्य के लिए राष्ट्र निर्माताओं ने गंगा को भागीरथी नाम देकर राजा भागीरथ को सदा-सदा के लिए अमर कर दिया। किसी को पुरस्कृत करने अथवा अमरत्व प्रदान करने की प्राचीन भारतीयों की यह एक विशिष्ट शैली रही है।

अब गंगा, जमुना और सरस्वती भारत के विशाल प्रदेश को सींच रही थीं। गंगा जमुना का प्रवाह पूर्व की ओर था, जबकि सरस्वती का पश्चिम की ओर बहने का उल्लेख आता है। कुरुक्षेत्र से राजस्थान की ओर बहती हुई यह नदी कच्छ के सागर में समा जाती थी। लेकिन आज सरस्वती वहां दिखने में नहीं आती।

प्राचीन राजनैतिक घटनाओं की गहराई में यदि हम जाते हैं तो वहां सरस्वती के लोप हो जाने की कहानी भी सामने आ जाती है। वह समय था जब आर्यों ने अपने निवास-स्थान हिमालय को 'स्वर्ग' की संज्ञा दी और उस स्वर्ग को सब तरह समृद्ध बनाने के प्रयासों में जुटे रहे। उनका यह स्वर्ग पांच जनपदों में बंटा था। इसलिए यह पंचजन-स्वर्ग नाम से जाना जाता था। जिसके अन्तर्गत देव, नाग, यज्ञ, गन्धर्व और किन्नरों के प्रदेश आते हैं। इस पंचजन स्वर्ग और उसके महान् आदर्शों की कहानियां वेद-पुराणों से लेकर महाभारत तक स्पष्ट हैं। महाभारत काल तक इस पंचजन-स्वर्ग की एकता अखंडता अक्षुण्ण बनी रहती है। किंतु बाद में गांधार प्रदेश स्वर्ग के विरुद्ध अभियान शुरू कर देता है। इस समय जन्मेजय (प्रथम) का पुत्र सम्राट भारत आर्यवर्त का शासक हुआ। इन्हीं के नाम से बाद में इस देश का नाम भारतवर्ष विख्यात होता है। आगे इस वंश परम्परा में भारत के भुमन्यु हुए। भुमन्यु के सुहोत्र, सुहोत्र के अजमीढ़, अजमीढ़ के जन्हु, जन्हु के कुशिक, उनके ऋक्ष, ऋक्ष के संवरण, उनके

कुरु, कुरु के जन्मेजय (द्वितीय) और जन्मेजय के धृतराष्ट्र और पाण्डु होते हैं।

अजमीढ़ के समय में पश्चिमी भारत में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। वहां असुर (अनार्यों) की शक्ति प्रबल थी। स्वर्ग के इस गांधार जनपद ने असुरलोक, भद्र और बल्हीक की विरोधी शक्तियों को संगठित कर स्वर्ग के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। महाभारत के उल्लेखों से पता चलता है कि आक्रांताओं ने तब तक राजस्थान प्रदेश पर अधिकार जमा लिया था और सरस्वती तब इसी भूमि को हरा-भरा किए हुए थी।

अजमीढ़ के पुत्र सम्राट जन्हु उस वंश-क्रम में सबसे अधिक पराक्रमी राजा हुए। इस समय उनका साम्राज्य उत्तर में वहां तक फैला था, जहां गंगा, जमुना और सरस्वती का निकास है। जन्हु ने देखा कि सरस्वती उनके शत्रुओं के लिए समृद्धि का कारण बनी है। शत्रु को यह सुविधा देना उनके लिए असहह्य हो गया। इसलिए उन्होंने हिमालय में ही सरस्वती के मूल-स्रोत को काटकर उसे गंगा की धारा में प्रवाहित कर दिया।

तत्कालीन भारत के स्थापत्य विशेषक्षों ने इस चतुराई से काम किया कि सरस्वती नदी ही समाप्त हो गई और राजस्थान का वह प्रदेश रेगिस्तान में बदल गया। शत्रु भूख-प्यास से पीड़ित हो भाग खड़े हुए और भारत-भूमि आक्रान्ताओं से मुक्त हुई।

अब गंगा केवल एक नदी नहीं थी, उसमें सरस्वती का भी समावेश हो गया और प्रयागराज में जहां केवल गंगा, जमुना का ही संगम था, वहां सरस्वती भी मिल गई। इस प्रकार प्रयागराज त्रिवेणी का स्वरूप भी सामने आ जाता है। जन्हु ने जिस गंगा को अपने शासनकाल में प्रतिष्ठित और संबर्धित किया, राष्ट्र ने उसे जन्हु की बेटी 'जान्हवी' कहकर अभिनन्दित किया। गंगा जान्हवी भी हो गई।

महाभारत युद्ध की समाप्ति पर सम्राट युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ किया। उस समय पांडवों द्वारा की जानेवाली दिग्विजय में इस प्रदेश के विद्रोहियों के समूल नाश करने का उल्लेख भी महाभारत में आता है। इस प्रकार महाभारत के बाद ही यहां रेगिस्तान का आविर्भाव होता है और महाभारत के बाद फिर सरस्वती-तट के तीर्थों का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता।

□

# रचना धर्मिता के विविध सोपान

ज्ञानेन्द्र पाण्डेय

हिंदी में पुस्तकों का प्रकाशन विश्व की किसी भी अन्य भाषा से कम नहीं होता। संख्या की दृष्टि से तुलना करें तो प्रतिवर्ष हिंदी में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहलाने वाली अंग्रेजी के बराबर ही होगी। फर्क सिर्फ इतना है कि हिंदी भाषियों की जेब के हल्केपन के कारण हिंदी पुस्तकों को पर्याप्त संख्या में पाठक नहीं मिल पाते। यही वजह है कि हिंदी प्रकाशन व्यवसाय सदैव ही आर्थिक संत्रास का शिकार रहा है।

कमोबेश यही स्थिति हिंदी पत्रिकाओं की भी है। असलियत यह है कि भारत के कथित राष्ट्रीय समाचार-पत्र समूह हिंदी प्रकाशनों के प्रति उपेक्षा का भाव अपना कर अपने संस्थानों से प्रकाशित होने वाली हिंदी पत्रिकाओं को अधर में बंद होने के लिए विवश कर देते हैं। ये संस्थान अपने विज्ञापन और प्रसार विभागों से यह उम्मीद रखते हैं कि मार्केटिंग अंग्रेजी प्रकाशनों की ही हो। वैसे भी इन समूहों के विज्ञापन और प्रसार विभागों की मानसिकता भी अंग्रेजी को प्रोत्साहन देने की ही होती है। इस सबका असर इस रूप में देखने को मिला है कि आज एकाध अपवाद के अलावा हिंदी की एक जमाने की सभी श्रेष्ठ पत्रिकाएं दम तोड़ चुकी हैं।

इसी संदर्भ में लघु पत्रिकाओं का उल्लेख करें तो स्पष्ट हो जाता कि विज्ञापन दाताओं की बेरुखी के चलते अधिकांश लघुपत्रिकाएं 10-15 अंकों के प्रकाशन से आगे नहीं बढ़ पाती। यह हर्ष का विषय है कि इस तनाव के बावजूद देश के विभिन्न इलाकों से कुछ ऐसी प्रतिनिधि लघुपत्रिकाओं का नियमित प्रकाशन जारी है। इसके लिए निश्चित ही इन पत्रिकाओं के अवैतनिक संपादक-प्रकाशक और निःशुल्क श्रमदान करने वाले लेखक, कवि, कहानीकार और विश्लेषक बधाई के पात्र हैं। प्रसंगवश यह कहना भी जरूरी हो जाता है कि ऐसे गैर सरकारी प्रकाशनों के साथ

ही केन्द्र और राज्य सरकारों की अनेक एजेंसियां भी आम पाठक तक सीधा संवाद करने की कोशिश में लगी हुई हैं। ऐसी श्रेष्ठ पत्रिकाओं (सरकारी-गैर सरकारी दोनों) की सूची काफी लंबी है। यहां एक-दो का उल्लेख कर अन्य पत्रिकाओं की भावना को ठेस पहुंचाने का मकसद भी हमारा नहीं है।

हिंदी में प्रकाशित पुस्तकों और पत्रिकाओं के संदर्भ में उक्त टिप्पणी करने का हमारा प्रयोजन यही है कि भारत सरकार के सौजन्य से प्रकाशित हिंदी त्रैमासिक गगनाञ्चल में समीक्षा के लिए हर अंक में भारी संख्या में पुस्तकें और पत्रिकाएं हमें मिलती रहती हैं। चाहते हुए भी समयाभाव और स्थानाभाव के कारण सभी पुस्तकों और पत्रिकाओं की समीक्षा कर पाना संभव नहीं होता। फिर भी गगनाञ्चल के सभी अंकों में ज्यादा से ज्यादा पुस्तकों-पत्रिकाओं की समीक्षा प्रकाशित करने की कोशिश अवश्य की जाती है।

इस अंक में भी आधा दर्जन से अधिक समीक्षाओं को समाहित करने के बावजूद लगभग इतनी ही पुस्तकों, पत्रिकाओं की समीक्षा को अपरिहार्य कारणवश स्थान नहीं मिल पाया। अस्तु ऐसी कृतियों की संक्षिप्त और परिचयात्मक समीक्षा की गई है।

## स्वर्णिम भारत

दिल्ली के विक्रम प्रकाशन द्वारा प्रकाशित स्वर्णिम भारत राजशेखर व्यास की यह पुस्तक उनके अतीत में यत्र-तत्र प्रकाशित लेखों का एक संग्रह है। तीस से अधिक लेखों वाले इस संकलन में भारत वर्ष के स्वर्णिम अतीत, भारत की गौरवशाली परम्परा, हमारी संस्कृति, वेद और ज्योतिष ज्ञान की वैज्ञानिकता के विविध पहलुओं को समाहित किया गया है।

'हमारा राष्ट्र चिह्न अशोक ही क्यों?', 'सारे जहां से अच्छा राष्ट्रगान हमारा,' हमारा राष्ट्रकवि; कालजयी कालिदास, 'हमारा संवत; विक्रमी संवत', 'हमारा भारतीय ज्योतिष विज्ञान', 'हमारी राष्ट्रभाषा हिंदी हत्या और हम', 'हमारा भारतीय रत्न विज्ञान', बर्नियर के समय का भारत, 'जहांगीर के समय भारतीय ज्योतिष', 'तब हमारे गांव भी स्वाधीन थे', 'संसार को सबसे पहले विज्ञापन दिया भारत ने', भारत से चीन तक फैला है ज्ञान, 'भारत में महाभारत', 'भगत सिंह के सपनों का भारत', 'भारत का एक अधूरा सपना सुभाष' 'भारतीय राजनीति; नेहरू की नजर में' और 'दूर नहीं है भारत का अभ्युदय' सरीखे प्रमुख लेखों का संकलन स्वर्णिम भारत में किया गया है।

लेखक का मानना है कि भारत एक विलक्षण शब्द है। 'भा' अर्थात् प्रकाश और 'रत' माने संलग्न। मतलब यह कि जो प्रकाश की दिशा में संलग्न है वह भारत है। भारत शब्द की इस व्याख्या का एक सीधा सा अर्थ यह है कि भारत सत्य को पा

लेने का दूसरा नाम है इसलिए भारत का भाग्य किसी देश विशेष का भाग्य नहीं बल्कि संपूर्ण मनुष्यता के भाग्य का पर्याय बन गया है। अब अगर भारत ही अंधकार का शिकार हो जाए तो भला मनुष्य का भाग्य क्या होगा।

इसी पृष्ठभूमि में लेखक ने पुस्तक की भूमिका में एक स्थान पर यह भी कहा है कि भारत में पैदा हो जाने भर से ही कोई भारतीय नहीं हो सकता। अपने अंदर के प्रकाश को खोजने का नाम भारत है। इसीलिए यदि कोई व्यक्ति भारत में पैदा होने के बावजूद धन वैभव, भौतिक सुख सम्पन्नता को खोजता है तो वह भारतीय नहीं पाश्चात्य होगा। इसके ठीक विपरीत पश्चिम में जन्मा कोई व्यक्ति अपने अंदर के दिव्य प्रकाश को खोज ले तो वह भारतीय है। इस लिहाज से अरस्तू, प्लेटो, सुकरात, गेटे, जीसस, लाओत्सु, कंफ्यूशियस आदि तमाम विदेशी विद्वानों को लेखक ने अपनी नजर में भारतीय माना है।

भारत और भारतीयता की इसी नवदार्शनिक विचारधारा को केन्द्र में रख कर राजशेखर व्यास ने भारतीय दर्शन और चिंतन परम्परा, यहां की संस्कृति, कला, ज्योतिष, इतिहास, पुरात्व, राजनीति ज्ञान और विज्ञान से संबंधित बहुआयामी लेखों के माध्यम से चिंतन का एक नया पट खोला है। लेखक की चिंता अपने देश की सभ्यता और संस्कृति को सुरक्षित और संरक्षित रखने के साथ ही इसके स्वाभिमान और स्वभाव को अक्षुण्ण रखने की भी दिखाई देती है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के संदर्भ में लेखक की इस ईमानदारी की प्रशंसा की जानी चाहिए कि पुस्तक की भूमिका में ही उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि स्वर्णिम भारत में संकलित उनके ज्यादातर लेख विभिन्न शीर्षकों वाली पुस्तकों के साथ ही संडेमेल, नवभारत टाइम्स, नई दुनिया, हिंदुस्तान, कादम्बिनी, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, नवनीत, भास्कर, युगवार्ता और जनसत्ता सरीखे समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। पर लेखक ने भारत की अनेकता को एकता के सूत्र में पिरोने की एक कोशिश के तहत यत्र तत्र सर्वत्र बिखरे इन लेखों को स्वर्णिम भारत के माध्यम से एक स्थान पर उपलब्ध कराने का यत्न किया है।

भारत के विकास की चिंता करते हुए लेखक की यह टिप्पणी उचित जान पड़ती है कि भारत को थोड़ा और युवा और जवान होना होगा। जहां भारत के लिए पश्चिम से थोड़ी उर्जा, थोड़ी सी वैज्ञानिक सोच और थोड़ी सी दृष्टि लेने की जरूरत है वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य देशों को भारत से बुढ़ापा, थोड़ा सा अनुभव और परिपक्वता लेनी होगी तभी सही अर्थों में 'भा'-'रत' यानी प्रकाश की ओर संलग्न मनुष्यता का भाग्योदय होगा।

□

**स्वर्णिम भारत/लेखक राजशेखर व्यास/प्रकाशक: विक्रम प्रकाशन, कृष्णनगर दिल्ली, मूल्य 200/-**

## रामकथा की विदेश यात्रा

साढ़े तीन सौ पृष्ठों की इस पुस्तक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि दशरथ नंदन मर्यादा पुरुषोत्तम भगनाव राम केवल हम भारतीयों के ही आराध्य नहीं हैं बल्कि राम तो भारत के अलावा इन्डोनेशिया (हिंद ऐशिया), कम्बोडिया, लाइलैंड, म्यामां (बर्मा), फिलीपींस, तिब्बत, मंगोलिया, जापान और श्रीलंका के साथ ही नेपाल समेत विश्व के अनेक देशों में भी किसी न किसी रूप में पूजे जाते हैं।

रामकथा की विदेश यात्रा का यह वृतांत न केवल राम के सार्वभौमिक अस्तित्व का अहसास कराता है वरन यह एक सूचनाप्रधान आख्यान भी है जिससे यह जानकारी मिलती है कि राम के कथानक को विभिन्न देशों में वहां के इतिहास और संस्कृति के साथ तदात्मय स्थापित कर किन रूपों में मंचित किया जाता है। इस दृष्टि से यह पुस्तक विशेष तौर पर उपयोगी और ज्ञानवर्धक मालूम पड़ती है।

रामकथा की व्यापकता के संदर्भ में स्वयं लेखक का यह मानना है कि रामायण महाकाव्य के रचयिता आदि कवि महर्षि बाल्मीकी जिन्होंने राम के चरित्र की कल्पना की थी, अपनी कार्य साधना कैं बल पर महानता के उस शीर्ष शिखर पर पहुंच गए थे कि उनकी कृति रामायण देश-विदेश की अनेक भाषाओं के साहित्य की विभिन्न विधाओं में विरचित तीन सौ से अधिक मौलिक कृतियों में एक विशिष्ट स्थान रखती है।

*'रामकथा की विदेश यात्रा'* भारत के श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्यों को विशिष्ट शैली में उजागर करने वाली एक अनूठी कृति है। यात्रा कथा और कथा यात्रा दो उपखण्डों में विभाजित इस पुस्तक के प्रथम खंड में रामकथा से सम्बद्ध विदेशी घटना स्थलों, शिला लेखों, शिलाचित्रों, भित्तिचित्रों और रामलीला का चित्रण किया गया है। पुस्तक के दूसरे खण्ड में इंडोनेशिया, कम्बोडिया, थाइलैंड, लाओस, म्यामां (बर्मा), मलेशिया, फिलीपींस, तिब्बत, चीन, खोतान (पूर्वी तुर्किस्तान), मंगोलिया, जापान, श्रीलंका और नेपाल के रामकथा साहित्य के साथ प्रत्येक देश की अग्रणी रचना की कथा वस्तु प्रस्तुत की गई है। इससे यह पुस्तक हिंदी भाषा का एक मूल्यवान ग्रंथ बनने की श्रेणी में आ गई है।

***रामकथा की विदेश यात्रा*/देवेन्द्र नाथ ठाकुर/प्रकाशक, जगन्नाथ प्रकाशन, पटना/ मूल्य-300/-**

☐

## धर्म कलम का (काव्य संग्रह)

समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, कुरीतियों, विसंगतियों, कुविचारों और भेदभाव को लक्ष्य करती इस काव्य संग्रह की अधिकांश रचनाएं देश काल और समाज की बदलती समाजार्थिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय चिंताओं को केन्द्र में रखकर रची गई लगती हैं। इन रचनाओं में श्रृंगार, वीर, करुण, शांत और रौद्र रस रूपों की अभिव्यक्ति ने कवि के गहरे सामाजिक जुड़ाव का परिचय दिया है। कमोबेश सभी कविताओं में मातृ-भूमि के प्रति समर्पण, त्याग और बलिदान की भावना प्रस्फुटित हुई है। जिससे यह का संग्रह मानव मूल्यों की स्थापना हेतु समर्पित, कर्तव्यहीनता विरोधी, धर्म के सच्चे स्वरूप की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध और परस्पर प्रेम की प्रतिष्ठा हेतु प्रतिबद्ध काव्यधारा का परिचायक बन गया है। इस काव्य संग्रह की कविताओं में 'मांग रही है कुरबानी', 'नाम रहेगा अमर' 'देशप्रेम' 'आजाद चंद्रशेखर' 'श्रद्धांजलि' तथा 'आजादी की अमिट कथा' ऐसी कविताएं हैं जो राष्ट्रीय विचारधारा की पोषक हैं।

□

***धर्म कलम का (काव्य संग्रह)*/रचयिता सत्यकाम शिरीष/प्रकाशक: प्रतिमा प्रकाशन, कानपुर/मूल्य 100/-**

## द्रोणगिरी, इतिहास और संस्कृति

दिल्ली विश्वविद्यालय से संबंद्ध रामजस कालेज के संस्कृत विभाग के रीडर पद पर कार्यरत डॉ. मोहन चन्द्र तिवारी ने अपनी पुस्तक द्रोणगिरी; इतिहास और संस्कृति के माध्यम से इस मान्यता को पुनर्स्थापित किया है कि उत्तरांचल राज्य के कुमाउं संभाग के अल्मोड़ा ज़िले के अन्तर्गत रानीखेत और कर्णप्रयाग के मध्य में अवस्थित द्रोणगिरी पर्वत का पौराणिक और आध्यात्मिक महत्व है। विद्वान लेखक के अनुसार यह पर्वत पौराणिक दृष्टि वाले उन सात प्रमुख कुल पर्वतों में एक है जिनके साथ भारतीय संस्कृति और इतिहास के अनेक आख्यान जुड़े हुए हैं।

पौराणिक मान्यता के अनुसार स्कंधपुराण में वर्णित उत्तराखण्ड के मानस खण्ड (कुमाउं) में अवस्थित यह पर्वत श्रंखला वही है जिससे त्रेता युग में दिव्य औषधि लाकर लक्ष्मण की मूर्छा ठीक की गई थी। राम भक्त हनुमान ने इसी पर्वत से संजीवनी बूटी लाकर लक्ष्मण को रोग मुक्त किया था। न केवल रामायण कालीन बल्कि महाभारत कालीन भारत में भी इस पर्वत का महत्व बना रहा था। इसी दृष्टि के आधार

पर पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य द्वारा इस पर्वत पर तपस्या करने तथा इसी आधार पर इसका नाम द्रोणगिरी होने का उल्लेख भी मिलता है। यही द्रोणगिरी कालान्तर में दूनागिरी हो गया था।

प्रस्तुत पुस्तक में द्रोणगिरी शक्तिपीठ के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उत्तराखण्ड के ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक परिदृश्य पर भी चिन्तन किया गया है।

□

***द्रोणगिरी; इतिहास और संस्कृति*/डॉ. मोहन चंद्र तिवारी/प्रकाशक: उत्तरायण प्रकाशन, दिल्ली/मूल्य 100/-**

## शंकर दयाल शर्मा: ए सागा ऑफ प्रॉमिस

भारत के पूर्व राष्ट्रपति स्व. (डॉ.) शंकर दयाल शर्मा एक कुशल राजनेता, राजनीतिक प्रशासक ही नहीं थे बल्कि एक विद्वान और अध्ययनशील व्यक्ति भी थे। उनके जीवन और कार्य शैली को लेकर कई पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। पर पिछले दिनों दिल्ली की मुख्यमंत्री ने 'यूनाइटेड चिलड्रन्स मूवमेंट' नामक एक स्वयंसेवी संस्था के समारोह में दर्शन सिंह द्वारा लिखित एक पुस्तक का विमोचन किया। डॉ. शंकर शर्मा पर लिखी गई उक्त पुस्तक अन्य पुस्तकों से इसलिए अलग दिखाई देती है क्योंकि इसमें पूर्व राष्ट्रपति द्वारा लिए गए उन निर्णयों को केन्द्र में रखा गया है जिन निर्णयों ने भारतीय संविधान की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भारतीय लोकतंत्र की अस्मिता का संरक्षण भी किया था।

लेखक स्वयं भी सुप्रीम कोर्ट के वरिष्ठ अधिवक्ता हैं और कानूनी मुद्दों पर समाचार पत्रों में स्तंभ लेखन के साथ ही 'यूनाइटेड चिलड्रन्स मूवमेंट' के महासचिव भी हैं। इस संस्था की ओर से हर वर्ष राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए प्रयासरत हस्तियों को सम्मानित किया जाता है। इस वर्ष 3 जुलाई को जिस कार्यक्रम में इस पुस्तक का विमोचन किया गया तब कला संस्कृति, विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा विधि और अन्य श्रेत्रों में कार्यरत डेढ़ दर्जन हस्तियों का सम्मान भी किया गया था।

□

***शंकर दयाल शर्मा: ए सागा ऑफ प्रॉमिस*/दर्शन सिंह/प्रकाशक: यूनाईटेड चिलड्रन्स मूवमेंट/मूल्य 500/-**

## पत्रिकाएं; उलूपी, हरिगंधा और अर्थात

पूर्वोत्तर के अहिन्दी भाषी समझे जाने वाले प्रमुख राज्य असम की राजधानी से प्रकाशित त्रैमासिक हिंदी पत्रिका 'उलूपी' अपने घोषित उद्देश्य के अनुरूप वास्तव में भाषायी समन्वय का एक जीवंत उद्हारण है। हिंदी की मौलिक कृतियों के साथ ही असमी कहानी, कविता और साहित्य की अन्य विधाओं का हिंदी अनुवाद उपलब्ध करा कर उलूपी ने निश्चित ही भारतीय भाषाओं की अंतरंगता को मजबूत किया है। 15 रुपये मूल्य की यह पत्रिका इसके संपादक रविशंकर रवि अथवा प्रकाशक कंचन से उनके *'बाई लेन-1, राजगढ़ रोड गुवाहटी-781003 के पते से प्राप्त की जा* सकती है।

हरियाणा साहित्य अकादमी की द्विमासिक पत्रिका *'हरिगंधा'* इस दृष्टि से बेहतर कही जा सकती है कि राजनीति के स्थान पर इसके संपादक मंडल ने साहित्य चिंतन को ही मुख्य आधार बनाया है। इसे भारतीय संस्कृति और साहित्य की संवाहक पत्रिका कहा जा सकता है क्योंकि इसमें प्रकाशित अधिकांश सामग्री भारतीय संस्कृति की मनमोहक गंध में रची बसी लगती है। इसके संपादक डॉ. चन्द्र त्रिखा है। हरियाणा साहित्य अकादमी एस.सी.ओ. नंबर 9 सेक्टर 5 पंचकूला हरियाणा से संपर्क कर पत्रिका मंगवाई जा सकती है।

अर्थात (साहित्य संस्कृति का त्रैमासिक) यह पत्रिका फैजाबाद ((उत्तर प्रदेश) के आध्यात्मिक शक्ति पीठ संगठन की ओर से प्रकाशित की जाती है। लेकिन पत्रिका का कलेवर विशुद्ध आध्यात्मिक न होकर समसामयिक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विचार भूमि पर आधारित है। यह पत्रिका पाने के लिए इसके संपादक मनोज कांत से 42 नियावां रोड फैजाबाद उत्तर प्रदेश 224001 पर संपर्क कर सकते हैं।

□

## यू. एस. एम. पत्रिका इंडोनेशिया विशेषांक

इंडोनेशिया का अर्थ है भारतीय द्वीपों का समूह। इंडोनेशिया और भारत सभी तरह से समान हैं। हिंदी की यू. एस. एम. पत्रिका ने दोनों देशों को सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से और निकट लाने का कार्य किया है।

इस विशेषांक के विमोचन के संदर्भ में आयोजित दूसरे राष्ट्रभाषा विकास सम्मेलन में मुख्य अतिथि इंडोनेशिया के राजदूत महामहिम श्री जकारिया सुमिन्ताआत्मजा ने कहा कि 'हमारी आजादी की लड़ाई में भारत का बहुत सहयोग रहा। हर क्षेत्र में हमारे पारस्परिक संबध अच्छे हैं, पर्यटन और शिक्षा के क्षेत्र में भी हम निरंतर संबंधों को प्रगाढ़ता प्रदान कर रहे हैं। इन संबंधों की और अधिक सुदृढ़ बनायेगा 'यू.एस.एम.

पत्रिका' का यह 'इंडोनेशिया विशेषांक'।

इस विशेषांक में समाहित सामग्री से हमें पूर्वी द्वीपों की यात्रा करने की प्रेरणा मिलती है। 'इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति विद्यमान है। घर-घर में मंदिर हैं, आस्थाओं के द्वीप हैं। इंडोनेशिया सुंदर द्वीपों का देश है जहां भारतीय संस्कृति जीवंत है तथा धार्मिक एकरुपता विद्यमान है।

यू. एस. एम. पत्रिका के इंडोनेशिया विशेषांक के संबंध में वरिष्ठ साहित्यकार पद्मश्री डॉ. श्याम सिंह शशि की उक्त टिप्पणी काफी महत्वपूर्ण है। गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) से उमाशंकर मिश्र के संपादन में प्रकाशित इस विशेषांक से दोनों देशों की सांस्कृतिक एकता और सुदृढ़ होगी। संपर्क ए-32 अशोक नगर गाजियाबाद-201001 सहयोग राशि एक प्रति; 20/-

□

## अंतर्वेदना (कविताएं)

"अंतर्वेदना" नवोदित लेखिका कु. ऊषा वर्मा का प्रथम काव्य संग्रह है। ऊषा की कविताओं के संदर्भ में वरिष्ठ लेखक और व्यंग्यकार श्री रामसहाय वर्मा ने टिप्पणी करते हुए कहा कि 'अंतर्वेदना' हृदय में कसकने वाली पीड़ा है। उन्होंने इस अनुभूति को सामान्य व्यक्ति के हृदय में सुस्थापित करने के कवियित्री के प्रयास की सराहना की है। प्रकृति की सत्ता में अटूट आस्था और आधुनिक विसंगतिपूर्ण परिवेश में फैले छद्म अप्राकृतिक व्यवहार पर कटाक्ष कर लिखी गईं ये कविताएं नैतिक मूल्यों की घनत्वपूर्ण कामना करतीं हैं। इन कविताओं की संवेदनशीलता का एक युवा मन ने निष्पक्ष व पूर्ण ईमानदारी से निर्वाह किया है। सुश्री वर्मा ने अधिकांश कविताएं स्वांत सुखाय के लिए लिखीं हैं। इनकी कविताओं में इनके अपने जीवन की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है जैसे-

*मेरी कहानी अस्तित्व संघर्ष की कहानी है।*
*अस्तित्व, जो पैदा होने से लेकर,*
*मृत्युपर्यन्त रहता है, फिर भी,*
*स्वयं को स्थापित करने का क्या तात्पर्य है?*

कवियित्री के युवा मन पर अंतर्वेदना छाई हुई है जो उनकी अधिकांश कविताओं का स्थायी भाव है। बहुत बार रचनाकार को निजी रूप से जानना उसकी रचनाओं को सीमा में बांध देता है परंतु उसके विचारों को नए रूप से देखने की दृष्टि भी देता है। चूंकि आप उसे जानते हैं इसलिए उसकी रचनाओं में उसको ढूंढ लेते हैं।

कवियित्री ने समाज के रूप का भली-भांति अध्ययन किया है और भौतिकतावाद के कारण मानवीय मूल्यों में तेजी से आ रही गिरावट से वह बेचैन है जिसकी स्पष्ट

झलक इन पंक्तियों में मिलती है—

*आदर्शों, सात्विकता और नैतिक मूल्यों की लाश को,*
*विदेशी संस्कृति आज नोंच-नोंच कर खा रही है,*

कवयित्री ने पोखरण में किए गए परमाणु बम-विस्फोट की घटना को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। तथा कारगिल और द्रास आदि सीमावर्ती क्षेत्रों में शहीद हुए भारतीय सैनिकों के प्रति अपनी भी श्रद्धांजली अर्पित की है।

---

**अन्तर्वेदना (कविता संग्रह)/कु. उषा वर्मा/प्रकाशकः समकालीन प्रकाशन, राजगुरु मार्ग नई दिल्ली/मूल्य-40/-**

---

□

# राग-विराग; चित्रलेखा पर प्रथम आपेरा

डॉ. राम प्रसाद मिश्र

'राग-विराग' में जाने-माने गीतकार श्री बालस्वरूप 'राही' ने, स्व. भगवतीचरण वर्मा द्वारा अनातोले फ्रांस कृत अमर उपन्यास 'थाया' (थायस्) पर आधृत प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' को संगीतनृत्यनाटिका के रूप में, सफलता पूर्वक ही नहीं प्रत्युत प्रशस्यत: प्रस्तुत किया है। 'थाया' का अंग्रेज़ी (मूल फ्रेंच नहीं) से एक बेहद उखड़ा और फ़ालतू-सा अनुवाद 'अहंकार' प्रेमचंद ने किया था। संभवत: मसिजीवी होने के कारण, प्रेमचंद ने यह अनुवाद अर्थाग्रहवश किया था। इसकी विफलता से वे अवगत थे, क्योंकि महान् कथाकार थे; भूमिका प्रमाण है वर्मा जी ने 'थाया' को चित्रलेखा के रूप में ऐसा प्रस्तुत किया, खपाया, कि छाया काया बन गई!! प्रेमचंद से अज्ञेय तक ने पाश्चात्य आधारों का प्रणम्य भारतीयकरण भी किया है, भारतीकरण भी। वर्मा जी ने मौर्यकाल का आवरण डाला, किंतु उपन्यास ऐतिहासिक नहीं है अपितु 'पाप-पुण्य' की चिरंतन समस्या को उभारता है तथा अंत में प्रश्न, प्रश्न ही बना रहता है। योग के साथ न्याय न कर पाने तथा लाभ का अस्वाभाविक उदात्तीकरण करने के कारण 'चित्रलेखा' गहन कृति तो नहीं बन सकी, किंतु उत्कृष्ट कलाकृति अवश्य है। 'राही' जी की मज़बूत अदबी पकड़ न इस कृति का चयन ठीक ही किया है।

'राग-विराग' शीर्षक चित्रलेखा-बीजगुप्त के प्रवृत्तिप्रधान एवं योगी कुमारगिरि के निवृत्ति प्रधान चित्रण के कारण 'चित्रलेखा' शीर्षक से भी अधिक सार्थक है। स्व. डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला-संबंधी संकलन का शीर्षक 'राग-विराग' रखा था जो कवि के जीवन से सर्जन तक को देखते अच्छा भी है, किंतु 'चित्रलेखा' के संदर्भ में यह शीर्षक कहीं-अधिक संप्रेषणसंपन्न या सटीक है।

भारत में, भरतनाट्यम इत्यादि के नितांत हावभाव-संप्रेषक होने के कारण, संगीतनृत्यनाटिका या आपेरा की आवश्यकता अनुभूत न हो सकी थी। पश्चिम में

नृत्य के अनुरंजनकारी मात्र होने के कारण 'आपेरा' बहुत समृद्ध हुआ। हिंदी में गीतिनाट्य से काव्यनाटक तक तो रचे गए, किंतु व्यवस्थित संगीतनृत्यनाटिका के

## राही के नाम कमलेश्वर का पैगाम

**राही डियर,**

**मैं तुम्हारा और तुम्हारी कविताओं-ग़ज़लों का, और साथ ही अन्य रचनाओं का अनकहा शैदाई रहा हूं। कभी यह ज़रूरत ही महसूस नहीं की कि जो अच्छा लिखे, उसे कोई ढोल बजाकर अच्छा कहे, क्योंकि रचना की आत्मा को तो पाठक-श्रोता पहचानता है...तुम्हारे पास उस अजस्र सहभागिता और अपनत्व का स्रोत है।**

**पर दोस्त, हिंदी साहित्य पिछले दशकों से 'वर्णवाद' का शिकार है। वह अपनी विपुलता को पहचान और समेट नहीं पा रहा है। वह अपना ही नुकसान कर रहा है...**

**ऐसे में 'रागविराग' जैसी मौलिक कृति के सम्पर्क में आ सकना एक अद्वितीय अनुभव है।**

**हिंदी का पहला आपेरा!**

**जिस दार्शनिकता को तुमने सहज भाषा में रखने का साहस किया है, वह भाषाई सहजता हमारी विरासत है। वह विरासत इस आपेरा में सुरक्षित है। मैं तो चमत्कृत हूं तुम्हारी उस सहज-सरल शब्द सम्पदा से, जो चित्रलेखा को ही नहीं, इस देश की कर्मवादी दार्शनिकता को भी इतने सरल शब्दों में रखती हैं। उसे आधुनिक बनाती है!**

**भूल रहे श्वेतांक यहीं तुम**<br>
**सुख है तृप्ति—**<br>
**शांति है केवल कर्महीनता**<br>
**पर जीवन है प्यास अनश्वर,**<br>
**पर जीवन है कर्म निरंतर!**<br>
**(मदिरा पात्र उसकी ओर बढ़ाती है)**<br>
**लो यह पीकर प्यास जगाओ!**<br>
**जड़ता त्याग कर्म अपनाओ!**

**इसमें-'लो यह पीकर प्यास जगाओ!' में 'जगाओ' शब्द का प्रयोग तुम्हारी कवि चेतना ही कर सकती थी... मैं इसे नमन करता हूं क्योंकि तुमने जीवन की उत्कट प्यास और मृत्यु के बावजूद जिस दार्शनिक तथ्य और तत्व को चित्रलेखा के कथन के रूप में रखा है-वही जीवन की निरंतरता का मूल मंत्र है।**

**-लो यह पीकर प्यास जगाओ!**

**हिंदी साहित्य को यह तुम्हारा अप्रतिम अवदान-योगदान है। तुमने भगवती बाबू की क्लासिक रचना को आधुनिक भंगिमा और संवेगों के साथ पुनर्जिवित ही नहीं किया है, एक मौलिक सृजन किया है!**

**तुम्हें सलाम!** **सस्नेह**<br>
**कमलेश्वर**

**पुनश्च:**

**यह पत्र कागज़ों में रखा रह गया-शायद उसी रौ में मैं कुछ और लिखना चाहता था। लैटरहेड भी बदल गया।**

**इस आपेरा की प्रासंगिकता असंदिग्ध है, क्योंकि इसमें राग विराग के शाश्वत प्रश्न हैं।**

**अंत में कारंत की कामना को रेखांकित करता हूं-जो बिखरा हुआ सृजन है, उसे समेटो। उसमें पुष्पाजी (नाम ठीक याद है न? दशकों बाद) को लगाओ। उनकी मदद लो। किसी भी सृजन को महिलाएं ज्यादा बेहतर तरीके से समायोजित संयोजित कर सकती हैं।**

दर्शन नहीं हुए। अत: 'राग-विराग' (1972 ई.) को 'हिंदी का सर्वप्रथम आपेरा कहा जाना युक्तियुक्त है।

'राग-विराग' की भूमिका में प्रख्यात रंगकर्मी तथा आपेरा विशेषत्र श्री ब.व. कारंत ने कहा है। "...इन पक्तियों को लिखते समय सबसे पहले श्री बालस्वरूप राही जी का नाम मेरे मन में एक आदर-भाव के साथ, स्फुरित होता है। सचमुच, मैं राही जी का बड़ा आभार मानता हूं कि उन्होंने स्वयं कवि और सफल गीतकार होने के नाते 'चित्रलेखा' को ओपेरा के रूप में रूपांतरित, कर एक सुदूर संभावना को सद्यः संपन्न बनाया। इसीको 'घटना' मानता हूं। यह 'आपेरा' शब्द बाहरी हो कर भी भावना में अपना ही अंतरंग हो गया।'

'राग-विराग' की सफलता उपन्यास 'चित्रलेखा' की जीवंतता, 'राही'जी की सक्षम, काव्य प्रतिभा, ब. द. कारंत की विद्वत्तापूर्ण अधिकार संपन्न भूमिका समर्थ संगीतज्ञ शन्नो खुराना की प्रेरणा एवं सहयोग, प्रतिक्रियाओं, समीक्षाओं इत्यादि से प्रमाणित है। राग-विराग में राम पहले, प्रवृत्ति निवृत्ति में प्रवृत्ति पहले, वेद निर्वेद में वेद पहले, भ्रमर गीत परंपरा में गोपी या प्रेम पहले; सनातन भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में प्रवृत्ति को निर्णायक वरीयता प्राप्त है; यही वैज्ञानिक भी है, यही मनोवैज्ञानिक भी है। अतः 'राही' जी साधुवाद के अधिकारी हैं।

कारंत जी ने एक समालोचक के रूप में नहीं एक निर्देशक के रूप में राही जी के आपेरा लेखन की सटीकता के संदर्भ में नाट्य कौशल के दो उदाहरण दिए हैं-

*एक पहेली बता सहेली।*
*बूझ सहेली।*
*दीपशिखा सी जो रहती है चंचल और अधीर,*
*आज टिकाए गाल हाथ पर बैठी क्यों गंभीर?*
*भूल गई कैसे अठखेली?*
*एक पहेली बता सहेली।*

दूसरा उदाहरण उन्होंने यशोधरा के आत्मसंवाद का दिया है।

*जो गीत रहे अनगाए,*
*वे आज अधर पर आए।*
*रोम-रोम जैसे सरगम, आकर स्वयं समाई,*
*पूरा तन झंकृत हो जाता जब आती अंगड़ाई।*
*मैं ने जो भाव छिपाए,*
*वे और उभर कर आए।*

काव्य-मूल्यों की दृष्टि से, प्रेम के मोहक स्पर्श से पुलकित उद्‌गारों में 'राही' जी को निर्णायक सफलताएं प्राप्त हुई हैं, जिसका कारण प्रेम से सर्वोपरि प्रवृत्ति होने से स्फीत उत्तम काव्य परंपरा भी है। सजीव, अभिनेय अनमोल सर्जन के दो उद्धरण कारंत महोदय ने भूमिका में देकर पाठक-समूह या दर्शक समूह का उपकार ही किया है। निवृत्ति पक्ष में भी कबीर, नानक, गुरु अर्जुन, संपूर्णानंद (गगनगुफा) में मैंने भी

'ध्यान के गान' इत्यादि में ऐसा लिखा है कि 'राग-विराग' में विराग-पक्ष को सशक्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था; किंतु मूल कृति में राग के प्रति अत्यधिक पक्षपात के प्रभाववश, ऐसा नहीं हो सका। 'राही' जी का 'राग-विराग' मौलिक संस्पर्शों से निष्पन्न है, अत: 'राग' के प्रति वे भी पक्षपाती ही रह गए हैं। (संसार का प्रचंड बहुमत उनके साथ है: अनातोले फ्रांस, भगवती चरण वर्मा के साथ था)!

रंगकर्मी क्या, नाट्यकर्मी भी न होने के कारण मैं 'राग-विराग' की मंचीय सफलता का, अथवा मंचीय, आकलन नहीं कर सकता। किंतु, एक सामान्य दर्शक की कल्पना करते, प्रशस्य ही कह सकता हूं: एक अध्ययनशील पाठक के रूप में तो सफल ही कह सकता हूं। "आपेरा 'चित्रलेखा': कुछ प्रश्न" में उसका उत्तर भी मिलता है। हिंदी-क्षेत्र बेहद पिछड़ा है, हिंदी-साहित्य बेहद दलबद्ध या वादबद्ध या विवादबद्ध है, हिंदीभाषी जनता और हिंदी साहित्य को चलचित्र (छलचित्र) और मीडिया (मैडिआ) के पाटों से पीसा जा रहा है। (श्रेत्रीय भाषाएं व्यावसायिक दृष्टि से अतिलाभदायक न होने के कारण बची हैं और यह उनके हित में है)। ऐसे में, 'राग-विराग' के दस मंचन विस्मयकारी तो लगते ही हैं, मंचीय सफलता भी सिद्ध करते हैं।

भाषा की दृष्टि से 'राही' जी ने उर्दूबाजी का दामन नहीं थामा, यह हिंदीपन के लिए भी अच्छा है और 'चित्रलेखा' के संबद्ध काल की दृष्टि से भी समीचीन है। मौर्यकाल से वर्मा जी के स्वच्छंदतावादी युग (छायावाद युग तक के लिए 'स्वतंत्र' भारत की 'स्वतंत्रतम' (तम विशेष) भाषा का प्रयोग अनमिल हो जाता, इसमें कोई संदेह नहीं। 'समसाययिक' के नाम पर भाषा की रंगत बिगाड़ना अपरिहार्य नहीं।

'राग-विराग' की कविता में मौलिकता का अप्रतिवार्म स्पर्श मनोहारी है।

स्वयं वर्मा जी से कारंत तक ने 'राग-विराग' को पसंद किया। प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं गायिका इससे जुड़ीं। प्रबुद्ध दर्शकों ने इसे तन्मयतापूर्वक देखा। अच्छा होता, यदि 'राग-विराग' की एक परंपरा बनती! इससे संस्कृति एवं साहित्य की समृद्धि होती। किंतु, आह, राजनीतिक रुग्ण पिछड़ा हिंदीक्षेत्र!...अंततोगत्वा मैं 'राग-विराग' की प्रस्तुति हेतु 'राही' जी को नमन करता हूं।

लक्ष्य प्राप्त कर भी कहे जो राही वह धन्य-<br>*माता हिंदी के लिए अर्पित और अनन्य*

---

***राग विराग*/बाल स्वरूप राही/प्रकशक: मेघा बुक्स, एक्स-II नवीन शाहदरा दिल्ली-32/ मूल्य-100/-**

☐

# बांस के फूल; मनुष्यता को परिभाषित करने वाली कहानियां

जनार्दन मिश्र

तमिल भाषा का इतिहास 500 ई.पू. लिखे गए तमिल व्याकरण 'तोलकाप्पियम्' के काल से माना जा सकता है। संस्कृत, ग्रीक अथवा लैटिन भाषा के समान इसे प्राचीन वैभव की भाषा के साथ-साथ आधुनिक होने का गौरव भी प्राप्त है। तमिल का आदिकालीन साहित्य 'संघम् साहित्य' कहलाता है और उसका काल 500 ई. पू. और 200 ई.पू. के बीच है। कम्ब रामायण तमिल का अमर काव्य है। यद्यपि कम्बन ने वाल्मीकि के रामायण को अपना आधार ग्रंथ बनाया था।

तिरुवल्लुवर का तिरुक्कुरल तमिल का सबसे अधिक महान कलासिक ग्रंथ माना जाता है। जीवन के अनेक पक्षों पर यह गंभीर विचार प्रस्तुत करता है। 13वीं और 18वीं सदी के बीच मुसलमानों और ईसाइयों का प्रभाव तमिल साहित्य पर दिखाई देता है। पैगम्बर मुहम्मद के जीवन पर 500 छंदों की लम्बी कविता की रचना 'ऊमरू पुलवर' ने की है। तमिल भाषा में बीसवीं सदी में कविता, गद्य, नाटक, उपन्यास, जीवन-चरित्र, कहानी इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में रचना करने वाले अनेक प्रतिभावान व्यक्ति हुए। इस युग के इस भाषा का सबसे महान् कवि सुब्रह्मण्यम भारती को ही माना जाता है। जिनके राष्ट्रभक्ति गीतों ने अपने समय के हजारों युवकों को प्रेरणा दी।

स्वतंत्रता के बाद के दशकों में भी अनेक साहित्यकारों की उत्कृष्ट रचनाएं आयीं। इंडिया टुडे (तमिल) की सम्पादिका वासन्ती की रचनाओं से तमिल साहित्य भरा पड़ा है। अब तक इनके 24 उपन्यास, 15 उपन्यासिकाएं, 2 कहानी संग्रह एवं स्वतंत्र विचारों पर अनेक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कई कहानियां और कुछ

उपन्यास विविध भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी में अनुदित हैं। भारतीय ज्ञानपीठ से सद्य: प्रकाशित उनके कहानी-संग्रह 'बांस के फूल' में मनुष्यता को परिभाषित करने वाली कहानियां मन पर गहरा असर डालती हैं। इस संग्रह में नौ कहानियां संग्रहित है। मूल रूप में तमिल भाषा में लिखी गई इस संग्रह की कहानियों को बड़े ही मनोयोग से सुमति अय्यर ने हिंदी में रूपान्तरित किया है। पर इस पुस्तक में उनका संक्षिप्त परिचय न होना अखरता है, क्योंकि किसी भी साहित्यिक कृति को एक भाषा से दूसरी भाषा मे रूपान्तरित करना सिर्फ शब्दों का जोड़ तोड़ नहीं होता। दोनों भाषाओं की गहरी समझ अनुवादक को होना जरूरी है।

'बांस के फूल' इस संग्रह की सबसे लम्बी कहानी हैं, जिसमें मिजोरम के जन जीवन के अनेक पक्ष खुल कर आते हैं। मिजो शब्द का अर्थ है 'पहाड़वासी'। ब्रिटिश प्रशासन में मिजोरम का नाम लुशाई पहाड़ी जिला था। 1972 में जब इस प्रदेश को संघ शासित प्रदेश बनाया गया तो इसका नाम मिजोरम रखा गया। यहां के जंगलों में बांस बहुतायत में होते हैं। कहा जाता है कि बारह वर्षों में एक बार बांस में फूल आते हैं और उसके बाद भयंकर अकाल पड़ता है। लोगों का कहना है कि उन फूलों को पहाड़ी चूहे खा जाते हैं और उनकी भूख इतनी बढ़ जाती है कि खेतों में उगे, बिखरे अनाजों के एक-एक दाने को चूहे चट जाते हैं।

अन्न के अकाल के अलावा और कई तरह के अकाल जीवन में पड़ते हैं। इस तथ्य को बड़ी मार्मिकता के साथ 'बास के फूल' शीर्षक कहानी में उजागर किया गया है। जो अकाल प्राकृतिक है उसमें धैर्य खोने के बाद भी आदमी किसी व्यक्ति विशेष पर अकाल का दोष नहीं मढ़ता पर जो अकाल इन्सान खुद पैदा करता है वह इन्सानियत के नाम पर धब्बा है।

आमतौर पर आदमी किसी गैर प्रदेश, देश में अपने भाषा भाषियों को ज्यादा महत्त्व देता है पर सिर्फ अपने प्रदेश के वासी होने पर अपनी भाषा जानने मात्र से कोई गैर प्रदेश वासी से ज्यादा संवेदनशील, मानवतावादी होगा जरूरी नहीं है। इस कहानी में ऐसे अनेक उद्धरण आए हैं जो मन को छू जाते हैं। कहानी की मुख्य नायिका तमिल की है। इसलिए मिजोरम प्रदेश में भी अपने प्रदेश के सेना के नौजवान को अधिक महत्त्व देती है। उसके अंदर अपने होने वाले पति की छवि देखती है, इसलिए उसके साथ हंसी मजाक करना, कहीं घूमने जाना उसे अच्छा लगता है। उसके निवास स्थान पर भी उसका बे रोक टोक आना जाना है। पर एक दिन उसके अति घृणित कर्म से इतनी आहत हो जाती है कि उसे उस प्रदेश को मजबूरन छोड़ना पड़ता है जहां से उसने कभी जाने के लिए सोचा भी न था।

उस कहानी में मिजोरम के भूमिगत आतंकवादी तथा उसके पुत्र के जीवन से जुड़े अनेक दृश्य स्पर्शी मानवीय पक्ष पाठक के पहले से बने बनाए सांचे को तोड़ते हैं। मिजोरम वासियों का निश्चछल प्रेम, और आनन्द तथा गम के अवसर पर होने

वाली रस्मों का भी उल्लेख है इस कहानी में। कहीं-कहीं शालीनता के अंदर देह की भाषा इतनी सहज रूप में सामने आती है कि पाठक का कहानी से जुड़ाव बराबर बना रहता है।

'अन्तिम यात्रा' कहानी कथा वस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, वर्णन शैली तथा उद्देश्य की दृष्टि से इस संग्रह की सर्वोत्कृष्ट कहानी कही जा सकती है। इस कहानी को पढ़ते हुए कहीं महसूस नहीं होता कि यह सिर्फ तमिल अंचल की कहानी है सिर्फ पात्रों के नाम से जाना जा सकता है कि यह तमिल के पारिवारिक परिवेश की कहानी है। इस कहानी की कथा-वस्तु तथा कल्प इनता व्यापक है कि इसके पात्र भारत के सभी गांवों, कस्बों एवं शहरों में मिल जाएंगे। औरत को औरत जितना कष्ट पहुंचाने को तैयार रहती हैं, उतना शायद ही पुरुष कर सकें। हमारी भौतिकता का यथार्थ इतना कड़आ होता जा रहा है कि अब घर के बुजुर्ग के सामने अंधेरा ही अंधेरा है। परिवार में घटने वाली हर बुरी घटना के लिए बहुएं अपनी सास, अजिया सास (दादी) को दोषी ठहराती हैं। बात बात में इतना ताना देती हैं कि बुजुर्ग बराबर भगवान से मौत की मांग करते हैं। इस कहानी की 'दादी' का जीवन बहू के बरताव से नरक बन जाता है। वह भी बार-बार भगवान से दुआ करती है और अंत में जिस तरह की दिल दहला देने वाली मौत को गले लगाती है, पढ़कर पाठक हत्प्रभ रह जाता है।

'चिनगारी' में भूख का अर्थ कैसा होता है? वक्त कैसे छोटी उम्र को बड़ी बना देता है। भूख का अर्थ समझते ही क्रूर व्यवस्था के प्रति मन में कैसे आक्रोश का लावा फूट पड़ता है? देखते ही देखते भूख की ज्वाला से निकली चिनगारी कैसे पूरे दिमाग में व्याप्त हो जाती है? का बडा ही हृदय स्पर्शी वर्णन हुआ है।

'आधार' में मनुष्य की पहचान को रेखांकित किया गया है। एक आदमी तीन शादियां करता है और पहली को अपने व्यवहार से इतना दु:खी बना देता है कि वह 'पागल' हो जाती है। बहुत दिनों से अपने साथी मणि में अपने भावी पति की छवि देखने वाली सुषमा उसके गांव जाकर जब देखती है कि मणि की बड़ी मां उसके पिता के क्रूर व्यवहार से पागल हो गई है तथा मणि भी अपनी बड़ी मां के प्रति हमदर्दी दिखाने के बजाय उसे उपेक्षित नजर से देखता है तो वह अपने आप को उससे अलग कर लेती है। वह इस बात को लेकर दु:खी है कि अभी तक वह अंधकार में रही।

धन के अहंकार में आदमी कितना अमानवीय व्यवहार करता है का 'वापसी' में इतना जीवंत वर्णन है कि पाठक सहज ही गलत और सही का अंदाज कर लेता है। आम तौर पर लोग सम्पन्नता का मतलब रुपए पैसे या किसी तरह की सम्पत्ति से लगाते हैं। वे इस बात को अपनी सोच से निकाल देते हैं कि संवेदनहीन आदमी को सम्पन्न कैसे कहा जा सकता है? जिसके अंदर प्यार का स्रोत न हो, चिड़िया के चहचहाने में, फूलों की खुशबू में, शीतल बयार में, पेड़ों की छांव में, गुनगुनी धूप

में, आनंद की अनुभूति न हो उसका जीवन तो निरर्थक है। पैसे वालों की सोच में आदमी किस तरह सामान बनकर रह जाता है का यथार्थ वर्णन धनाढ्य वर्ग की मानसिकता को रेखांकित करता है।

'सीमाएं' कहानी मनोविज्ञान पर आधारित है। दोस्ती हमेशा बराबर वालों में टिकाऊ होती है। इस कहानी में बूढ़ा पति अपनी जवान पत्नी को बराबर शक की नजर से देखता है। किसी के साथ उसका हंसना, बोलना भी उसे नहीं सुहाता है। इस कहानी को पढ़ते ही प्रेमचंद की 'निर्मला' की ढलती उम्र के वकील साहब की याद आती है। जो अपनी पहली पत्नी के किशोर बेटे से दूसरी पत्नी 'निर्मला' की बातचीत से मन ही मन संदेह करते हैं। उन्हें अच्छी तरह से पता है कि जवानी की देहरी पर कदम रखने वाली उनकी पत्नी शारीरिक रूप में स्वेच्छा से उन्हें क्यों चाहेगी? अपनी कमजोरी से उपजी हताशा आदमी को कितना शक्की बना देती है। इस कहानी में बखूबी देखी जा सकती है।

आपातकाल के दौरान परिवार नियोजन को बड़े-बड़े अधिकारी अपने निजी फायदे के लिए इतने अमानवीय स्तर पर अंजाम दे रहे थे कि सीधे-सादे बिना बाल बच्चे वाले लोग इधर-उधर छिपकर रहने लगे थे। 'नरबलि' कहानी में इस तथ्य को उजागर किया गया है। काम दिलाने के नाम पर एक डाक्टर धोखे से एक ऐसे बेरोजगार मजदूर की नसबंदी कर देता है जो रोजी रोटी की तलाश में शहर आता है। तमिलनाडु में भी दहेज की घिनौनी प्रथा है। वहां भी लोग दहेज न मिलने पर बहुओं के साथ बुरा सलूक करते हैं।

इस संग्रह की सबसे बड़ी खूबी यह है कि करीब-करीब सभी कहानियों में नारी को सदैव अबला दिखाने वाली मानसिकता को तोड़ा गया है। अन्याय को स्वीकारते रहने से धीरे-धीरे आदमी का व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। नारी के साथ भी यही हुआ है, इसलिए उनकी भावी पीढ़ियां भी स्वत: कुंठा का शिकार हो जाती हैं। बहुत कम नारियां सही परिप्रेक्ष्य में अन्याय की परिधि से बाहर आई हैं। वासन्ती ने इस संग्रह की कहानियों के माध्यम से नारी वर्ग के अंदर मानवीय सोच पैदा की है। उन्हें सही और गलत की पहचान हो उसका पूरा ध्यान रखा है। सुमति अय्यर के रूपान्तरण में हिंदी प्रदेश की बोल चाल की छवि स्पष्ट नजर आती है। छपाई और पुस्तक का आवरण कृति के अनुकूल एवं आकर्षक हैं।

---

**बांस के फूल (तमिल कहानी संग्रह)/वासन्ती, हिन्दी रूपांतर सुमति अय्यर/प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ/मूल्य-85/-**

---

□

# रस रंग के बारे में दो शब्द

## निदा फ़ाजली

रस रंग का तीसरा अंक तुफैल चतुर्वेदी के सम्पादन में 154 शायरों की गजलों का संकलन है। इससे पहले इसी किस्म के दो सुमारे और भी प्रकाशित हो चुके हैं...पहले की तरह मौजूदा रस रंग में भी भारत में लिखी जाने वाली गज़ल के कई रस रंग शामिल हैं। इसमें वे शायर भी हैं जो मुशायरों के हवाले से जाने जाते हैं...और उन शायरों की भी तादाद अच्छी खासी है जो किताबों में रिसालों के जरिए पहचाने जाते हैं।

मुशायरों और किताबों रिसालों के शायरों में, मैंने फर्क इस लिए किया... कि वक्त के साथ इनके दरमियान इतनी दूरी पैदा हो गई है...कि अब ये शायरी के दो रवैये बन गये हैं...मुशायरों में जो कलाम सुनाया जाता है... उसमें कलाम को सुनाने के साथ, इसे दिखाया भी जाता है...पहले सुनने वाले और सुनाने वालों में अदबी शनासाई होती थी...जुबानों बयान से तारीखी आशनाई होती थी...

लफ्जों में तहजीबी तसलसुक की जेबाई होती थी...सामेइन शायर को उसकी तखलीक़ी जहानत से जानते थे... इकहरेपन और तहदारी के फर्क़ को पहचानते थे...मुशायरों में पिछले कई सालों से जो कलाम सुनाया जाता है या हाव भाव से दिखाया जाता है...वो भी हमारी राजनीति की तरह...साम्प्रदायिक बन गया है। शायरी में ये तअस्सुब चिंता का विषय है...क्योंकि शायरी किसी भाषा की हो...धर्मों और तब्लो में कभी नहीं बंटी... वो न हिंदू होती है न मुसलमान होती है सिर्फ साहिबे ईमान होती है....

गज़ल विधा का इतिहास बहुत लंबा है...अमीर खुसरो के प्रयोग।

*ज़ेहाले मिस्लीमकुन तगाफुल दुराए नैना बनाए बतियां*

से ता हाल ये कई रंगों में रंगी है, कई सम्तों में चली है, कई साचों में ढली

है... जब किसी विधा की तारीख़ तावील होती है तो लिखने वाले की जिम्मेदारी बढ़ जाती है...क्योंकि वक्त कुछ अर्से के बाद कोई जुबान में इज्हारो बयान के पैराए सैट कर देती है... इस में प्रचलित रंग भर देती है... फिर इसमें सामने के या मुशायरे लूटने वाले शेर कहना आसान होता है लेकिन अपना शेर कहना मुश्किल होता है... अदब में बात अच्छे शेर से नहीं बनती अपने शेर से बनती है...मीर के बाद गालिब ने, और हसरत, जिगर के एहद में यगाना ने 'अपने शेर' कहकर ही, गज़ल के नये इमकानात रौशन किये थे...और गज़ल की तारीख़ में नये बाल के इजाफे किये थे... तुफैल चतुर्वेदी खुद शायर हैं.. वो इस राज से वाकिफ हैं, लेकिन हर इन्तिखाब की तरह उनके इन्तखाब की भी अपनी मजबूरियां हैं...

तारीखे अदब उर्दू के खालिक, रामबाबू सक्सेना ने, इसी किताब को तम्हीद में प्रोफेसर सेन्टेस्बेरी के हवाले से एक जुमला तहरीर किया है-

'अगर कोई ये दावा करे कि मैंने ऐसी किताब लिखी है जिस में कोई गलती नहीं है तो वह झूठा है और जो शख्स किसी दूसरे से ऐसी किताब लिखने की उम्मीद रखे जिस में कोई गलती न हो वो उससे बढ़कर कर लग्व है।'

तुफैल ने भी एक तरह से अपने एहद की ग़ज़ल को आइना दिखाया है, कई तस्वीरों का एक निगार खाना सजाया है... जिस में शामिल हर शायर अपने आमाल नामे का खुद जिम्मेदार है... उन्होंने अपनी पसन्दो नापसंद का मेयार दूसरों पर थापने के बजाए...हर शाइर को पाठकों के कटघरे में खड़ा करने का कर्तव्य निभाया है। देवनागरी में उनकी ये कोशिश इस ऐतिबार से एहम है कि इसमें मुशायरों के शायर, किताबों के शायर, क्लासिकी, जदीद, या तरक्की पसंद शायर...सब एक कतार में नज़र आते हैं।

इसमें अच्छे और तहदार शेर भी हैं...इकहरे तेज़धार शेर भी हैं, खियात की तकलीफ से सरशार शेर भी है, महफिलों के यार शेर भी हैं...तन्हाइयों के इबादत गुज़ार शेर भी हैं... लेकिन एक बात जो इन सबमें मुश्तरिक है वह, वह बैचानी और टेन्शन है जो हमारे दौर की पहचान है...

तुफैल चतुर्वेदी मुबारकबाद के मुस्तहिक हैं कि इन्होंने गज़लों के जरिए हमारे दौर का इतिहास लिखा हैं...जो नेताओं की तकरीरों, सरहदों की लकीरों और अखबारों की सुर्खियों से मुखतलिफ है...इन गज़लों में मुहब्बत की फिज़ाएं हैं, तन्हाई की दुआए हैं, आजाद हवाए हैं, रौशन निगाहें हैं... तुफैल ही का एक शेर है।

''मैं सदिया छीन लाया वक्त तुझसे
मेरे कब्जे में लम्हा भी नहीं था...

मेरी दुआ है कि पिछले अंकों की तरह, रस रंग का ये तीसरा सुमारा भी गज़ल की समझ बूझ बढ़ाएगा...और पाठकों में अच्छे बुरे शेर की पहचान जगाएगा।

□

# युवाओं को मार्ग का संकेत देती कृति—'मशाल जलती रहे'

डॉ. हीरालाल बाछौतिया

उपन्यास, अपनी सामाजिक सार्थकता और कलात्मक महत्व के लिए सबसे सशक्त विधा मानी जाती है। उपन्यास में सामाजिक चेतना की व्यापकता और आदमी की परिभाषा अन्य साहित्य रूपों से अधिक देखी जा सकती है।

डॉ. हरिसिंह पाल की आलोच्य कृति "मशाल जलती रहे" एक सफल औपन्यासिक कृति है। इसमें ग्राम्य जीवन की सहजता के साथ-साथ, समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और कुरीतियों का चित्रण किया गया है। भारत ग्रामों का देश है। इस लिहाज से यह उपन्यास भारत की नब्ज टटोलने का सार्थक प्रयास भी करता है।

'मशाल जलती रहे में किशोरवय केंद्रीय स्थिति में है। उपन्यास का नायक बुधपाल अपने कॉलेज का बड़ा होनहार छात्र है। कॉलेज वार्षिकोत्सव में वह नाटक का आयोजन करता है। इसी संदर्भ में उसकी मुलाकात सुमिता से होती है, सुमिता बुधपाल की प्रशंसक है। सुमिता की मदद से बुधपाल का चयन इंजीनियरिंग में होता है। सुमिता और बुधपाल एक दूसरे के लिए समर्पित हैं, लेकिन बीच में आ जाती है सीमा। सीमा बुधपाल के गांव के पड़ोस की है। बचपन में उनमें मित्रता का भाव था, जैसा गांव के परिप्रेक्ष्य में होता है। सीमा का विवाह एक डिप्लोमा धारी युवक प्रतापचंद्र के साथ होता है। किंतु प्रतापचन्द्र बेरोजगारी का शिकार था अपने घरवालों के उपहास और रोजगार प्राप्त करने में असफल होने पर वह आत्महत्या कर लेता है। सीमा निस्सहाय वैधव्य काटने हो अभिशप्त हो जाती है। वह ससुराल वालों की अवलेहना, अपमान और प्रताड़ना से टूटती नहीं बल्कि उन्हें चुनौती देती है। लेखक रेखांकित करना चाहता है कि महिला सशक्तीकरण की क्या दशा होनी चाहिए। इसी

जद्दो-जहद में सीमा का लावण्य चुक जाता है। वह आसानी से पहचान में भी नहीं आती। काफ़ी समय बाद बुधपाल खेतों पर सीमा से मिलता है तो एकबारगी तो वह भी उसे पहचान नहीं पाता है। हमदर्दी जताते वह सीमा को सलाह देता है-''तुम फिर अपना घर बसा लो।'' समाज की मानसिकता का बयान करते हुए सीमा उलटकर पूछती है-''कौन करेगा एक विधवा से शादी? क्या तुम करोगे?'' बुधपाल के सामने यह नंगा सवाल फन फैलाकर खड़ा होता है। वह विवाह करवाने का तो वायदा कर लेता है। इसी क्रम में बुधपाल विधवा सीमा का विवाह अपने पूर्व परिचित गांव के अध्यापक देवेन्द्र से करा देता है। देवेन्द्र-सीमा का विवाह बुधपाल के प्रयासों से ही हो पाता है। समाजोत्थान का यह भी आयाम है। यही है वह मशाल, जो जलती रहनी चाहिए।

हमारे समाज सुधारकों ने भी ऐसी ही सामाजिक समस्याओं का ध्यान खींचा और आंदोलन चलाए। युवाओं के कंधों पर ही नए समाज के निर्माण का दायित्व होता है। किंतु आजकल आए दिन दहेज के लालच में भटकते युवा वर्ग की चर्चा ज्यादा होती है। समाजोत्थान जैसे बीते जमाने का अध्याय बनकर रह गया है। ऐसे समय में ''मशाल जलती रहे'' स्वागत योग्य कृति है।

उपन्यास में अन्य समकालीन समस्याएं भी उभर कर आती हैं उनमें केन्द्रीय समस्या है—शिक्षित बेरोजगारों की ज्वलंत समस्या। इसमें व्याप्त भ्रष्टाचार की झलक भी लेखक ने दी है आजकल के तहलका डाट काम के सामने उपरोक्त भ्रष्टाचार बहुत बड़ा नहीं लगता। किंतु खर्चीले इंजिनियरिंग डिप्लोमा प्राप्त करने के बावजूद नौकरी पाने के लिए रिश्वत देना, हर किसी के बस की बात नहीं है। इस विषम स्थिति की ओर भी लेखक ने ध्यान आकृष्ट किया है।

उधर सुमिता और बुधपाल प्रेम की परीक्षा में सफल होते हैं। सुमिता परिस्थितिवश विकलांग हो जाती है। बुधपाल सुमिता से खुशी-खुशी विवाह कर लेता है। यह भी समाजोत्थान का एक अन्य आयाम है। विकलांग भी समाज के अंग हैं उनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का निर्माण अपेक्षित है, ताकि उन्हें अपने होने की सार्थकता का अहसास हो सके। यह मशाल भी, जलती रहनी चाहिए।

इस बीच निसंदेह शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ा है। विद्यालयों में युवाओं की भीड़ है। युवाओं की ऊर्जा का उपयोग रचनात्मक कार्यों में किया जा सके तो उसकी तोड़-फोड़ और रोज ब रोज आंदोलन करने जैसी प्रवृति पर अंकुश लग सकता है। लेखक ने विस्तार से महाविद्यालयीन गतिविधियों का खाका खींचा है। गांव से आने वाले युवा विद्यार्थी, कॉलेज की चकाचौंध में न खो जाये बल्कि वे संस्कारों में ढलें, यह राष्ट्र निर्माण के लिए जरूरी है। शिक्षा संस्थाओं का वातावरण, अध्यापकों का आचरण तथा युवा विद्यार्थियों की लगन आदि सभी बिन्दुओं को लेखक ने समेटने की कोशिश की है। बुधपाल का चरित्र यदि हमारे आज के युवाओं के लिए भी आदर्श

बन सके तो युवा और राष्ट्र निर्माण की कल्पना साकार हो सकती है।

स्व. श्री यशपाल जैन ने 'मशाल जलती रहे'' को मूल्यपरक रचना कहा है। मूल्यों की स्थापना की दिशा क्या हो सकती है, यह भी इस उपन्यास का कथ्य बिन्दु है। युवाओं को जीवन-मूल्यों का संदेश इस कृति से बखूबी मिलेगा। उत्तर आधुनिकता के इस युग में ऐसी मूल्यपरक रचना के लिए कोई चिंता की जाएगी या नहीं किंतु इस कृति का जबरदस्त शैक्षणिक महत्व है। क्योंकि यह कृति युवाओं को ढाढस भी बंधाती है, व मार्ग का संदेश भी देती है।

---

**_मशाल जलती रहे_ (उपन्यास)/डॉ. हरि सिंह पाल/प्रकाशक: सुंदर साहित्य सदन, बेरीवाला, बाजार सीताराम, दिल्ली-110006/मूल्य: 125/-**

---

□

# तलाशते लोग की तलाश

## देवशंकर नवीन

हिंदी कविता आज के समय-सत्य को बड़ी पैनी निगाह से देखती है। यह इस समय की सच्चाई की खबर लेती रहती है इस पर नजर रखती है और इसे आवश्यकता पड़ने पर बेधती भी है। आज हिंदी में कविता लेखन यदि मौसमी और शौकिया कवियों के कचड़े अभ्यास के कारण बदनाम हो रहा है, तो इसी दौड़ में यह स्थिति भी बाकायदा बनी हुई है कि कुछ सावधान और जिम्मेदार कवियों की कलम से बाहर आकर समय और समाज के खट्टे-मीठे, रंगीन-रंगहीन, सुस्वादु-कुस्वादु जीवन को रूपायित भी कर रही है।

गत शताब्दी के अंतिम दो दशक भारत देश की जनता के लिए धोखा, फरेब, झूठ, अनिश्चय, विफलता, बेकारी, दंगा, हत्या, बलात्कार, अविश्वास, घपला, घोटाला, विडम्बना, मानवीय और सामाजिक संबंधों के विगलन तथा राजनीतिक कुकर्मों के दशक साबित हुए। सन् 1977 के आम चुनाव में आपातकाल से त्रस्त जनता ने कांग्रेस विरोधी व्यवस्था में जीवन बिताने की ठान ली और जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाए गए छात्र आंदोलन को देश की युवाशक्ति ने प्राणपन से समर्थन किया। कांग्रेस पार्टी की लीपा-पोती हो गई और देश की राजनीतिक दुर्दशा जिस गति से आगे बढ़ी, आज तक वह अधोगमन रुका नहीं, तेजी से बढ़ता गया। इस राजनीतिक अराजकता की भीषण स्थिति का शिकार जनता को होना पड़ा, युवा शक्ति एक बार फिर पराजित और परमुखी हो गई, लगातार विमुखगामी होते जाने में उन्हें तात्कालिक लाभ दिखने लगा।

हिंदी के युवा कवि लालित्य ललित की कविताओं का रचनाशील मानस लोक भी इन्हीं परिस्थितियों में बना है। 'तलाशते लोग' ललित की छप्पन छोटी-छोटी कविताओं का संकलन है। इससे पूर्व 'गांव का खत : शहर के नाम', 'दीवार पर टंगी

तस्वीरें' तथा 'यानी जीना सीख लिया' तीन कविता संग्रह प्रकाशित हुए। 'कविता संभव' संपादित पुस्तक है, जिसमें कई संभावनाशील और स्थापित युवा कवियों की अच्छी-अच्छी कविताएं संकलित हैं। 'पारा टोली का पारस' नवसाक्षरों के लिए लिखी गई कहानी है। अपनी इस छोटी उम्र में इस विस्तृत प्रकाशित-सम्पदा के साथ ललित हिंदी के एक खास साहित्यिक समुदाय के बीच जाने पहचाने भी गए। भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न लोगों ने ललित की जहां-तहां लिखित मौखिक चर्चा भी की।

ललित की इस काव्य-यात्रा में, संबंधों के विकास की जो गति दिखती है, उससे संतोष किया जा सकता है कि कुछ वर्षों पूर्व इस कवि की कविताओं में लड़की, एक युवती के स्वरूप में आती थी, भले ही वह कामदग्धा हो, प्रेमिका हो, प्रेयसी हो अथवा कहीं यौन अथवा भावनात्मक अथवा श्रम-अर्थ की शेषिता हो, पर अब ललित के यहां लड़की, ज्यादातर बेटी के रूप में आती है। यदि आंकड़ेबाजी की जाए, तो अब तक की इनकी सारी कविताओं का बहुलांश लड़की को केन्द्र में रखे हुए हैं। लड़की इनके सृजन संसार का प्रमुख केन्द्र है, इसी में यह कहना जरूरी है कि लड़कियों के चित्रण में इनके यहां ज्यादातर स्थानों पर कोई फूहड़पन नहीं दिखाता। मानव जीवन के हर प्यारे, कोमल और मधुर संबंधों की वास्तविक जिम्मेदारी के साथ इनकी कविताओं में लड़कियां उपस्थित होती हैं और अपना वजूद स्थापित कर जाती हैं।

ललित की कविताओं में लड़कियों की उपस्थिति का हाल यह है कि जहां पर पुरुषों द्वारा लड़कियों को कामनामयी या वासनामयी दृष्टि से देखा जाता है, वहां भी उसका महत्व दिख पड़ता है। ऐसा लगता रहता है कि वह लड़की जिस पुरुष के साथ नहीं है, वह बेकार है, 'सड़क पर लुढ़कता-पिचकता फ्रूटी का खाली डब्बा है, उस पुरुष का एक ही सपना है कि वह लड़की कब आएगी। जिस बड़ी उम्र के बस ड्राइवर ने अपनी बराबर उम्र अर्थात् बड़ी उम्र की लड़की को अपने लिए आरक्षित कर रखा था, 'आज उस बड़ी उमर वाली/लड़की की भी शादी हो गई/आज उसके चेहरे पर पहले से अधिक/लाज है... पर चूंकि 'बड़ी उमर वाली लड़की/शादी करा पराए लड़के को ही घर में/ले आई...' इसलिए दुल्हन बनी उस नवविवाहिता को अपनी ही बस में बिठाकर ससुराल उतारता हुआ ड्राइवर मायूस होता है, अपनी यात्रा, अपना चिंतन, अपना सपना कायम रखता हुआ आगे बढ़ता है। 'मेरे सपनों की रानी कब आएगी?'-एक अविवाहित ड्राइवर की यह पीड़ा व्यक्तिगत नहीं है। यह उन सारे पुरुषों की पीड़ा है जिसका जीवन स्त्री-विहीन है, उजाड़ है, इसलिए स्त्री उसके लिए अलभ्य है। पुष्ट जवानी के दिनों में जिस स्त्री को वासना का केन्द्र, भोग्या, खिलौना आदि के रूपों में सोचता आया है, वही ढलान की उम्र आने पर अब उसके लिए जीवन के टूटते धागे की तरह हो जाती है। अर्थात् यह सही उक्ति है कि 'मनुष्य जो प्राप्त कर लेता है, उसका मालिक बन जाता है, पर जो नहीं प्राप्त कर पाता, उसका

गुलाम हो जाता है।'

इसके अलावा अपनी कई कविताओं में ललित ने लड़की के विभिन्न रूपों को अंकित किया है। एक शिशु से लेकर एक वृद्धा तक की उम्र में जीवन के विभिन्न पड़ाव पर भिन्न-भिन्न रूपों और संबंधों के साथ आने वाली स्त्रियां इनकी कविताओं में अपनी उपस्थिति के किसी महान अर्थ का संकेत देती हैं। स्त्रियां ही केवल इनकी कविता का केन्द्र हों, ऐसा भी नहीं है। मशीनी सभ्यता, इलेक्ट्रॉनिक, संचार माध्यम, अपसंस्कृति, पर्यावरण प्रदूषण, प्रशासनिक लाल फीताशाही, घूसखोरी, बेकारी, प्यार, परिश्रम, रूढ़ि, पाखंड, जीवन के सामान्य क्षण का उद्वेग, जीवन की उन्मुक्तता और मन की स्वच्छंदता, पारिवारिक संबंधों की गहनता..सारी ही बातों को ललित ने अपनी कविता का विषय बनाया है...।

परंतु यह कहना बहुत जरूरी है, जो लोग साहित्य में अपनी कुछ हैसियत बना चुके हैं, उनके संसर्ग में जब कभी भी कोई युवा रचनाकार आता है, तो उन्हें अपनी जिम्मेदारी का अहसास होना चाहिए। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि नए रचनाकारों को शाबाशी तो जरूर मिलनी चाहिए, पर उन्हें सृजन क्षेत्र के संघर्ष के लिए सावधान भी किया जाना चाहिए और जरूरी हथियार भी पकड़वाया जाना चाहिए। छद्मप्रशंसा से नए लोगों का बहुत नुकसान होता है, पर हिंदी के बुजुर्ग इन बातों से निरपेक्ष रहते आए हैं और नए लोगों का नुकसान करते आए हैं। इनकी इन हरकतों के बहुत नहीं भी, तो कुछ हद तक अवश्य ही, ललित भी शिकार हुए हैं। वरना, जितने दिनों से, जिस तीक्ष्णता से, जिस जोशो-खरोश से और जिस तेवर के साथ ललित रचनारत हैं, आज ये बहुत आगे रहते, बहुत ऊंचाई पर होते।

कवि कर्म के लिए ललित के पास अच्छी भाषा है, कविता के व्याकरण की समझ है, कहने का ढंग है, विषय की अपार विषदता है, पर बड़ों और मित्रों की छद्म प्रशंसा के कारण कवि कई जगह मुग्धता के शिकार हुए हैं। हड़बड़ी में कई बार विषय इनकी भट्टी में पक नहीं पाता, फलत: वह एक बयान की तरह बाहर आ जाता है। ललित की छोटी-छोटी कई कविताएं हैं, जहां विचलित हो जाना पड़ता है। यह हड़बड़ी का ही परिणाम है कि एक ही पृष्ठ पर 'यादें' कविता लगती है और 'कोई अपना' एक निरर्थक बयान। 'मास' एक छोटी-सी कविता है और इसमें तीन विराट व्यंजनाओं का संकेत है। यद्धपि इस छोटी सी काया में कविता को जितना कुछ कहना चाहिए, उससे ज्यादा ही कही गई है, पर इस कविता की प्रहारक शक्ति को उत्कर्ष देने की गुंजाइश अभी भी बची थी, सिर्फ चार पंक्तियों की एक कविता 'मुखौटा' काफी प्रहारक साबित हुई है। 'यादों में जीते हुए' कविता में दाम्पत्य जीवन के जिस विलगाव और स्मृतियों से प्रभावित होकर पुनरावर्त्तन की जिस स्थिति को दिखाया गया है, उसे एक गहरी संवेदना के साथ जोड़कर देखने की आवश्यकता है। परन्तु, इन स्थितियों के साथ ही वर्तमान देश-दशा अभी बर्बादियों के जिस कगार पर है,

वहां कुछ और चिंतन की आवश्यकता है।

कविता अथवा साहित्य की कोई भी विधा सिर्फ सूचना नहीं होती है। हर रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व और उसका जीवन दर्शन साफ-साफ दिखता रहता है। रचनाकार एक जिम्मेदार मनुष्य होता है। उनकी रचनाओं में दायित्व निर्वाह का संकेत एक-एक ध्वनि में होता है। समाज और परिवेश और जनजीवन के रहन-सहन की सूचना मात्र देने का समय अब नहीं रहा। मनुष्य की आंखों पर अब इतनी चर्बी चढ़ चुकी है, जमाने ने अपने कुकृत्यों के इतने गर्द-गुबार उड़ाए कि अब सामान्य जनता की आंखें कभी साफ चित्र नहीं देखती, उन्हें सही स्थितियों की जानकारी देने के साथ-साथ जनता को दायित्वबोध का स्मरण कराना और अपनी प्रतिबद्धता का संकेत देना रचनाकार की जिम्मेदारी होती है। लगातार दो दशकों की राजनीतिक अस्थिरता, कुर्सी के कारण नरमेध यज्ञ, प्रशासनिक गुंडागर्दी, बौद्धिक छद्म और मानवीय संबंधों के हनन का दृश्य देखते-देखते जनता अब किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो चुकी है। वह अब अपने हित के लिए कोई सही निर्णय ले पाने की तर्कशक्ति खो चुकी है। उसे अब संकेत चाहिए और यह संकेत कोई भी राजनीतिक पंडा अथवा प्रशासनिक गुंडा अथवा आर्थिक हथकंडा नहीं दे सकता। कुर्सी के जंजालों और देश की अस्मिता तथा जनता के अस्तित्व के साथ खिलवाड़ करने वाले दलालों से यह सब संभव नहीं है। यह सब कोई वास्तविक रचनाकार कर सकता है। ललित की पूरी रचना प्रक्रिया से अंतरंग होते हुए यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं किया जाना चाहिए कि अभ्यास काल से लेकर आज तक में कवि जहां पहुंच पाए हैं, उसका पूरा श्रेय ललित की प्रतिभा को जाता है और जहां नहीं पहुंच पाए, जो इनमें कमी रह गई है, उसका पूरा श्रेय, उसकी पूरी जिम्मेदारी उनके उन छद्म प्रशंसकों को जाती है, जिन्होंने सही मौके पर इन्हें सही सुझाव नहीं दिया। बहरहाल, इनकी अगली कृति पाठकों को इससे ज्यादा ठोस मिलेगी ऐसी उम्मीद की जा सकती है।

□

# शैतान के वकील की वकालत

## विश्वमोहन तिवारी

कभी-कभी समीक्षा लिखने में 'व्यक्तिगत' बीच में आने की कोशिश करता है, उस कोशिश को व्यर्थ करना अच्छे समीक्षक का कर्त्तव्य बनता है, जिसे पूरा करने में समीक्षा यथानाम तथा गुण: हो सकती है। इस समय मेरा व्यक्तिगत बीच में इसलिए नहीं आ रहा है कि ओम गुप्ता ने अपने लेख में ('ये गोष्ठियां हिंदी साहित्य का श्राद्ध पर्व ही तो है', पुस्तक-'दिल्ली दिनांक') मेरी कृति 'जिंदगी फ़िर फ़िर मेरे क़रीब है' में छिद्रों का अन्वेषण किया है इसलिए भी नहीं कि उसने उस कृति के साथ न्याय नहीं किया है, वरन इसलिए कि उसने (उनकी ही आत्म स्वीकृति के अनुसार) जान बूझकर, शैतानी दृष्टि से न्याय या अन्याय किया है। क्यों? और मैं अपने इस लेख में उस 'व्यक्तिगत' की कोशिश को व्यर्थ करने का पूरा प्रयास कर रहा हूं। इस 'क्यों' प्रश्न के उत्तर की पड़ताल उनकी कृति 'दिल्ली दिनांक' के परिप्रेक्ष्य में करना बेहतर होगा। 'दिल्ली दिनांक' में उनके चुने हुए लेख हैं जो उन्होंने अखबारों में नियमित स्तम्भ के रूप में लिखे थे।

इस तरह की शैतानी दृष्टि की आत्म स्वीकृति उन्होंने अपनी पुस्तक के और किसी लेख में नहीं की है, किंतु 'शरारत' जगह जगह देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये कुछ शीर्षक ही लिये जा सकते हैं-'जब देश का प्रथम नागरिक अन्य नागरिकों का रास्ता काटता है', 'भारत का राष्ट्रपति अपने मनमोहन कैसे चुनता है', 'चोली के पीछे कुछ और भी हो तो क्या', इत्यादि। पाठक की आंख पकड़ने के लिए अखबार में शीर्षकों की होड़ लगी रहती है, इसलिए थोड़ी शरारत उचित मानी जा सकती है, बशर्ते कि वह घनघोर पूर्वाग्रह से मुक्त हो। अंतिम लेख का शीर्षक 'मत कहो हमें हिंदू कि शर्मसार हैं हम' विचारणीय है। यह लेख 'आत्म विरोधों' से मंडित है। लेखक अवतारों को प्रेरणा स्रोत के रूप में शुद्ध कल्पना मानता है। यह एक

तार्किक दृष्टि हो सकती है और इसलिए सीमित भी क्योंकि हमारे 'दर्शन' तर्कों की सीमा बतलाते हुए, उनका उस सीमा के भीतर ही उपयोग करते हैं। वे तर्कातीत ही नहीं, इन्द्रियातीत तथा भावातीत अनुभवों की बातें भी करते हैं, उन तक पहुंचने का मार्ग भी बतलाते हैं। भगवान को तर्कातीत मानने के भी और पाने के भी हिंदू धर्म में अनेक मार्ग हैं। इसलिए ज्ञान मार्गी, कर्म मार्गी तथा भक्ति मार्गी लोगों में अवतार को कोरी कल्पना न मानने वालों की बड़ी संख्या मिलती है। इसलिए लेखक का यह तार्किक निष्कर्ष कि 'यदि कोई भगवान राम के...जन्म स्थान की बात करता है तो वह हिंदू धर्म को अपनी अदूरदर्शिता और दिग्भ्रम का शिकार बनाता है, उसके 'ब्लाइंड स्पाट' की तरफ ही इशारा करता है, और उसके अनुदार पक्ष को भी उजागर करता है।

यदि हम लेखक के उपरोक्त तार्किक निष्कर्ष को ठीक भी मान लें, तब भी उसका अयोध्या घटना के आधार पर यह कहना कि 'मत कहो हमें हिंदू कि शर्मशार हैं हम' उसका एक तथाकथित 'धर्म निरपेक्ष और उदार' वर्ग की प्रतिबद्धता से प्रभावित लगता है। क्योंकि अयोध्या घटना धार्मिक भावनाओं तथा राजनैतिक गतिविधियों के मिश्रण की अजीब सी उत्पत्ति है। तथा इस घटना के साथ सहानुभूति एक बड़े हिंदू समुदाय की नहीं थी। अतएव हिंदुओं के कुछ प्रतिशत द्वारा किये गये मात्र एक राजनैतिक-धार्मिक (कु) कृत्य के कारण कोई जानकार हिंदू इतना शर्मसार हो जाए कि कहे कि उसे हिंदू न कहा जाए, ऐसा तर्क दोष पूर्ण लगता है। शर्म तो आना चाहिए किंतु इतनी नहीं क्योंकि, हम अपनी असली पहचान जानते हैं। एक स्थान पर वे हिंदू की पहचान लिखते हैं, 'मन की सहिष्णुता, व्यापक जीवन दृष्टि और उदात्त दर्शन... जो हमारी हजारों वर्षों की धरोहर है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हमें जन श्रुतियों के माध्यम से मिलती रही है।' हां हमें वह धरोहर सुरक्षित अवश्य रखनी है। साथ ही लेखक ने हिंदू धर्म के विषय में अपने अल्प ज्ञान का प्रमाण भी दे दिया यह लिखकर कि, 'यह शायद अकेला धर्म है जो जननेन्द्रियों की पूजा करता है,' वास्तव में शिवलिंग की पूजा 'लिंग-पूजा' से परम तत्त्व के कल्याणमय रूप शिव की पूजा तक के विकास की हमारे सांस्कृतिक, हमारी सभ्यता के विकास की गाथा दर्शाती है। यह मानव संस्कृति के विकास की जीवंत गाथा भी है। इतने संवेदनशील विषय पर लिखते हुए भी लेखक अपने सतही ज्ञान के आधार पर हिंदुओं की सहिष्णुता जानते हुए इस तरह की गैर जिम्मेदार राय देता है। लेखक इसी तरह एक स्थान पर लिखता है, 'हमारे यहां 33 करोड़ देवी-देवताओं का विधान है। शायद जब देवताओं की गिनती पूरी हो गई तो इस देश में चूहे, सांप और न जाने कितने अन्य जीव जन्तुओं की पूजा होने लगी।' हिंदुओं के कुछ समुदायों में कुछ प्रथाएं पांच-छः हजार वर्षों से चली आ रही हैं। उन पर कोई दबाव नहीं कि वे उन्हें बदलें। एक तो इससे हिंदू की समस्त प्रकृति से एकात्मता की दृष्टि का पता लगता है, दूसरे सांप तथा चूहों की अनावश्यक

हत्याओं से रक्षा हो जाती है क्योंकि सांप तथा चूहे समाज के लिए बहुत उपयोगी जीव हैं। इतने सब विचार कर मैं यह विनम्रता पूर्वक कहना चाहता हूं कि सतही ज्ञान रखने वाले पत्रकार को निष्कर्ष निकालते समय बहुत सावधान रहना चाहिये।

'मेरा गणराज्य मुझसे एक वर्ष छोटा है', गंभीर विषय होते हुए भी आकर्षक है तथा हास्य पुट लिये है। 'अरे एक दिन टी वी खराब करके तो देखो'—देश में टीबी की तरह फैली टी वी की बीमारी पर रोचक, साहसिक तथा उपयोगी लेख है। (31 और 13) जब अमेरिका में एक 31 वर्षीय महिला को एक 13 वर्षीय बालक के साथ मना करने पर भी शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के अपराध में 7 वर्ष की जेल मिलती है तब लेखक लिखता है कि 'दोषियों को सजा दी जानी चाहिये, वहीं दूसरी ओर समाज में परिवार और विवाह की खंडित होती भूमिका को पुनः संभालने की जरूरत है। आखिरकार क्यों एक 13 वर्षीय बालक को अपनी मां की उम्र वाली महिला के प्रति आसक्त होने की जरूरत पड़ी? यह कुछ ऐसे यक्ष प्रश्न हैं जिनका जवाब समाज के उन्हीं ठेकेदारों को देना चाहिए जो नित नई वर्जनाओं को कानून-व्यवस्था का मामला मानकर उसे ठीक करने की कोशिश कर रहे हैं।' वही ठेकेदार अर्थात् विधायक और सरकार। यहां लेखक की सोच फिर सतही जान पड़ती है क्योंकि यह कार्य केवल सरकार का नहीं, जन-जन का भी है दार्शनिकों का तथा समाज सुधारकों का भी और साहित्यकों का भी, जैसा 'एक दिन अपना टीवी खराब करके तो देखो' में लेखक ने किया था, लेखक जब पत्रकारिता संबंधित लेख लिखता है तब संतुलित तथा उचित गहराई लिये होता है जैसे 'दुनिया भर के अखबार वालो...', 'जैसे ही लाशें गिराना...' 'अरे कवियों अब तो पत्रकारिता...', इत्यादि। स्तम्भ लेखन में तीन बड़े बंधन हैं एक तो नियमित लेखन, दूसरा सीमित स्थान (इस पुस्तक के लिए लगभग 1000-1400 शब्द) तथा तीसरा, यथार्थ से अत्यधिक छूट न लेना। खबर संबंधी जानकारी तो भारत जैसे देश में हमेशा लिखी जा सकती है, किंतु ऐसा स्तंभ जिसमें घटनाओं के परे जाकर, उसे लंबी अवधि के लिये मूल्यवान बनाना हो, अर्थात साहित्यिक बनाना हो या साहित्यिकता का पुट देना हो तब रचनात्मक कार्य की प्रेरणा आवश्यक हो जाती है जो आदेश पर नहीं उपलब्ध हो सकती। और दूसरे, हर विषय को सीमित शब्दों में रोचकता, पठनीयता तथा विचारोत्तेजकता आदि लाते हुए लिखना बहुत कठिन काम है। इस पुस्तक के अधिकांश लेख इन बंधनों के भीतर रहते हुए भी काफी सफल हैं। किंतु इन तीनों बंधनों का दुष्प्रभाव 'ये गोष्ठियां हिंदी साहित्य का श्राद्ध पर्व ही तो हैं' लेख में मिलता है। इनकी लगभग 100 पृष्ठों की पुस्तक 'दिल्ली दिनांक' की भूमिका लगभग 3500 शब्दों में सकारात्मक मनोयोग से बिना समय के दबाव से विनीता अग्रवाल ने लिखी है और प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। जिस गोष्ठी की बात लेखक कर रहा है वह (विश्वमोहन तिवारी की) मेरे यात्रा वृत्तों का संग्रह 'ज़िन्दगी फ़िर फ़िर मेरे क़रीब है'

पर 'गवाक्ष' के तहत प्रसिद्ध कवि तथा आलोचक प्रताप सहगल ने आयोजित की थी। उसकी अध्यक्षता वयोवृद्ध (लगभग 85 वर्ष) तथा ज्ञानवृद्ध घुमक्कड़ तथा साहित्यकार देवेन्द्र सत्यार्थी की थी। गर्मी के दिन थे, और दोपहर बाद 4 बजे गोष्ठी प्रारंभ हुई थी। अतएव सभी अतिथियों को प्रारंभ में मात्र जलपान कराया गया था, इस पर ओमगुप्ता की टिप्पणी देखिये-'गोष्ठी स्थल पर जो नजारा देखा तो लगा कि किसी लड़की का मुंह दिखाई का मौका था। नमकीन और मिठाई का दौर चल रहा था।' इस तरह का कोई 'दौर' नहीं चल रहा था। यदि ओम गुप्ता के व्यंग्य को नजरअंदाज करें, तो किसी पुस्तक का लोकार्पण या उस पर गोष्ठी सकारात्मक दृष्टि से 'लड़की की मुंह दिखाई' वरन 'वधू की मुंह दिखाई' (इसे बुंदेलखंड में 'मोचायना' कहते हैं, और आजकल यह आवश्यक नहीं है) कही जा सकती है। रचनाकार की रचना उसकी मानस संतान के समान ही होती है, और उस समय के वातावरण में एक शालीनता की उपेक्षा होती है। वही बात 'दिल्ली दिनांक' के लोकार्पण में दिखाई दी थी। और उसमें चाय-बिस्किट दिये गये थे। 'ज़िदगी फ़िर-फ़िर मेरे क़रीब है' पुस्तक की गोष्ठी के मुख्य अतिथि वयोवृद्ध (लगभग 85 वर्ष) तथा ज्ञानवृद्ध साहित्यकार डॉ. विजयेन्द्र स्नातक थे। उनसे तथा देवेन्द्र सत्यार्थी से भी उपस्थित साहित्यकार सुपरिचित थे अतएव उन दोनों का परिचय मात्र कुछ पंक्तियों द्वारा, सामूहिक उद्बोधन द्वारा, न कि अलग अलग कराया गया था। ओम गुप्ता का यह कथन-'गोष्ठी के अध्यक्ष तथा मुख्य अतिथि का परिचय प्रमुख वक्ता, समीक्षक, आयोजक तथा विशिष्ट अतिथियों से कराया गया। बेचारा चाय लाने वाला सोच रहा होगा कि उसका नाम क्यों नहीं लिया गया।' यथार्थ से कतई मेल नहीं खाता। ओम गुप्ता फिर लिखते हैं, 'सब से पहले आयोजक की पत्नी ने पर्चा पढ़ा। उसके माथे का पसीना बता रहा था कि बेचारी सुबह से रसोई में घुसी रही होगी। पर्चे के कागजों से भी ताजा बेसन की खुशबू आ रही थी। उसने पुस्तक में ऐसे ऐसे गुण और तत्त्व ढूंढे जो मुझे किताब में कहीं नजर नहीं आये, लेकिन यह जरूर लगा कि मैं इन विशेषताओं को किसी और संदर्भ में पहले सुन चुका हूं। बेचारे लेखक को भी संकोच हो रहा था कि जितनी सुंदर किताब उन्होंने लिखी नहीं है, उससे कहीं ज्यादा अच्छी समीक्षा की जा रही है। अपनी समीक्षा को ज्यादा प्रामाणिक बनाने के लिये उन्होंने पृष्ठ संख्या उद्धृत करके कई उदाहरण भी जुटाए थे।...मुझे लगा कि मेरी तो बड़ी नौसिखिया तैयारी थी...। इसके बाद आयोजक और लेखक के परम मित्र की बारी थी (नाम में जानबूझकर छोड़ रहा हूं)।' पहली बात तो सबसे पहले प्रथा के अनुकूल आयोजक ही बोले थे, उसके बाद उनकी पत्नी ने पर्चा पढ़ा था। दूसरी बात, जब उन्होंने अपने लेख में मेरा नाम तथा पुस्तक का नाम दे दिया तब आयोजक इत्यादि का नाम देने में क्या एतराज? अर्थात् आयोजक प्रताप सहगल उनके मुझसे भी कहीं बहुत अच्छे मित्र ठहरे, उनकी बदनामी न हो और इस *अशक्त 'सेवानिवृत्त' मिलिटरी (जो साहित्यिक तो हो ही नहीं सकते)* के अफसर की

बदनामी का आनंद भी वे निर्भय होकर लूट लें। उन्होंने अपने लेख 'होना विमोचन एक पुलिस अफसर के हिंदी काव्य संग्रह का' में न तो उस पुलिस अफसर का और न उसकी कृति का उल्लेख किया है और न ऐसी कोई जानकारी दी है जिससे कि वह अफसर इन को पकड़ सके। समर्थ से सभी डरते हैं। ओम गुप्ता के पास अवश्य एक तीसरी आंख है। जबकि उस शाम का सारा भोजन (एकाध अपवाद के अतिरिक्त) बाहर से मंगवाया गया था क्योंकि उस गोष्ठी में लगभग बीस साहित्यिक मेहमान थे। इसलिये डॉ. शशि सहगल को सुबह से रसोई में घुसे रहने की आवश्यकता कतई नहीं थी। उस गर्मी में पसीना सभी को आ रहा था हो सकता है कि पैंट कमीज पहने ओम गुप्ता को ठंड लग रही हो और उन्हें पसीना न आ रहा हो। शशि सहगल के सुविचारित सकारात्मक लेख में ओम गुप्ता को मात्र ताजा बेसन की खुशबू आ रही थी। हो सकता है कि ओम गुप्ता साहित्य की अपेक्षा पकौड़ों के अधिक शौकीन हों, या घर से भूखे ही आए हों। अस्तु! यह तो अपनी अपनी मानसिक स्थिति और ग्रहणशीलता की बात है। ओम की तीन आंखों ने मुझ में जो भी देखा हो, शशि सहगल के पर्चे को सुनकर मुझे खुशी हो रही थी कि उन्होंने मेरे गंभीर यात्रावृत्तों में गहरी पैठ कर उसका आनंद उठाया है। शशि सहगल ने यह भी कहा था कि 'पुस्तक में अन्य लेखकों के समान हताशा, कुंठा तथा शोध न होकर प्रकृति का जीवन का आनंद है। ऐसा नहीं कि वे आज की समस्याओं से न जूझे हों। इनमें एक साहसिक का, अन्वेषक का तथा संवेदनशील चौकन्नेपन का अद्‌भुत संयोग है। आदि आदि'...। प्रमाण भी तो खुले-दिमाग वाले के साथ ही काम करते हैं, पूर्वाग्रही को प्रमाणों से क्या! हां, यह ठीक हो सकता है कि ओम गुप्ता को अपनी तैयारी, शशि की तैयारी के सामने नौसिखिया लगी हो।

ओम गुप्ता आगे लिखते हैं, '...उन्होंने (आयोजक ने) माफी मांगते हुए शुरूआत की कि वे... उन पर (कुछ बिन्दुओं पर) आशु भाषण करेंगे। मेरा शब्द ज्ञान बड़ा ही अकिंचन नजर आ रहा था। मैंने तो हिंदी आठवीं जमात तक पढ़ी थी।... उन्होंने ऐसे गुण बताये जो कि किताब में तो जाहिर में थे ही नहीं।... मसलन वे (विश्वमोहन तिवारी) बहुत अच्छे फोटोग्राफर हैं, उनका विज्ञान का भंडार अपरम्पार है, और उनके बगल में रहते हैं और कभी कभी उन्हें बिना बताये उनका बगीचा भी ठीक कर देते हैं। जाहिर है कि किताब तो अच्छी लिखते ही होंगे।' प्रताप सहगल ने मात्र मेरी प्रासंगिक गतिविधियों का परिचय कराया था क्योंकि उस समय तो मुझे साहित्यिक वर्ग और भी कम जानता था (अभी भी बहुत कम), क्योंकि मेरी उन गतिविधियों यथा फोटोग्राफी, विज्ञान ज्ञान, प्रकृति प्रेम आदि का मेरे यात्रावृत्तों से गहरा संबंध है। ओम गुप्ता की तर्क शक्ति प्रशंसा के योग्य है कि उन्होंने इस सबका निष्कर्ष निकाला कि '... जाहिर है किताब तो अच्छी लिखते ही होंगे', और उस पर भी व्यंग्यात्मक! गौरतलब है कि 'दिल्ली दिनांक' के लोकार्पण में उन्होंने, शायद

इसीलिए, प्रताप सहगल को एक मुख्य वक्ता के रूप में आमंत्रित किया था। आशा है कि अपनी इस गोष्ठी के समय आठवीं जमात तक हिंदी पढ़े ओम गुप्ता को अपना शब्द ज्ञान अकिंचन नहीं नजर आया होगा। मैंने भी हिंदी आठवीं जमात तक ही पढ़ी है, और मैं जानता हैं कि मेरा हिंदी का शब्द ज्ञान वास्तव में अकिंचन है; बस हिंदी में काम ही चला पाता हूं। किंतु शशि तथा प्रताप सहगल की बातें मेरी समझ में आई। प्रताप सहगल ने बतलाया था कि इन यात्रावृत्तों में संस्मरणों, कविताओं तथा फोटो का ऐसा पुट है कि ये यात्रावृत्तों का नया रूप तथा नई शैली प्रस्तुत करते हैं।

ओम गुप्ता आगे लिखते हैं, 'फिर आयी मेरी बारी। मैंने कहा, मैं अपने आयोजक मित्र को एक राय देना चाहता हूं। ऐसी गोष्ठियों में दो ही पर्चे पढ़े जाना चाहिये।' इसी राय के तहत ओम गुप्ता ने अपनी पुस्तक 'दिल्ली दिनांक' की लोकार्पण गोष्ठी के लिये गिरिधर राठी तथा मंगलेश डबराल से ही पर्चे पढ़ने का अनुरोध किया था। यह तो उनका दुर्भाग्य कि वे दोनों ही गोष्ठी में नहीं आ सके, हो सकता है कि यह उनका सौभाग्य हो।

ओम गुप्ता ने आगे कहा, 'पुस्तक में जितने गुण थे वे सब तो इन्होंने (आयोजक ने) गिनवा ही दिये। अब मेरे पास दोषों के अलावा कुछ बचा ही नहीं था। लिहाजा मेरी टिप्पणी को मतांतर कह लीजिये या फिर किसी शैतान के वकील की वकालत। फिर मैंने क्षमायाचना के स्वर में किताब की उन बुराइयों को सुनाना शुरू किया जो मेरी राय में उसे हल्का बनाती थी। मैं बोलता जा रहा था और लेखक तथा अन्य उपस्थित साहित्यकारों की भृकुटियां तनती जा रही थीं।... मुझे अपनी गर्दन और पीठ पर लोगों की जलती हुई आंखें अंगारों की तरह चलती हुई महसूस हो रही थीं।...मैंने बोलना बंद कर दिया। एक भी ताली नहीं बजी। जबकि पहले वाले वक्ताओं ने इतनी तालियां अर्जित की थीं कि मानों उन्होंने समीक्षा नहीं कोई मौलिक रचना पढ़ी हो।'

गौरतलब है कि इसके पूर्व जितने भी गुणों का वर्णन हुआ था वे ओमगुप्ता की नजर में पुस्तक में थे ही नहीं। और अब वे बोले 'पुस्तक में जितने गुण थे वे सब तो इन्होंने गिनवा दिये थे।' यह तो जाहिर है कि अपने इस लेख में ओम गुप्ता ने मेरी पुस्तक के गुणों का वर्णन नहीं किया है-कहीं पाठक सत्य न पहचान लें। मात्र व्यंग्योक्तियों द्वारा पुस्तक तथा सभी साहित्यकारों (एक अपवाद) की पूरी गोष्ठी की खिल्ली उड़ान का प्रयास किया है। क्यों? क्योंकि वे जानते हैं कि निंदारस का आनंद लेना तथा देना सरल है, फिर हिंदी की गोष्ठियों की हिंदी के लेखकों की निंदा तो (अंग्रेजी की तो बात ही न की जाय, मैंने तो उसकी प्रशंसाएं ही सुनी हैं) अन्य भाषाओं की निंदा की तुलना में अधिक रस देती है। और यह भी हो सकता है कि निंदा करने वाला उस क्षण अपनी हीनता-बोध की ग्रन्थि से मुक्त हो जाता है, या अपनी 'महानता ग्रन्थि' का आनंद लूटता है। मैं उनकी तीसरी आंख की अद्भुत

शक्ति का बखान कर चुका हूं। यहां भी जब ओम गुप्ता बोल रहे थे तो अनेक साहित्यकारों को आनंद आ रहा था, और अनेक उनके बोलों की प्रामाणिकता पर विचार कर रहे थे। जब तक उन्होंने निंदा की मैंने उसे सहज रूप में ही, वरन कह सकता हूं कि सानंद ही सुना। मैं तो अंग्रेजी की एक कहावत-'जज नॉट लेस्ट ये बी जज्ड'-के अनुसार इनके निष्कर्षों के आधार पर इन पर, इनकी मानसिकता पर, विचार कर रहा था। ओम गुप्ता ने यह भी कहा था कि यह पुस्तक योजनाबद्ध शैली में नहीं लिखी गई है, यद्यपि ये ज्ञानवर्धक हो सकते हैं। लेखों की अन्विति में तारतम्य नहीं है अतएव पढ़ने में कठिनाई होती है। यद्यपि इन्होंने इस लेख में ऐसा नहीं लिखा, तथापि यह भी सच है कि इन्होंने बुराइयां गिनाने के बाद एक अद्भुत प्रशंसा भी की थी-उन्होंने कहा था कि 'इन भ्रमणवृत्तों में गहन चित्रात्मकता है और इन पर फिल्म बनाई जा सकती है।' यह सुनकर मुझे बहुत खुशी हुई थी यद्यपि मैं अच्छी तरह जानता था कि मेरे जैसे बाहरी तथा 'अनजान' व्यक्ति की रचना पर आज के बाजारू जमाने में कोई भी फिल्म नहीं बनाएगा। इस आरोप के जवाब में अंत में मैंने कहा था कि ये यात्राएं योजनाबद्ध नहीं थीं। यात्रा पर जब जाता हूं तब खुली दृष्टि लेकर, कोई योजना लेकर नहीं, जाता हूं। यदि इनमें कहीं तारतम्यता है तो मेरे व्यक्तित्व की है। किंतु मैं स्वयं अभी जीवन का अन्वेषण कर रहा हूं। इसलिये तारतम्य पाना कठिन है। इनके व्याख्यान के बाद भी जोरदार तालियां बजी थीं जो शायद इनकी आंख तथा पीठ पर दहक रहे (काल्पनिक ही सही) अंगारों के कारण इन्हें न दिखाई दीं और न सुनाई दीं। दिल्ली में यह कैसे हो सकता है कि शैतान के वकील की वकालत हो और वो मुकद्दमा न जीते!

ओम गुप्ता आगे लिखते हैं, कि पहले वक्ता ने बोलना शुरू किया कि 'मुझे तो किताब कल ही मिली थी। मैं तो एक ही अध्याय पढ़ पाया हूं। किताब निश्चित रूप से पठनीय है। एक बार उठा लो तो मजाल है कि बीच में उसे छोड़ दें। वो अलग बात है कि मेरे पास समय नहीं था। ...इन्हें और लिखना चाहिये। इनके पास भाषा है, विचार हैं।...' यह वक्ता थे मुख्य अतिथि स्नातक जी। उन वृद्धाश्रवा का मेरे जैसे अनजान लेखक की पुस्तक के लोकार्पण में आकर शोभा बढ़ाना ही मेरे लिये हर्ष तथा गौरव का विषय था, फिर तो वे एक दिन के अंतराल में एक अध्याय पूरा पढ़कर आए थे विशेषकर इस उम्र में भी उनके स्वास्थ्य तथा उनकी व्यस्तता को देखते हुए तो और भी। स्नातक जी ने यह भी कहा था कि ये यात्रावृत्त कविता के समान आनंद भी देते हैं। वे आगे लिखते हैं, 'इसके बाद दूसरा वक्ता... जिसे सुनाई भी कम पड़ता था और दिखाई भी, वो भी किताब पढ़कर नहीं आया था।' यह दूसरा (?) वक्ता देवेन्द्र सत्यार्थी थे। जबकि पुस्तक के शीर्षक पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि इस पुस्तक में 'ज़िंदगी' है। 'दिल्ली दिनांक' के एक लेख 'अभी तो नया साल शुरू हुए...' में अपनी बात को उदाहरणों से स्थापित करते हुए ओम गुप्ता

कहते हैं, 'लेकिन धीरे-धीरे 60 के बाद जीवन बेमायने लगने लगता है।' ऐसे सिद्ध अवलोकन वाले लेखक-पत्रकार को 85 वर्ष की वय वाले स्नातक तथा देवेन्द्र सत्यार्थी की जीवन्तता का सम्मान नहीं तो प्रशंसा तो अवश्य करनी थी न कि व्यंग्य द्वारा उन्हें हल्का दिखाना। मुख्य अतिथि को उन्होंने पहला वक्ता कहा, जबकि न केवल स्वयं इसके पूर्व वे तीन वक्ताओं पर टिप्पणी कर चुके थे और मुख्य अतिथि अध्यक्ष (और कभी कभी विषयगत लेखक) के पहले ही अपनी बात रखते हैं। इनके पहले उन तीन के अतिरिक्त आठ या नौ वक्ता बोले थे। इस गोष्ठी में, यदि मुझे ठीक याद है तो, ओम गुप्ता के पहले डॉ. हरीश नवल बोले थे। नवल ने कहा कि उनकी समझ में ये यात्रावृत्त प्रेरणादायक हैं, जानकारी तथा ज्ञान के साथ भविष्य में भी झांकते हैं। इनमें उनके कविता, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, प्रकृति संरक्षण, कला की संवेदनशीलता तथा संस्कृति की समझ आदि के अतिरिक्त उनके अन्दर का समाजशास्त्री बड़े ही जीवंत रूप में उभरता है। पता नहीं, सम्भवत: हरीश नवल की बेलाग तथा खुली प्रशंसा (यह तो पाठक ही बताएं कि सच्ची है या नहीं) ने ओम गुप्ता को प्रेरणा दी होगी। ओम गुप्ता अपने छोटे से लेख में सिवाय बुराइयों के अच्छाइयां कैसे लिखते! जगदीश चतुर्वेदी ने कहा था कि राहुल सांकृत्यायन की ही तरह विश्वमोहन पूर्व निर्धारित धारणाओं को लेकर घूमने नहीं निकलते, उनके पास कलाकार की आंख है। श्रवण कुमार ने मुद्रण गलतियों को गिनाने के बाद पुस्तक के नाम से अपना असंतोष व्यक्त किया था। डॉ. नरेन्द्र मोहन ने कहा था कि इन यात्रावृत्तों में उन्हें संस्कृति के तत्व नहीं मिले किंतु पुस्तक की पठनीयता तथा ज्ञान के भंडार को तो स्वीकारना ही पड़ेगा। डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना ने कहा कि इस नवीन शैली तथा कथ्य भरे यात्रावृत्तों को परखने के लिये हमें नए उपकरणों की आवश्यकता है। डॉ. दिविक रमेश ने कहा कि इन यात्रावृत्त नामक रचनाओं में विश्वमोहन तिवारी की संवेदनशीलता तथा बहुमुखी प्रतिभा स्पष्ट है। डॉ. सुरेश धींगड़ा ने इस पुस्तक में विश्वमोहन तिवारी की व्यापक दृष्टि में निहित विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, जीव विज्ञान आदि विपुल मात्रा में मौजूद बतलाये। डा. रेखा रस्तोगी ने एक लंबा शोधात्मक पर्चा पढ़ा जिसमें उन्होंने बतलाया कि इसके 16 यात्रावृत्तों में घुमक्कड़ लेखक की 16 दृष्टियां हैं। उदाहरण के लिये उन्होंने कहा कि यात्रावृत्त 'लहवामिन्दो' जंगली फूलों के बहाने वहां के गड़रियों के सुखी जीवन की कथा के समान रोचकता के साथ प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त और भी साहित्यिक थे जिन्होंने टिप्पणियां की थीं, डा. विनय, मजदूर नेता तथा लेखिका रमणिका गुप्ता, दिनेश पंकज, वीरेन्द्रनाथ मिश्र, केवल सूद, सुरेश ऋतुवर्ण, विनोद शर्मा, अश्विनी पाराशर, कंवलजीत, राजेन्द्र सहगल आदि। 'जिंदगी फ़िर फ़िर मेरे क़रीब है' पुस्तक की गोष्ठी की संक्षिप्त रिपोर्ट 'यूनिवर्सिटी टूडे' के 15 जून 93 के अंक में भी प्रकाशित हुई थी। यदि हम, तर्क के लिये, यह उनका गलत निष्कर्ष कि वह गोष्ठी बहुत घटिया रही, सही भी मान लें, तब भी केवल एक गोष्ठी

के आधार पर हिंदी की सारी (अधिकांश?) गोष्ठियों को हिंदी साहित्य का श्राद्ध पर्व किस तर्क के आधार पर कहा जा सकता है!! और यदि ये स्वयं अपने तर्क को सही मानते हैं, तब इन्होंने अपनी पुस्तक 'दिल्ली दिनांक' की गोष्ठी (श्राद्ध पर्व) क्यों आयोजित की? क्या शैतान के वकील की वकालत ऐसी ही होती है!

इस सारे लेख के ओम गुप्ता के कथनों में विसंगतियां तथा आत्मविरोध के अनेकानेक उदाहरण हैं (मैंने कुछ ही उद्धृत किये हैं), किंतु यह कथन-मुख्य अतिथि तथा अध्यक्ष पहले तथा द्वितीय वक्ता थे-तो स्मृतिभ्रम तथा सोच व्यतिक्रम भी दर्शाता है। और जैसा कि इन्होंने आगे लिखा है वह भी इन भ्रमों को पुष्ट करता है, -'...एक नौकर ट्रे में गिलास तथा व्हिस्की लाता हुआ दिखायी दिया। समीक्षकों ने एक बार लेखक को बीच में बैठाया उसे जबरदस्ती दारू पिलायी और अब उसकी इतनी तारीफ की मानो जो कुछ उन्होंने इसके पहले कहा था वह बिलकुल झूठ हो...काफी देर तक यह सिलसिला चलता रहा।' पहली बात तो यह कि, देवेन्द्र सत्यार्थी जो अपने साधनों से आ तो गये थे, उन्हें उनके घर शीघ्र पहुंचाने का जिम्मा किसी अन्य को न देते हुए स्वयं मैंने लिया था। औपचारिक गोष्ठी बहुत देर तक चली थी। (साढ़े सात पौने आठ बजे तक) देवेन्द्र सत्यार्थी अविलंब जाना चाहते थे और मैं गया था। एक पैग भी सामान्य ढंग से पीने का समय नहीं था तब यह 'जबरदस्त दारू पिलाने' का क्या अर्थ? चूंकि ओम गुप्ता उस झूठी प्रशंसा करने में शामिल नहीं थे, और वे काफी देर 'उस सिलसिले' में शामिल थे तो, मेरा अनुमान है कि, अपनी मौलिक टिप्पणियों की खुशी में तथा लगभग सभी को छोटा-खोटा सिद्ध कर सकने की खुशी में उन्होंने भी कुछ ज्यादा ही दारू पी ली होगी। यहां तक तो ठीक है, इस पर किसी भी मेजबान को आपत्ति नहीं, खुशी ही होगी फिर मेरा अनुमान है (तीसरी आंख नहीं) कि घर जाकर उन्होंने उसी मस्ती में यह लेख लिखा जिसमें उन्होंने हिंदी साहित्य के स्वकल्पित श्राद्ध पर महापंडित की यह भूमिका निभाई।

□

# यथार्थ से आक्रांत कविताएं

## कुमार पंकज

युवा कवि संजय कुंदन का पहला कविता संग्रह 'कागज के प्रदेश में' 'हाल ही में किताबघर प्रकाशन से आया है। युवा कवि कुंदन उन थोड़े से कवियों में हैं जिन्होंने कम समय में कविता के क्षेत्र में काफी अच्छी पहचान बनायी है। इसका कारण यह रहा है कि कुंदन ने अपनी कविता का जो कार्यक्षेत्र बनाया है उसमें उनका दैनिक यथार्थ शामिल है जो शायद बहुत कम कवियों के साथ देखने को मिलता है। कुंदन जिस दैनिक यथार्थ में अपनी कविता बुनते हैं उनमें उनके ईर्द-गिर्द वो चीजें शामिल हैं जिससे आए दिन लोगों का पाला पड़ता है जो उनकी कविता 'मकान मालिक' में बड़ी सहजता के साथ देखा जा सकता है—

*वे कुशल सौदागर की तरह*
*तराशते हैं अपनी भाषा*
*वे सोचते हैं*
*पूरी दुनिया उनकी ही किराएदार है*
*अपने शहर को*
*उन्होंने ही बचाया है*
*शरणार्थी शिविर में तब्दील होने से।*

इस प्रकार की कविताओं से कुंदन ने यथार्थ का परिचय कराया है। संग्रह में शामिल कई कविताएं ऐसी हैं जो आम आदमी के जीवन से काफी ताल्लुक रखती हैं। जैसे कागज डॉक्टर, बुखार में, छोटा भाई, एक और घर की तलाश, मकान मालिक आदि ऐसी कविताएं हैं जो आम आदमी आसानी से उसका बोध कर सकता है। कहावतें कविता में कवि ने इतनी सहजता से शब्दों को रूप दने का प्रयास किया है—

*कितना हंसोड़ रहा होगा वह आदमी*
*जिसने एक ऊंट के साथ*
*मजाक किया होगा*
*उसके मुंह में जीरे का एक दाना रखकर।*

इस प्रकार की कविताओं से साफ तौर पर जाहिर है कि वह नए प्रयोग करने में काफी माहिर हैं। नए आविष्कार उनका सबसे सशक्त माध्यम हैं। वह चाहते हैं कि हर शब्द कुछ नवीनता के साथ पाठकों के सामने रखा जाए। हर पंक्ति नए अर्थों में पाठकों को आकर्षित करे। कवि चाटुकारिता से दूर है। प्रकृति की नजदीकियां अच्छी तो हैं लेकिन अतिवादिता नहीं आती। कल्पना से दूर, सच की अभिव्यक्ति कुंदन का सबसे बड़ा हथियार है। शीर्षक कविता 'कागज के प्रदेश में' कवि ने यथार्थ को सबसे बड़ा माध्यम बनाया है। तभी तो वे लिखते हैं—

*बेचैन थी कुछ नदियां*
*क्योंकि कागज के प्रदेश में ही*
*सुरक्षित थी उनकी चौहद्दी*
*उदिग्न थे कुछ पेड़*
*क्योंकि उनके पूर्वज*
*अब भी जीवित थे उस प्रदेश में।*

कवि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह हताश तो है लेकिन बेचैनी नहीं है। वे अपने दैनिक जीवन में भी बेचैन नहीं दिखायी देते। आरामतलब सबसे बड़ी खासियत है। और वही रूप उनके पूरे संग्रह में दिखायी देता है। जैसा कि आज कविता में हो रहा है लोग कल्पना के माध्यम से शब्दों को कागज पर उकेर देते हैं और वे उसे अपनी सबसे बड़ी रचना मान बैठते हैं। यही आज की कविता की सबसे बड़ी त्रासदी है लेकिन कुंदन उस चीज से काफी दूर दिखायी देते हैं। कुंदन अपने अनुभवों से यथार्थ में जीते दिखायी पड़ते हैं। उनकी हर रचना एक बौद्धिक तैयारी के साथ जुड़ी हुई है कहीं कोई फूहड़ता नहीं है न ही यथार्थ से दूर इसलिए कोई भी कविता जल्दी अपनी जगह बना लेती है। जैसे 'दीवारें' कविता को पढ़ने से लगता है—

*शहर में दीवारें तेजी से*
*बढ़ती जा रही थी*
*हम चलें एक छत की तलाश में*
*आकर फंस गए दीवारों के तिलिस्म में।*

संजय कुंदन की कविताओं को पढ़ने से लगता है कि वह किसी तिलिस्म में नहीं फंसे हैं बल्कि अपनी रचनाओं से प्रमाणित करते हैं कि न वह यथार्थ से आक्रांत है, न वह यथार्थ को आक्रांत करना चाहते हैं। इसलिए वह अपनी रचनाओं के माध्यम से सामूहिक 'स्वप्नलोक' में ले जाने की बात करते हैं। स्मृति के जरिए जिस यथार्थ का वह बोध करा रहे हैं वह इस बात का प्रमाण है कि वह आज की कविता से अलग हट कर है और तभी वे अपनी आलग पहचान बना पाते हैं।

□

**कागज के प्रदेश में (कविता संग्रह)/संजय कुंदन/प्रकाशक, किताबघर, नई दिल्ली-110002 मूल्य-100/-**

# मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूं
# एक उद्घोषक की आत्मकथा

## अशोक राही

*"जो सुनना है, तो सुन मेरी ज़ुबां से दास्तां मेरी*
*न जाने कहने वाले रंग क्या दे दें फ़साने को"*

अपनी ज़िंदगी की परतों को ताश के पत्तों की तरह खोलना आसान बात नहीं है। जीवन की किताब में न जाने क्या-क्या लिखा होता है। कुछ ऐसा जिसे पढ़ कर ज़माना हंसता है, कुछ ऐसा जिसे सुनकर दोस्त भी नाराज़ हो सकते हैं। दरअसल आत्मकथा लिखना आसान काम नहीं है, आत्म-कथा लेखक को उन सारी स्मृतियों को टटोल-टटोल कर वक्त के गहरे तहखाने में से निकालना पड़ता है। कुछ स्मृतियों को आदमी सहेज कर रखता है और बहुत सारी यादें आदमी के मस्तिष्क में रद्दी अखबार की तरह छितरी पड़ी रहती हैं।

वाचिक परम्परा के सफल साधक जसदेव सिंह ने अपनी आत्मकथा "मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूं" में अपने स्मृति-सागर से यादों को सीप में छिपे मोतियों की तरह चुना है। इसलिए उनकी किताब में एक ऐसे संघर्षशील सिख युवक की कथा मिलती है जिसने किशोरावस्था में ही अपनी मंजिल न केवल चुन ली थी, वरन् उस मंजिल तक पहुंचने का सपना भी संजो लिया था—

*"जब से चला हूं, मंजिल पे निगाह है*
*आंखों से कभी मील का पत्थर नहीं देखा"*

अपनी आवाज़ के दम पर भारत ही नहीं बल्कि विश्व भर में अपनी खास पहचान बना लेने वाले जसदेव सिंह का नाम हिंदी उद्घोषक परम्परा में एक मिथक

की तरह लिया जाता है। आज भी लाखों-करोड़ों हिंदी भाषा-भाषी, रेल बस में यात्रा करते या किसी सार्वजनिक समारोह में जसदेव सिंह की आवाज सुनते ही अचानक चौंक पड़ते हैं और उनसे पूछते हैं कि आप जसदेव सिंह हैं न, वहीं खेल उद्घोषक, जिनकी आवाज इस देश की फिज़ा में पिछले पचास वर्ष से गूंज रही है।

अपनी आत्मकथा "मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूं" की शुरूआत करते हुए वे कहते हैं- "हर व्यक्ति का जीवन एक सफर होता है। उसमें अनेक उतार-चढ़ाव आशाओं निराशाओं का सामना करना पड़ता है। मैं भी इसका अपवाद भला कैसे रहता? संतोष यही रहा कि बिना सोचे-समझे, भावुकता में जो संकल्प लेकर मेरी यह यात्रा शुरु हुई थी, वह पूरा हुआ। मन में जिसका कभी विचार भी नहीं आया था, वह भी अपने आप ही मिल गया। मार्ग में जहां बाधाएं, समस्याएं और कठिनाइयां आईं, वहीं जाने-अनजानों का प्रेम, सद्भाव, और संबल भी मिला। पीड़ाएं मिलीं, तो प्रसन्नताओं की कमी भी नहीं रही। कड़वे मीठे अनुभव भी खूब ही हुए। गोस्वामी तुलसीदास जी ने सत्य ही कहा है—

*सुनहुं भरत भावी प्रबल*
*बिलखि कहेंउ मुनि नाथ।*
*हानि लाभ, जीवन, मरण*
*यश-अपयश विधि हाथ।।*

आत्मकथा में जसदेव सिंह की बचपन की स्मृतियां एक रोचक कथा की तरह सामने आती हैं-चूल्हे की चपाती, जौ-चने के आटे की रोटी, लाल मिर्च, गुड़, अमचूर और जीरे की चटनी का स्वाद,.लालटेन की रोशनी, छाछ-मक्खन का खाना, भाप के इंजन वाली रेलगाड़ी, कबड्डी और रस्साकसी के खेल के वर्णन में जसदेव सिंह पाठकों का साक्षात्कार उस अनूठी दुनिया से कराते हैं जो कि अब सचमुच साठ पैसठ बरस पीछे छूट चुकी है।

*वक़्त के सीने में रह जाती हैं यादें बाक़ी*
*जैसे कुछ कीलें गड़ी रहती हैं दीवारों में*

विश्व भर की सर्वोच्च खेल, प्रतियोगिताओं और आठ ओलम्पिक खेलों में खेल उद्घोषक का दायित्य निबाहने वाले जसदेव सिंह ने पहली बार माइक्रोफोन का सामना तब किया जब उन्हें सेवानिवृत्त सैनिकों की रैली का प्रचार करने के लिए एक फौजी ट्रक में घूमना पड़ा। गांव-गांव, ढ़ाणी-ढ़ाणी घूमने से प्रारंभ हुआ ये सफर कालांतर में विश्व के अनेक देशों की यात्रा में बदल गया।

जसदेव सिंह की आत्मकथा विश्व भर में किसी रेडियो या टी.वी. के उद्घोषक द्वारा लिखी पहली पुस्तक है। इस किताब में स्मृतियों का जैसे एक सैलाब है। निसंदेह जिस तरह अपनी यादों को कलम के माध्यम से लिपिबद्ध करते हुए जसदेव उनमें

सराबोर हुए होंगे तकरीबन वैसे ही पाठक उनमें डूबता उतराता रहता है। एक साधारण उद्घोषक से दूरदर्शन के उपमहानिदेशक (खेल) के पद तक पहुंचने का सफर आसान नहीं था। जसदेव सिंह ने इस सफर का बेवाक चित्रण किया है। प्रसारण की दुनिया के दांव-पेंच और दोस्तों द्वारा की गई सहायता का उल्लेख करने में जसदेव सिंह ने कतई कंजूसी नहीं बरती है। उनके संस्करणों में उनके अनेक संगी साथी और अधिकारी कथा पात्रों की तरह सामने आते हैं। जसदेव सिंह ने चीजों को श्वेत-श्याम एक आयामी रूप में नहीं बल्कि रंगीन, बहुआयामी ढंग से प्रस्तुत किया है। और सिद्ध किया है कि जिसके पास वाचिक भाषा होती है वह कुशल लेखक भी हो सकता है।

*कितनी यादें, कितने किस्से नक्श हैं इन दीवारों पर,*
*चलते-चलते देख लें मुड़ कर, कौन यहां फिर आएगा—*

"मैं जसदेव सिंह बोल रहा हूं" में इन्होंने अपने जीवन पर्यन्त अनुभव का निचोड़ भी युवा उद्घोषकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। "कमेन्ट्री क्या है" अध्याय में जसदेव लिखते हैं—

"कमेंट्री किस अवसर या कार्यक्रम अथवा समारोह की है, उसे देखते या सुनते समय श्रोता की अपेक्षा और मन: स्थिति कैसी होगी, कमेंटेटर को उसका अनुमान होना बहुत आवश्यक है। यदि गणतंत्र या स्वाधीनता दिवस है तो कमेंट्री में राष्ट्रप्रेम की भावना का पुट होना चाहिए। .... यदि कमेंट्री किसी धार्मिक उत्सव या पर्व की हो तो उसके शब्द या शैली ऐसी हो, जिससे श्रोताओं की भक्ति और श्रद्धा भावना को बल मिले। उन्हें लगे कि वे स्वयं उस पूजा और भक्ति स्थल पर मौजूद हैं।

यदि खेल की कमेंट्री है तो शब्दों के माध्यम से खेल का उतार-चढ़ाव, मैदान का वातावरण और सफलता-असफलता के क्षणों में खिलाड़ियों और दर्शकों की प्रतिक्रिया श्रोताओं तक इस तरह पहुंचनी चाहिए, जिससे वे भी मैदान में बैठे खेल देख रहे दर्शकों की तरह खेल का आनंद ले सकें।

एक कमेंटेटर के पास अच्छी आवाज, अच्छी भाषा उपयुक्त शब्दावली, सही उच्चारण और तेज़ निगाह के साथ धारा प्रवाह बोलने की क्षमता के अतिरिक्त जिस अवसर या खेल की कमेंट्री करनी है उसका विस्तृत ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। खेल हो या कोई अन्य कार्यक्रम, वहां उपस्थिति समुदाय द्वारा जो तालियां बजाई जाती हैं या हर्ष ध्वनियां अथवा गीत संगीत होता है, इन आवाजों और ध्वनि प्रभावों का समुचित और सही स्थान पर उपयोग, कमेंट्री को रूचिकर, आकर्षक और समृद्ध बनाता है।....लगातार बोलते चले जाना ही समेंट्री का तात्पर्य नहीं होता। अच्छी कमेंट्री किसी भी दृश्य या धटना को दर्शक और श्रोता के लिए और भी जीवंत बना देती है। आवश्यकतानुसार खामोश रहना भी कई बार कमेंट्री को सौंदर्य प्रदान करता है।"

अपनी आत्मकथा में जसदेव सिंह कई रूपों में उपस्थित हुए हैं। एक दृढ़ संकल्प पंजाबी भाषी युवक जो हिंदी का उद्घोषक बनना तय करता है। एक खेल प्रसारण अधिकारी जो इस क्षेत्र की खींचतान और व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा को बेबाकी से उजागर करता है और एक सहज मित्र जो इस क्षेत्र में रुचि रखने वाले नवयुवकों का मार्ग दर्शन करता है। जसदेव सिंह के अनेक संस्मरण दिल को छू जाते हैं, विशेषकर आपरेशन ब्ल्यू स्टार के पश्चात् उनका स्वर्ण मंदिर जाना, श्रीमती गांधी की हत्या के पश्चात् का समय, अंतरिक्ष उड़ान के वक्त और ननकाना साहब से गुरु नानक देव जन्मोत्सव की की गई उद्घोषणा।

जसदेव विश्व के पहले उद्घोषक हैं जिन्हें सम्मानित *''ओलंपिक ऑर्डर''* से सम्मानित किया गया। इस सम्मान के प्रशस्ति-पत्र में कहा गया था—'आप (जसदेव सिंह) शब्दों की शक्ति को पहचानते हैं और खेलों के लिए उनका सुंदर और सही उपयोग भी करते हैं।'

जसदेव सिंह की आत्मकथा की भूमिका में प्रख्यात साहित्यकार, कमलेश्वर ने लिखा है। ''राजस्थान के छोटे से गांव में जन्में जसदेव सिंह खेल जगत के जाने पहचाने व्यक्ति तो हैं ही, साथ ही अपने अंदाज और आवाज़ से लाखों-करोड़ों भारतीयों के चेहते भी हैं। जसदेव सिंह यह पुस्तक अंग्रेजी में भी लिख सकते थे, लेकिन उन्होंने इसे हिंदी में लिख कर हिंदी के प्रति अपना समर्पण दिखाया है।''

जसदेव सिंह ने बिना लाग लपेट, सम्पूर्ण सत्य, साहस और विनम्रता से अपने जीवन की परतें खोल कर अपने श्रोताओं और पाठकों को स्नेह उपहार दिया है। जसदेव सिंह की पुस्तक के मुख पृष्ठ पर छपा यह शेर एक दास्तां कहता नजर आता है-

*क्या तआरुफ पूछते हो दोस्तो*
*मैं मोहब्बत का सुरीला साज हूं।*
*जिस पे हैं नजरें इनायत आपकी*
*मैं उसी जसदेव की आवाज़ हूं।*

□

# एक अलक्षित से कवि की श्रेष्ठ कविताएं

## उत्पल बैनर्जी

'सत्य वहां सुरक्षित है' स्वर्गीय श्रीकांत जोशी का पांचवां तथा अंतिम कविता संग्रह है। अपने पिछले चार कविता-संग्रहों के मुक़ाबले इस संग्रह की कविताओं का स्वर नितांत अलग तथा विस्मयकारी है। पिछले संग्रहों में जहां क़स्बाई परिवेश और जनपदीय सम्वेदना की कविताओं का बाहुल्य था, वहीं इस संग्रह की कविताओं में नवमध्यवर्ग प्रेक्षण का केन्द्र बिंदु है। संग्रह की अधिकांश कविताएं अपेक्षाकृत मुखर हैं तथा भाषा का मिज़ाज बेहद तल्ख़। वस्तुत: अधिकांश कविताएं मैटर आफ़ फ़ैक्ट' की कविताएं हैं। व्यक्तिगत जीवन में कवि के परम वैष्णव होने के बावजूद ये कविताएं प्रसादात्मकता के अतिरेक तथा वैष्णव-वायवीयता से मुक्त; प्रबल जनधर्मी कविताएं हैं, जो जख्मों पर मलहम नहीं लगातीं और न ही सर्वव्यापी तमस का मातम मानती हैं। बल्कि हमें संघर्ष के लिए तैयार करती हैं. ये छद्मों का पर्दाफ़ाश कर वैचारिक रूप से प्रतिरोध के लिए उकसाती हैं। अपने वर्तमान में पूर्ण सजगता के साथ जीते हुए भविष्य की ओर जाने का सामर्थ्य ही श्रीकांत जोशी को अपने समकालीनों के अकेलेपन के रुदन में शामिल होने से बचाता है; उन्हें अतीत हो जाने के ख़तरे से मुक्त करता है। समय और परिवेश के निर्मम विश्लेषण, अनुभूति की सघनता, जनोन्मुखता एवं रचना के कलात्मक उत्कर्ष के कारण इस संग्रह को श्रीकांत जोशी का सर्वश्रेष्ठ कविता-संग्रह कहा जा सकता है।

समाज में कई बार ऐसी परिस्थितियां निर्मित हो जाती हैं कि जब वक्रोक्ति से काम नहीं चलता; तब रचनाकार अपशक्तियों से सीधे-सीधे टकराने को विवश हो जाता है। परिवेश के क्रिया व्यापारों में वह अपनी रचना के ज़रिए जीवंत हस्तक्षेप करता है। यह वैचारिक हस्तक्षेप ही अपार जनमानस को कविता से बाहर आकर जीवन संघर्ष में शामिल होने की तासीर देता है। ऐसे में रचनाकार कविता के

कलात्मक प्रयोजनों, अर्थ की महीन वक्र मुद्राओं की चिंता न करते हुए अपने मूल उद्देश्य के प्रतिफलन को ही महत्व देता है। यहां तक कि वह शास्त्रीय मानदण्डों के बरअक्स रचना की मुखरता के ख़तरे की भी परवाह नहीं करता। महाकवि निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, मुक्तिबोध, पाब्लो नेरुदा, नाज़िम हिकमत और सुभाष मुखोपाध्याय सरीखे कवियों में भी इस तरह की मुखरता हमें दिखाई देती है। काव्य-प्रयोजन के क्लासिक द्वन्द्वों पर हम यदि न जाएं तो एक सार्थक रचना ही हमें अपने आप से मुक्त करके गहरे अर्थों में जीवन के घमासान की ओर उकसाती है। 'अपरिचितों का विश्वास' कविता देखिए-''मैं जो हूं तो कह सकता हूं/ बाज़ार एक धोखा है। और कारख़ाना गुण्डों का अड्डा/ संसद देश को बेचने वाले चंद सौदागरों ने ख़रीद ली है/ और दवाख़ाने/ज़हर को रुपयों में बदलने की जगहें हैं/ सब जानते हैं/ मैं जो कह सकता हूं उसे वे भी महसूस करते हैं/ पर वे लोग चुप रह देखते रहते हैं-गूंगों की तरह/'' यह जो धिक्कार और चुनौती का माद्दा है; यह कवि की नैतिकता और आत्मबल की वजह से है। अराजक व्यक्ति ऐसा साहस नहीं दिखा सकता। रचनाकारों के छद्म पर प्रहार करती इसी कविता के एक अंश की मारक क्षमता देखिए-''व्यर्थ नहीं क़लम हाथ में/ मैं जिस जगह हूं वह बहुत-से लोगों के पास नहीं/ मैं कहना चाहता हूं यह ग़लत है/ और कह देता हूं। मैं कहना चाहता हूं यह ग़लत नहीं/ और कह देता हूं। कितने लोग ऐसा कर सकते हैं? वे लोग भी/ जो क़लम थामे हैं दशकों से कहां कह पाते हैं इस तरह?'' श्रीकांत जोशी ने छद्म रचनाकार और रचनाकार के छद्म के प्रश्न को उठाकर एक बार फिर हम सभी को आत्म निरीक्षण की चुनौती दी है। निश्चित रुप से आढ़तिये और बिचौलिये क़िस्म के रचनाकारों के बाहुल्य ने साहित्यिक परिवेश में एक क़िस्म की अराजकता की सृष्टि की है। साहित्य में जो बाज़ारवाद घुस आया है; उसमें इन लोगों का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है।

इस संग्रह में भली-भली-सी लगने वाली संभवत: एक भी कविता नहीं है कि जिसे पढ़कर *'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'* की अनुभूति हो सके। वस्तुत: ये कविताएं जीवन और अन्तरात्मा में फैलते जा रहे उजाड़ के भयावह का महीन विश्लेषण कर हमारी सम्वेदनविहीनता का मार्मिक दस्तावेज़ बन जाती हैं। यह हमारे 'अच्छे-अच्छे' के 'नॉस्टेलिज़िक फ़ेथ' को भी तोड़ती है। 'आवाज़ें; शवयात्रा में'' वे लिखते हैं-''सोचता हूं आतंकियों, हत्यारों, गुनहगारों से/ अपने ईश्वर, खुदाओं और गॉड्स का अच्छा-खासा तालमेल है। वह इन्हीं के जरिए वक्त को खुशहाल रखता है/'' यह आज के घनघोर साम्प्रदायिक तमस का बहुत उजला और सटीक बिम्ब है। 'सत्य वहां सुरक्षित है' 'वे लोग हमारे लिये आए थे', 'बातचीत राम से', 'उत्तर दिशा का प्रश्न' आदि इसी भावभूमि की कविताएं हैं जो श्रीकांत जोशी की रचनात्मकता के नवीन आयाम को प्रकट करती हैं। संग्रह के दूसरे खण्ड में मिलीजुली अनुभूतियों की कविताएं हैं। इसमें जहां एक ओर जनसंघर्ष को स्वर देती कविताएं हैं तो वहीं प्रकृति

के अनूठे बिम्ब भी हैं। उत्तरकाल की कुछ कविताएं भी हैं; जिनमें मृत्यु जैसे कम प्रचलित विषय पर भी कुछ कविताएं हैं। स्वभावत: इस खण्ड की कविताओं की भाषा का तेवर अपेक्षाकृत भिन्न है। इनमें जो आशा और भरोसा उभर कर आया है, वह नितान्त तार्किक तथा अनुभव जन्म है-धूमिल के काव्य मुहावरे से मिलता-जुलता। 'शिखर से' कविता में सचेतन सर्वहारा की अपार शक्ति का भरोसा ही उनसे लिखवाता है-''टूक-टूक होकर भी टुकड़ों पर नहीं टूटेंगे हम/ हटा कर रहेंगे तुम्हें और तुम्हारी गंदगी/ कोई राष्ट्र कभी नहीं कर सकता तुम्हारी बंदगी/ हम खड़े रहेंगे अपने पैरों/ अपने अभय से? स्वच्छ करके रहेंगे विक्रमादित्य का आसन/ अपनी आदमीयत, अपने ईमान/ याने/ अपने संकल्पों की जय से/ शिखर! सुनो/'' मृत्यु विषय पर लिखते हुए भी कवि में हम अदम्य जिजीविषा, ही पाते हैं। वह मृत्यु के चिरपरिचित उदास, भावुक और बासी बिम्ब को तोड़कर उसे अपेक्षाकृत सकारात्मक अर्थवर्ता प्रदान करता है। कुछ कवितांश दृष्टव्य हैं—

*एक अंधीसुरंग से बचकर*
*जीवन के आलोक-छोर को स्पर्श कर*
*अब मैं हूं 'अस्तित्व'।*
*मैं वह सब रद्द करता हूं जो मैंने ढोया, जिया नहीं।*
*मैं जीवन-देह के उस कैन्सर को स्वयं*
*काटकर फेंक चुका हूं*
*और अब स्वयं अपना चिकित्सक हूं*
*मैं अपनी प्रकृति से मोक्ष प्राप्त करुंगा*
*विकृतियों की कुटिलता से नहीं।*

(अब नहीं, पृष्ठ-80)

*मर जाना बड़ी बात नहीं*
*एक सुविधा है, विलास है।*

*जीवन ही पुरुष है*
*और मरणातिक्रमण पुरुषार्थ।*

प्रकृतिपरक कविताएं कवि की प्रकृति के प्रति अनुरक्ति को प्रकट करती हैं। सुमित्रानन्दन पन्त तथा रामनरेश त्रिपाठी जैसे छायावादी कवियों के प्रकृति चित्रण से यह प्रकृति चित्रण नितांत भिन्न और यथार्थपरक है। संग्रह की 'आबना' कविता देखिए—

*आबाना नदी होने से पहले की नदी है*
*देखता हूं पत्थरों-पत्थरों गुज़रती इसकी धाराएं*
*पत्थरों ही में ठहर जाती हैं।*

*किसी नदी का ठहर जाना ही तो पत्थर होना है।*
*भले वह ठहर गई हो अश्रु-जल-अक्षरों सी*
*आख़िर ज़िंदगी की तरह प्रकृति भी है-*
*एक मुकम्मिल अभिव्यंजना।*

प्रकृति का यह उद्दीपन स्वरूप अपने पूर्ववर्ती अर्थों से भिन्न है। कवि वर्षा में नदी के उच्छल प्रवाह को देखता है। उसका पत्थरों से बतियाना उसे उल्लास देता है। लेकिन पत्थरों की ओट में जाकर नदी के सूख जाने; ठहर जाने का वह केवल शाब्दिक अर्थ नहीं लेता। क्या मनुष्य का ठहर जाना भी पत्थर हो जाना नहीं है? (एक ही पांव पे ठहरोगे तो थक जाओगे, धीरे-धीरे ही सही, राह पे चलते रहिए—कुंवर बेचैन)। यही ठहराव मन को कचोटता है। फलत: यह चित्रण विशुद्ध लैंडस्केप नहीं बन पाता। वह प्रकृति और मनुष्य जीवन के घमासान का कोलाज बन जाता है। इस कोलाज को और अधिक स्पष्ट करता एक और शब्द चित्र देखिए—

*सौंदर्य कितना असमर्थ होता है भूख के सामने*
*पक्षियों की तरह हरियालियों सहित उड़ने को*
*ललकता-सा*
*विशाल वक्षस्थल वाला यह पहाड़...*
*कितना संकुचित कर दिया है*
*ट्रेन पर रिरियाने चंद लोगों ने, राम ने?*
*सुन रहा हूं निरंतर आज भी*
*हम भूखें हैं साब*
*माता महनों भाइयों*
*ग़रीब की मदद करेंगे साब*
*है कोई धनी?*

(सौंदर्य बोध, पृष्ठ 61-62)

आत्मानुशासन, जनसंघर्ष के यात्री की बुनियादी शर्त है। इसी शर्त को बहुत पहले स्वर्गीय कवि सोमदत्त गर्ग ने अपनी एक कविता में व्यक्त किया था कि-कोई नहीं है ज़िम्मेदार, ज़िम्मेदारी है अपनी ही। श्रीकांत जोशी इस मायने में बहुत सजग कवि रहे। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की यत्र-तत्र बिखरी हुई रचनाओं को एकत्र कर दस खण्डों में माखनलाल चतुर्वेदी ग्रंथावली का रूप देकर प्रकाशित करवाना उनके आत्मानुशासन तथा कर्त्तव्यबोध को व्यक्त करने के लिए काफ़ी है। 'एकजून (एक)' कविता की एक बानगी देखिए-''मेरे मस्तक पर जून का दहकता धमकता सूर्य है/ और पांवों के नीचे जल के लिए तड़पती-कलपती धरती/ इन्हीं क्षणों में मुझे अपनी ज़िंदगी का/मधुरतम गीत गुनगुनाना है/' जीवन के कठोरतम क्षणों में जो रचनाकार जीवन के मधुरतम को अभिव्यक्ति दे पाता है, वही व्यक्ति स्तर पर तथा रचनात्मकता

की कसौटी पर खरा उतरता है।

संग्रह के तीसरे तथा अंतिम खण्ड में नेल्सन मण्डेला, नाज़िम हिक़मत, महात्मा गांधी-जैसे बड़े नामों को याद करती लंबी कविताएं हैं। इन कविताओं का महत्त्व इस मायने में अधिक है कि ये विशुद्ध भावोद्‌दवास की कविताएं नहीं हैं। इनमें श्रद्धांजलि का-सा भाव भी नहीं दिखाई देता। वरन् यहां असमानता, शोषण, दमन के विरुद्ध इन महामानवों के जीवन-संघर्ष को केंद्र बनाकर उन प्रेरक तत्वों की तलाश की गई है जिनका आज भी महत्त्व कम नहीं हुआ है। दक्षिण अफ्रीका के संदर्भ में जब वे लिखते हैं''-अय आज़ाद अफ्रीका/ तुमने शताब्दी के उपसंहार क्षणों को/ नहीं होने दिया फीका/ तुम सम्हल कर रहना''-तो अनायास नेल्सन मण्डेला की सत्ताइस वर्षों की संघर्षयात्रा का बिम्ब हमारे सम्मुख उभर आता है। केवल अफ्रीका नहीं, एशिया के कई देशों की आज़ादी की जययात्राओं की याद ताज़ा हो आती है। मानवता की विजय की पुनर्स्मृति ही इन कविताओं का ऐश्वर्य है। 'वर्चस्वी नक्षत्र' 'अनुरोध सूर्य से,' 'बाहर-भीतर' 'अवबोध' जैसी अच्छी कविताएं इस खण्ड को सार्थकता देती हैं। 'फ़र्क़' कविता में वे कहते हैं-''क्या फ़र्क़ है बूढ़े और बालक में? ख़ास नहीं/ दोनों को नैपकिन की ज़रूरत है/ क्या फ़र्क़ है बूढ़े और बालक में? फ़र्क़ ही फ़र्क़ है/ यह भी कोई प्रश्न है?/ बूढ़ा उठता भी है तो गिरते-गिरते/बालक गिरता भी है तो उठते-उठते/ एक में जिस जगह भविष्य का समापन है/ दूसरे में उसी जगह शुभागमन/' यह एक ऐसे उम्रदराज़ कवि की आंतरिक शुभेच्छा है जो जीवन के क्रूरतम क्षणों में भी नहीं टूटा। जिसने सारा जीवन मूल्यवान कविता की तरह जिया। पुरस्कार, पद, प्रतिष्ठा आदि ने उनमें कभी भी किसी प्रकार की लोलुपता की सृष्टि नहीं की। लोगों ने उनकी सहजता, सहृदयता का ख़ूब लाभ उठाया, सीढ़ी की तरह उनका इस्तेमाल किया, उनकी अवहेलना की। चतुर सुजानों ने उन्हें पं. माखनलाल चतुर्वेदी का मानसपुत्र कहकर अपनी वाणी को विराम दे दिया। पांच कविता-संग्रह, दो गद्यसंग्रह, प्रकाशनाधीन गीत एवं गद्यसंग्रह की रचना करने वाला, सैकड़ों आलोचनात्मक आलेख लिखने वाला यह निष्ठावान रचनाकार साहित्य की दलगत राजनीति से दूर रहकर महत्वपूर्ण कृतियों का सृजन करता तो रहा लेकिन समुचित सम्मान और प्रतिष्ठा से वंचित रह गया; बल्कि यह कहना ज्यादा मुनासिब है कि उसे वंचित कर दिया गया। उसके साहित्य का सम्यक मूल्यांकन नहीं किया गया। लेकिन इतना तय है कि जब लोग श्रीकांत जोशी की अन्य रचनाओं के साथ-साथ इस समीक्षित कृति को पढ़ेंगे और अवसरवादियों को साहित्य के शिखर पर देखेंगे तो निश्चय ही वे साहित्य के समकालीन परिवेश की पतनशीलता का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकेंगे। □

***सत्य वहां सुरक्षित है* (कविता संग्रह)/श्रीकांत जोशी/प्रकाशक; सार्थक प्रकाशन, 100ए, गौतम नगर, नयी दिल्ली/ मूल्य; 150/-**

# रब्बी दिवस की रिपोर्ट

## मुसब्बिर कैलाशपुरी

***गत 26 मई 2001 को समकालीन हिंदी कविता के सशक्त हस्ताक्षर श्री इब्बार रब्बी साठ वर्ष के हो गए। उनकी षष्ठीपूर्ति के अवसर पर जनवादी लेखक संघ एवं राजेन्द्र प्रसाद अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में 'रब्बी-दिवस' का आयोजन किया गया।***

*बीच की दराज़ में बंद हूं*
*ऊपर होता हूं तो/पैर टूटता है*
*नीचे सरकता हूं। सिर फूटता है*
*मैं कहां जाऊं/क्या करूं/कैसे रहूं इस अंधेरे में*
*कब तक काग़ज़ों से पिचका रहूं*
*दराज़ की हत्थी टूटी हुई है*
*कोई है?*
*जो खींचकर निकाले*
*बेहत्थी दराज़ को/मैदान बना दे*
*मुझे हवा की दुनिया में*
*गुब्बारे सा उड़ा दे।*

ये हैं इब्बार रब्बी। सीधे, सरल, विनोदी, साहित्यिक गुटबाज़ी से दूर, शब्द साधना में सतत लीन, इब्बार रब्बी। गत 26 मई को रब्बी साठ वर्ष के हो गए। इस

अवसर पर जनवादी लेखक संघ और राजेन्द्र प्रसाद अकादमी ने संयुक्त रूप से 'रब्बी दिवस' का आयोजन राजेन्द्र भवन नई दिल्ली में किया।

कार्यक्रम दो सत्रों में सम्पन्न हुआ। प्रथम सत्र 'बातचीत' इब्बार रब्बी की कविता और उनके समय पर केन्द्रित था। सत्र के पहले चरण में एफ.एम. की उद्घोषिका इन्दुपाण्डे ने इब्बार रब्बी की कविताओं का पाठ किया। दूसरे चरण में चर्चा शुरू करते हुए विष्णु खरे ने कहा कि रब्बी की कविताओं का फलक विस्तृत है। वे घड़ी की सुई की तरह धीरे-धीरे फैलती हैं। रब्बी की कविताओं में, निम्न मध्यमवर्ग का भयावह , त्रासद, मार्मिक, सच्चा और सजीव चित्रण स्तब्ध करता है।

कार्यक्रम का संचालन कर रहे जनवादी लेखक संघ दिल्ली के अध्यक्ष असग़र वजाहत ने कहा कि रब्बी दिवस के बहाने जहां एक ओर रब्बी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर चर्चा हो रही है वहीं यह समकालीन कविता के परिदृश्य पर विमर्श करने का अच्छा अवसर है।

मंगलेश डबराल ने अपने वक्तव्य में कहा कि रब्बी की कविता में कविता होने की जल्दबाज़ी नहीं है। वह आग्रह से मुक्त है। उनका शिल्प मौलिक है। उनकी कविता सहज, स्वत: स्फूर्त और जनवादी है। रब्बी के जीवन में कविता और कविता में जीवन है।

सुधीश पचौरी का मानना था कि रब्बी बार-बार अपनी कविता में ''कुछ न कर पाया'' को दोहराते हैं। कुछ न हो पाने या कुछ न कर पाने को बार-बार कहकर वे शक्ति अर्जित करते हैं। रब्बी आक्रामक नहीं हैं। वे स्वयं को धीरे-धीरे नष्ट करके शत्रु को अंगूठा दिखाते हैं।

निर्मला गर्ग ने कहा कि रब्बी को आलोचकों ने उपेक्षित किया है। उपेक्षा का दंश उत्साह को ठंडा कर देता है। लेकिन रब्बी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा उनकी कविता की धारा अविरल बहती रही। उनकी कविता बाज़ारवाद को ठेंगा दिखाती रही है। रब्बी की कविता के पैमाने में जीवन लबालब भरा है।

आलोचकों द्वारा रब्बी की उपेक्षा के संदर्भ में सुरेश सलिल ने कहा कि रब्बी संत हैं और संतई की आलोचना किसी के बस की बात नहीं है। रब्बी को पांच सौ साल बाद जाना और समझा जाएगा। डॉ. अजय तिवारी का कहना था कि समकालीन हिंदी कविता में रब्बी विशिष्ट हैं। जहां वर्तमान समय में यूरोपीय अध्ययन मुखर एवं प्रभावी है वहां रब्बी की कविता पूर्णत: भारतीय है। किसी भी घटना को इतिहास की प्रक्रिया से जोड़कर देखने के कारण रब्बी की कविता महान बन जाती है।

पंकज सिंह का मानना था कि रब्बी की कविता ऊपर से सादा है। वे बहुत सहजता और सरलता से आरम्भ होती हैं लेकिन अंत में चुनौतियां और मुश्किलें खड़ी कर देती हैं।

कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे सुप्रसिद्ध आलोचक एवं साहित्यकार डॉ.

विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपने सारगर्भित वक्तव्य में कहा कि रब्बी और उनकी कविता में कोई भेद नहीं है। रब्बी के व्यक्तित्व का मौजीपन और सहजता उनकी कविता में खिंचकर आयी है। संतई का लक्षण यह है कि वह हर जगह नहीं लपकता है अर्थात् निषेध ही संतई है। संतई का संबंध परिवार, समाज, परिस्थितियों और अभावों से है। रब्बी का संतईपन समकालीनता का विकल्प है। इस संतई और सहजता का प्रभाव समकालीनता पर पड़ना चाहिए।

अपने विशेष वक्तव्य में इब्बार रब्बी ने विभिन्न वक्ताओं द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर अपनी हास्य एवं विनोद पूर्ण शैली में दिया। उन्होंने अपने जीवन के खट्टे-मीठे अनुभव सुनाये। उन्होंने कहा कि उनका जीवन चित्रकार विन्सेंट बैनगॉग, कवि बोद्लियर और शायर फ़िराक़ गोरखपुरी के जीवन से प्रभावित है। अपनी कविता के संदर्भ में उन्होंने कहा कि मैं उनकी बात करता हूं जिनकी बात कोई नहीं करता और 'जैसा देखो, वैसा लिखो' पर अमल करता हूं।

भोजनावकाश के पश्चात दूसरा सत्र प्रारम्भ हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता इब्बार रब्बी ने की। इस सत्र के प्रथम चरण में असग़र वजाहत के कथा-संग्रह 'आधी-बानी' तथा रामाज्ञाराय शशिधर के कविता-संग्रह 'विशाल ब्लेड पर लेटी हुई लड़की' का विमोचन इब्बार रब्बी द्वारा किया गया।

दूसरे चरण में कवियों ने कविता पाठ किया। आमंत्रित कवियों ने वर्तमान सामाजिक परिदृश्य, महानगरीय कुण्ठाग्रस्त जीवन, मानव मन की जिज्ञासा, दलित समस्या, सामन्तों द्वारा शोषण, संवादहीनता, खोखलापन आदि विषयों पर केन्द्रित रचनाएं पढ़ीं। कार्यक्रम में अशोक तिवारी, हेमंत कुकरेती, कुबेरदत्त, विष्णुनागर, सुरेश सलिल, रामकुमार कृषक, रामाज्ञाराय शशिधर, शहरोज़, मुसब्बिर कैलाशपुरी, अजय अशेष, ईश कुमार गंगानिया, जयप्रकाश कर्दम, सविता सिंह, गोविन्द, प्रमोद जोशी, दिनेश शुक्ल, संजय, पंकजसिंह और इब्बार रब्बी ने रचना-पाठ किया। संचालन जनवादी लेखक संघ दिल्ली की सचिव रेखा अवस्थी ने किया।

□

# आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की याद में

## चन्द्र सेन

पिछले दिनों हिंदी अकादेमी, दिल्ली द्वारा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्मृति में एक संगोष्ठी का आयोजन त्रिवेणी सभागार में किया गया। संगोष्ठी की अध्यक्षता महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के उपकुलपति अशोक वाजपेयी ने की। कार्यक्रम में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, प्रो. नित्यानंद तिवारी, डॉ. गंगाप्रसाद विमल तथा खगेन्द्र ठाकुर प्रमुख वक्ता थे। संगोष्ठी में अकादमी के उपाध्यक्ष जनार्दन द्विवेदी भी उपस्थित थे। इस अवसर पर अकादमी के सदस्य डॉ. मुकुन्द द्विवेदी और डॉ. एच. बालसुब्रहमण्यम् के अतिरिक्त अनेक लेखक, साहित्यकार एवं हिंदी प्रेमी उपस्थित थे।

अकादमी के उपाध्यक्ष जनार्दन द्विवेदी ने अपने वक्तव्य में कहा कि हिंदी आलोचना की आधारभूमि को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बिना नहीं समझा जा सकता। आचार्य विशेषण जितना द्विवेदी जी के साथ सही बैठता है उतना शायद किसी अन्य के साथ नहीं बैठता। आचार्य द्विवेदी निरंतर विकासशील मानव मूल्यों के समर्थक थे और उन्होंने क्षुद्र दृष्टि का प्रतिवाद किया। जनार्दन द्विवेदी ने कहा कि आचार्य द्विवेदी की बहुज्ञता और इतिहास-चेतना विद्वानों के लिए सदा अनुकरणीय रहेगी। आचार्य द्विवेदी का चिंतन और लेखन एकदम सहज है।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने आचार्य द्विवेदी को अद्‌भुत वक्ता और ज्ञान का अकूत स्रोत बताया। उन्होंने द्विवेदी जी से जुड़े अनेक रोचक संस्मरण सुनाते हुए उन्हें एक बड़ा प्रजातंत्रिक माना। निबंधकार एवं प्रगतिशाल चिंतक खगेन्द्र ठाकुर ने कहा कि साहित्य का आलोचक होने से पहले समाज और संस्कृति का आलोचक होना जरूरी है और इस संदर्भ में आचार्य द्विवेदी व्यापक और गहरे स्तर पर आलोचक हैं। वे

संस्कृत के गंभीर विद्वान थे। उन्होंने कहा कि आचार्य द्विवेदी परंपरा और रूढ़ि के बीच फर्क मानते थे। द्विवेती जी मानना था कि रुकी हुई परंपरा ही रूढ़ि बनाती है।

शिक्षाविद् एवं आलोचक प्रो० नित्यानंद तिवारी ने कहा कि आचार्य द्विवेदी संस्कृति, साहित्य, धर्मशास्त्र, मिथक, व्याकरण, भाषा शास्त्र आदि प्रत्येक विषय पर हमेशा बौद्धिक ऊचांई से बोलते थे। जिस प्रकार कहानी में नायक होता है उसी प्रकार आचार्य द्विवेदी साहित्य के बौद्धिक नायक बन गये थे। आचार्य द्विवेदी की विषय वस्तु मध्ययुगीन है लेकिन रेशा-रेशा आधुनिक है। आचार्य द्विवेदी वर्तमान के केन्द्र पर भूत और भविष्य को नई भूमिकाएं देते हैं। 'अशोक के फूल' का उल्लेख करते हुए प्रो. तिवारी ने कहा कि अतीत और इतिहास के बीच फर्क पर द्विवेदी जी ने हर जगह ध्यान दिया। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के कुछ अंशों की चर्चा करते हुए उन्होंने आचार्य द्विवेदी की वर्तमान समय में प्रासंगिकता को सिद्ध किया।

आलोचक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि तेज और विनम्रता दोनों आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व के चिंतन में दिखाई देते हैं। उन्होंने कहा कि ऐसा कोई मूल्य नहीं, विचार नहीं जिसे वह प्रस्तुत करते हों और दूसरी सांस में उसका विरोध करते हों।

अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कवि आलोचक अशोक वाजपेयी ने कहा कि आचार्य द्विवेदी ने आधुनिकता की अधिक जातीय और वैकल्पिक धारणा विकसित की। उन्होंने आधुनिकता को उसके घमंड से मुक्त किया। उनके लिए पश्चिमी आधुनिकता का कभी भी स्थायी और अनिवार्य संदर्भ नहीं रहा। श्री वाजपेयी ने आचार्य द्विवेदी को उन आचार्यों में माना जिन्होंने परंपरा और आधुनिकता दोनों की समझ को एक साथ बदला है। उन्होंने आचार्य द्विवेदी को एक निर्भय व्यक्ति माना। उन्होंने कहा कि आदिकाल और कबीर को द्विवेदी जी द्वारा दिए गए अर्थ की तह में जाये बिना हम नहीं समझ सकते।

संगोष्ठी के प्रारंभ में हिंदी के वरिष्ठ कवि एवं साहित्यकार डॉ. जगदीश गुप्त के निधन पर हिंदी अकादमी द्वारा शोक व्यक्त करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

हिंदी अकादमी के सचिव डॉ. रामशरण गौड़ ने कहा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने साहित्य के माध्यम से प्रेम, करुणा, सहानुभूति, सहयोग की उदात्त भावना को मुखरित करके मानव के आदर्शों और मर्यादाओं को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने सुन्दरता और सभ्यता, शोभा और शालीनता, सहानुभूति और सहनशीलता के मूल्यों को आवश्यक समझा। डॉ. गौड़ ने सभी अतिथियों और श्रोताओं के प्रति आभार प्रकट करते हुए कार्यक्रम संपन्न किया ।

□

# कबीर की खोज

## आरती सिंह

यह आकस्मिक नहीं है कि विश्वग्राम की परिकल्पना के मूर्त्त रूप लेते ही उदारीकरण की प्रक्रिया जोर पकड़ती चली गई, जिसके परिणामस्वरूप अपने देश में स्त्री-विमर्श तथा दलित-विमर्श चिंतन के केन्द्र में आ गया। स्त्री-विमर्श एवं दलित-विमर्श के उत्तर आधुनिक विश्लेषण का एक सुखद परिणाम इस रूप में सामने आया कि मध्यकालीन संत कवियों की परम्परा में निर्गुण भक्तिधारा के विलक्षणचेता कवि कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा आदि समकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ सर्वाधिक प्रासंगिक कवि के रूप में भारतीय जनमानस में छा गए। एक सुखद संयोग यह भी जुड़ गया कि उनकी जयंती का अभी छः सौवां वर्ष चल रहा है और पूरे छः सौ वर्षों बाद कबीर की प्रासंगिकता के बहाने उसके विभिन्न पक्षों को लेकर पूरे देश में आयोजन हो रहे हैं। देश की अनगिन साहित्यिक पत्रिकाओं के 'कबीर विशेषांक' प्रकाशित हो रहे हैं तथा अकादमिक—गैर अकादमिक स्तर पर भी चर्चाओं की श्रृंखला चल रही हैं। इसी क्रम में पटना विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिंदी विभाग में भी यू. जी.सी. एकेडमिक स्टॉफ कॉलेज द्वारा 'तृतीय पुनश्चर्या पाठ्यक्रम' के अन्तर्गत तीन सप्ताह (30-3-01 से 19-4-01 तक) तक चलने वाली 'कबीर की खोज' विषयक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसमें विभिन्न महाविद्यालयों से आए 43 प्रतिभागी व्याख्याताओं सहित अनेक लोगों ने भाग लिया।

कबीर पर केन्द्रित इस सारस्वत-वैचारिक आयोजन का उद्घाटन सत्र 30 मार्च को पटना कॉलेज के 'सेमिनार हॉल' में आयोजित किया गया, जिसकी अध्यक्षता पटना विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. नजरे अहसन ने की एवं उद्घाटन प्रसिद्ध समाजवादी नेता एवं 'सत्गुरु कबीर महाकंभ' के अध्यक्ष श्री भोला प्रसाद सिंह ने

किया। प्रतिभागी शिक्षकों सहित विश्वविद्यालय आचार्यों एवं जाने-माने साहित्यकारों से खचाखच भरे हॉल में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड के अध्यक्ष डॉ. शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने कबीर के रचनात्मक त्वरा को रेखांकित करते हुए कहा कि कबीर अपने काल में संस्कृति पुरुष थे, इसलिए वे आज भी प्रासंगिक हैं। हिंदी के आरंभिक कवि कबीर की कृतियों तथा उनके संदेशों की ओर नए सिरे से जो रुचि जगी है, उससे हिंदी-साहित्य समृद्ध होगा। डॉ. श्रीवास्तव ने कबीर के साहित्य से उद्धरण देते हुए विस्तार में उनकी विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए कहा कि कबीर अपने संदेश और अपने रचनात्मक निपुणता के कारण लोकप्रिय हैं। कागद की लेखी को चुनौती देने वाला व्यक्ति क्रांतिकारी ही हो सकता है। कबीर एक साथ कई-कई मोर्चे पर थे और सम्प्रदाय से ऊपर उठकर सम्प्रदायों पर प्रहार कर रहे थे। शब्दों का ताना-बाना बुनने वाले उस कलाकार की बुनी चादर हमारे लिए सुखद आच्छादन के समान है। कबीर हिंदी के सरल और कठिन दोनों कवि हैं। शब्दों में वे जितने सहज दिखते हैं, अर्थों में उतने ही कठिन। कबीर की उलटबांसी को समझने में नानी याद आ जाती है। ऐसे में कबीर को नए सिरे से खोजने का काम चुनौती भरा है। इस सत्र का अत्यन्त कुशल संचालन प्रसिद्ध समालोचक एवं आयोजन के समन्वयक डॉ. रामवचन राय ने किया, धन्यवाद ज्ञापन हिंदी की विभागाध्यक्ष श्रीमती आयेशा अस्मतुल्लाह ने किया।

31 मार्च से 19 अप्रैल तक चलने वाली इस संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों में कबीर से संदर्भित विभिन्न पक्षों पर तीन दर्जन से भी अधिक व्याख्यान हुए जिनमें हिंदी के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान प्राध्यापकों ने हिस्सा लिया। 31 मार्च को 'इतिहास में कबीर' विषयक पर्चा का पाठ करते हुए डॉ. ओम प्रकाश प्रसाद ने कहा कि 'इतिहास में कबीर को मानव कम और संस्था ज्यादा माना गया। कबीर तत्कालीन समाज के दर्पण थे।, इसके बाद विस्तार से उन्होंने इतिहास के पुष्ट प्रमाणों से कबीर के समाज को सामने रखते हुए उसमें उनके महत्त्व को प्रतिपादित किया। डॉ. भृगुनंदन त्रिपाठी ने कहा कि ''कबीर अपने समय के श्रेष्ठ गीतकार हैं। वे ऐसे कवि हैं, जिनकी सर्जनात्मक प्रेरणा लोक काव्य से जुड़ती है। इसलिए कबीर को लोक कवि के रूप में ही देखा जाना चाहिए। अन्तत: जैसे तुलसीदास किसानों के कवि हैं, वैसे ही कबीर कारीगरों के कवि हैं। कबीर का काव्य आनंद और वेदना का ऐक्य स्थापित करता है।''

1 अप्रैल को डॉ. राणा प्रताप (कबीर के मूल्यांकन की नई दिशाएं) एवं सहरसा से आए डॉ. सुभाष चन्द्र यादव (कबीर-काव्य में समन्वय/कबीर का एकेश्वरवाद) ने अपने व्याख्यान में चिंतन के जिस छोर से कबीर के काव्य का मूल्यांकन प्रस्तुत किया, वह सुव्यवस्थित नहीं होने के कारण कबीर के वैशिष्ट्य को खोलने में अक्षम रहा; गो कि कबीर को समझने की उनकी गंभीर चेष्टा प्रशंसनीय थी। 3 अप्रैल को

जहां डॉ. शंकर प्रसाद ने अपने व्याख्यान (कबीर की उलटबॉसियों की परम्परा एवं उसका मर्म) में कबीर की उलटबासियों के गूढ़ अर्थों को उद्‌घाटित करते हुए उसकी ज्ञान-राशियों से प्रतिभागी शिक्षकों को चमत्कृत किया, वहीं शांति निकेतन स्थित 'विश्व भारती' से आए डॉ. सियाराम तिवारी ने 'कबीर के राम' विषयक पर्चे का पाठ करते हुए उद्‌घोषित किया कि कबीर राम के चार रूपों को अपने साहित्य में आत्मसात करते हैं-दशरथ-पुत्र राम, घट-घट में व्याप्त राम, बीज रूप में बसे राम तथा जगत से न्यारा राजा राम। 4 अप्रैल को एक बार फिर डॉ. सियाराम तिवारी ने 'कबीर की काव्य-भाषा' पर व्याख्यान करते हुए कहा कि "कबीर की भाषा अभिव्यक्ति की भाषा नहीं, आत्मसाक्षात्कार की भाषा है। वे सर्वत्र रूपक में सोचते-बोलते हैं। अपने पदों में कबीर शब्दक्रीड़ा करते नजर आते हैं, जो उनकी अनुभूति के अंग है।" उसी सत्र में प्रख्यात समालोचक डॉ. अमरनाथ सिन्हा ने 'कबीर का रहस्यवाद: एक पुनर्विचार' विषयक आलेख में कहा कि कबीर को रहस्यवादी कहना उन्हें छोटा करना है, क्योंकि उनके पास छिपाने के लिए कुछ है ही नहीं। कबीर-साहित्य में रहस्य हो सकता है पर कबीर रहस्यवादी नहीं थे।

7 अप्रैल को प्रख्यात सौंदर्यशास्त्री समालोचक डॉ. कुमार विमल ने 'कबीर की सामाजिकता एवं क्रांति-चेतना' विषयक अपने व्याख्यान में कहा कि कबीर अध्ययन और चिंतन की दृष्टि से हमेशा सीमांत पर रहे। वे परम्परा भंजक होने के साथ ही नए विकल्पों के सृजनकर्मी थे। उनमें निर्भीक समाज सुधारक के तत्त्व थे। उनके साहित्य की समाजशास्त्रीय विवेचना से पता चलता है कि वे समाज को रूढ़ियों से मुक्त करना चाहते थे। लेकिन उनकी ये लड़ाई अभी खत्म नहीं हुई है। डॉ. विमल ने कहा कि आगे चलकर लोगों ने प्रेमचंद को मुंशी, अज्ञेय को वात्स्यायन और राहुल को सांकृत्यायन के रूप में जाना, किन्तु कबीर दास और छोटे होकर सिर्फ कबीर रह गए। वास्तव में कबीर अपने नाम से अनुरूप (कबीर का शाब्दिक अर्थ 'श्रेष्ठ' होता है) श्रेष्ठ एवं असाधारण व्यक्तित्व थे। वही कबीर ब्राह्मणवाद के घोर विरोधी थे। कबीर को उनके बाद के शायरों ने नब्जशनास यानी लोगों की नब्ज समझने, नसीहत देने, इहलोक-परलोक की बातें करने वाला कवि कहा है। कबीर को उनके समय के लोगों ने पहचाना, फिर भी ये अपने समकालीन नानक की तरह व्यापक रूप से नहीं जाने गए, जिसका एक कारण यह भी है कि कबीर ने नानक जितना भ्रमण नहीं किया। उन्होंने कहा कि कबीर का जिक्र 'आइना-ए-अकबरी' और 'दबिस्तान-ए-मजाहिब' में मिलता है, जिससे उनकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय मिलता है।" इसी सत्र में वीरकुंवर सिंह विश्वविद्यालय के डॉ. दुर्गा विजय सिंह (कबीर और उनका बीजक) तथा छपरा से आए डॉ. वीरेन्द्र कुमार यादव (कबीर का काव्य) ने भी अपने-अपने व्याख्यान में संबद्ध विषयों पर अपने गंभीर अध्ययन से कबीर को नए सिरे से परखने की कोशिश की।

बाद के सत्रों में 'कबीर की भक्ति' पर चार व्याख्यान हुए, जिनमें अपने-अपने सुव्यवस्थित अध्ययन के द्वारा डॉ. शरण सहेली, डॉ. शंभुशरण सिन्हा एवं डॉ. भूपेन्द्र कलसी ने अत्यन्त विस्तार पूर्वक कबीर की भक्ति की परतों को खोल-खोलकर समझाने की कोशिश की। इनमें डॉ. कलसी का व्याख्यान साधना की अनुभूतियों से भरा अत्यंत प्रभावपूर्ण रहा। इसी क्रम में 'भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार और कबीर' तथा 'कबीर और नारी' विषयक दो व्याख्यान हैदराबाद स्थित केन्द्रीय विश्वविद्यालय से आए डॉ. गोपेश्वर सिंह के हुए। अपने पहले व्याख्यान में डॉ. सिंह ने कहा कि "उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन दक्षिण से नहीं आया। वहां तो वैष्णव भक्ति आंदोलन चल रहा था, जो पांचवीं शताबादी में शुरू होकर दसवीं शताब्दी में अपने उत्कर्ष को प्राप्त हुआ; जबकि उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन पन्द्रहवी शताब्दी से आरम्भ होता है। यों भारत में भक्ति आंदोलन सबसे बड़ा आंदोलन था, बौद्ध आंदोलन से भी बड़ा। कबीर भक्ति आंदोलन के केन्द्र में थे और जनता को उसकी सही दिशा बता रहे थे।" कबीर और नारी विषयक दूसरे व्याख्यान में डॉ. सिंह का मानना था कि "भारत का सम्पूर्ण चिंतन स्त्री-विरोधी है। भक्ति आंदोलन के चिंतन में दलित-मुक्ति की जितनी छटपटाहट दिखती है, उतनी स्त्री-मुक्ति की नहीं। शंकराचार्य की 'माया' कबीर पर भी हावी दिखती है। तुलसी जितने स्त्री-विरोधी हैं, उससे ज्यादा कबीर हैं। भक्तिकाल में केवल सूरदास ही ऐसे कवि हैं, जो स्त्री-विरोधी नहीं हैं। संवेदना के स्तर पर तो भक्त कवियों ने स्त्रियों की महत्ता को स्वीकार किया है, उसे पूज्य माना है किंतु दार्शनिक धरातल पर स्त्रियों की घोर उपेक्षा की गई।" उसी सत्र में डॉ. शंकर प्रसाद ने अपने 'कबीर का समय और समाज' विषयक व्याख्यान में कहा कि "कबीर का समाज धर्म परिचालित था। अत: स्त्री-निंदा के मूल में कबीर के यहां साधक एवं समाज में चरित्र की सुचिता को बचाना था।"

10 अप्रैल के प्रथम सत्र में डॉ. कुमार विमल ने अपने 'कबीर की क्रांति-चेतना' विषयक व्याख्यान में यह कह कर पूरी उपस्थिति को विस्मित कर दिया कि 'कबीर को क्रांतिकारी कवि नहीं, विद्रोही कवि भर कहा जा सकता है'; जबकि उसी दिन के अगले सत्र में हिंदी के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री आलोचक डॉ. जगदीश नारायण चौबे ने 'करीब की परम्परा में रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महादेवी वर्मा' विषयक अपने व्याख्यान में कहा कि "कबीर अपने समय में भारत का सुकरात था। 'साधो यह मुर्दा का गांव' या 'साधो देखो जग बौराना' या फिर 'सांची कहौं तो मारन धावै' जैसी पंक्तियां कबीर ही कह सकते थे, क्योंकि 'कबीरा खड़ा बाजार में लिए लकुटी हाथ' के साथ दो टूक कहते चलते थे कि 'जो घर जारै आपना चलो हमारे साथ।"11 अप्रैल को प्रथम सत्र में जहां डॉ. श्यामनंदन शास्त्री ने अपने व्याख्यान (कबीर के व्यक्तित्व का पृष्ठाधार: वैशिष्ट्य और प्रासंगिकता) में सिद्धो-नाथ के साहित्य से ही कबीर के व्यक्तित्व का मुख्य पृष्ठाधार निर्मित होना बताया; वहीं अगले सत्र में 'कबीर-मठ में

कबीर' विषय पर बोलते हुए श्री भोला प्रसाद सिंह (एस.एल.सी) ने कहा कि कबीर ने ही पहले पहल इस देश के उपेक्षितों-दलितों को ईश्वर दिया। फिर उन्होंने अत्यन्त विस्तार के साथ भारत में कबीर-मठों की जानकारी दी। इसी सत्र में फतुहों कबीर मठ से आए महंत द्वारा कबीर पर रचे गए भजनों के समूह गायन से उनके महत्व को जीवंत कर दिया, तो कबीर भक्तिन रामरती दासी द्वारा कबीर के निर्गुण पदों का ऐसा सुमुधुर गायन प्रस्तुत हुआ कि उस अद्भुत लोकरस में श्रोताओं ने कबीर के प्रभाव को साक्षात् अपने अंतस में उतरता हुआ महसूस किया।

बाद के 12 से 18 अप्रैल के विविध सत्रों में डॉ. शैलेश्वर सती (पूरब के कबीर की खोज पश्चिम में), डॉ. अरविन्द कुमार (कबीर की परम्परा) डॉ. भगवान सिंह (हिंदी आलेचना में कबीर), डॉ. मटुकनाथ चौधरी (ओशरो की दृष्टि में कबीर), प्रो0 अरुण कमल (कबीर की कविताई), डॉ. अमरनाथ सिन्हा (तुलसी और कबीर के राम), डॉ. रामदेव प्रसाद (कबीर की भाषा), डॉ. आनन्द मिश्र (कबीर में संगीत-तत्त्व), डॉ. शोभाकांत (कबीर के दार्शनिक विचार) डॉ. शरण सहेली (कबीर का जीवन-दर्शन) तथा डॉ. नरेश प्रसाद तिवारी (अद्वैतवाद और कबीर) ने भी अपने-अपने विषयों के अनुरूप कबीर के विविध व्यक्तित्व, दर्शन, भाषा, समाज आदि से संबंध विचारोत्तेजक जानकारी देते हुए उन्हें अद्वितीय संत कवि घोषित किया। डॉ. सती ने जहां पश्चिम में कबीर के अध्ययन विस्तार को रखा, वहीं चर्चित कवि अरुण कमल ने कहा कि "कबीर की खोज जल में जल बन कर ही की जा सकती है, उनका मानना था कि हिंदुस्तान के गरीब एवं सताए हुए लोगों को ही कबीर बहुत याद आते हैं। मृत्यु का उल्लास कबीर को छोड़कर अन्य किसी कवि में नहीं है। कबीर अन्ततः कवि ही हैं।" इनमें डॉ. अरविन्द एवं डॉ. रामदेव प्रसाद के व्याख्यान में निपट सपाटबयानी की शुष्कता प्रतिभागियों की खली, किंतु अन्य व्याख्यानों की ऊष्मा में कबीर का महत्त्व उभर कर सामने आया। 17 अप्रैल को पहले सत्र में जहां डॉ. सरदार देवनंदन सिंह ने 'मानवाधिकार' पर रोचक जानकारी दी, वहीं दूसरे सत्र में डॉ. तरुण कुमार ने 'कबीर की क्रांतिधर्मिता एवं रहस्यवाद' विषय पर बोलते हुए कबीर को रोमांटिक गठन का कवि बताया।

कबीर की खोज में सम्पन्न तीन सप्ताह तक चलने वाली इस अकादमिक संगोष्ठी को चर्चित समालोचक एवं आयोजन समन्वयक डॉ. रामवचन राय ने अपनी जिस अद्भुत मेघा की त्वरा टिप्पणियों से संचालित किया, उससे संगोष्ठी की प्राणवत्ता आद्यान्त बनी रही और प्रतिभागियों में सदैव उत्साह का संचार होता रहा। हिंदी विभाग के प्राध्यापक डॉ. सुरेन्द्र स्निग्ध का सक्रिय सहयोग भी डॉ. राय को मिला, जबकि हिंदी विभागाध्यक्षा प्रो. आयेशा अस्मतुल्लाह की गंभीर उपस्थिति एवं एकेडमिक स्टॉफ कॉलेज के निदेशक डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह 'राही' का निर्देशन भी इस पूरे आयोजन को मिलता रहा। प्रतिभागियों में, डॉ. कलानाथ मिश्र, डॉ. सुरेन्द्र

तिवारी, डॉ. अनिरुद्ध प्रसाद, डॉ. विनोद कुमार 'मंगलम' आदि ने पूरे आयोजन के दौरान व्याख्यानों के उपरांत की बहस में हिस्सा लेकर गोष्ठियों को प्राणवंत बनाया।

'कबीर की खोज' विषयक इस संगोष्ठी का समावर्तन समारोह 19 अप्रैल को हुआ, जिसकी अध्यक्षता पटना विश्वविद्यालय के नवनियुक्त कुलपति डॉ. एल.एन. राम ने की।

आज कबीर कई रूपों में लोक जीवन में व्याप्त हैं, जिसकी वृहत्तर झांकी इस पूरे आयोजन में देखने को मिली। जन मानस में व्याप्त कबीर, कबीर मठों में कबीर तथा विश्वविद्यालयों में कबीर-इन सभी रूपों में कबीर का महत्त्व अपने समकालीन भक्त कवियों की तुलना में कहीं अधिक छन कर सामने आया जो अनेक कारणों से आज सर्वाधिक प्रासंगिक हो गया है। यही निष्कर्ष 'कबीर की खोज' से निकलकर प्रतिभागियों में व्याप्त हुआ।

□

## रचनाकार

**रमेश दवे**
एल-276, कोटरा
भोपाल -462003 (मध्य प्रदेश)

**गोपाल चतुर्वेदी**
डी-II/298 विनय मार्ग
चाणक्यपुरी, नई दिल्ली-110021

**वीर सक्सेना**
173 एन, आरामबाग
पंचकुइयां रोड, नई दिल्ली-110055

**डॉ. इन्दुप्रकाश पाण्डेय**
Berlinerstrasse 19
65824 Schwalbach
Ts. Germany

**डॉ. हरदयाल**
एच-50, पश्चिमी ज्योति नगर
दिल्ली-110094

**डॉ. रणजीत साहा**
उपसचिव
साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन
नई दिल्ली-110001

**गजानन वर्मा**
37 अलकापुरी कॉलोनी
उदयन मार्ग, फ्री गंज
उज्जैन-456010 (मध्य प्रदेश)

**डॉ. शिबनकृष्ण रैणा**
अध्येता, भारतीय उच्च
अध्ययन संस्थान,
राष्ट्रपति निवास,
शिमला (हिमाचल प्रदेश)

**देवशंकर नवीन**
नेशनल बुक ट्रस्ट, ए-5 ग्रीन पार्क
नई दिल्ली-110016

**डॉ. हरिसिंह पाल**
684, इंद्रा पार्क
नई दिल्ली-110045

**किशोर कुमार कौशल**
सहायक प्रबंधक (राजभषा)
एस.टी.सी, जवाहर व्यापार भवन
टालस्टाय मार्ग
नई दिल्ली-110001

**रामदरश मिश्र**
आर-38 वाणी विहार
उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

**हैदर ज़ाफरी सैयद**
पोस्ट बॉक्स-468
कानपुर-208001

**संजीव**
मुख्य प्रयोगशाला
सेंट्रल ग्रेथ वर्क्स (सेल)
इस्को, कुलटी-713343

**गोपाल शेखरन**
15 सुखचैन मार्ग,
डी.एल.एफ.,
गुड़गांव -122002 (हरियाणा)

**अमिताभ ठाकुर**
पुलिस अधीक्षक
सी.बी.सी.आई.डी.
विक्रमादित्य मार्ग,
लखनऊ-226001 (उत्तर प्रदेश)

**जसविन्दर शर्मा**
5/2 रेल विहार
मनसा देवी काम्पलैक्स,
पंचकूला-134109 (हरियाणा)

**तरुण**
डी-2/364, पंडारा रोड
नई दिल्ली-110011

**सिद्धेश्वर**
अवसर प्रकाशन
पोस्ट बाक्स नं. 205
कर बिगहिया पटना-800001

**चैतन्य त्रिवेदी**
16-ए, अन्नपूर्णा नगर
इंदौर-452009 (मध्य प्रदेश)

**डॉ. सतीश राज पुष्करणा**
155, सिविल लाइन्स
(नवाब का अहाता)
बरेली-243001 (उत्तर प्रदेश)

**सीताकांत महापात्र**
21 सत्य नगर,
भुवनेश्वर-751007 (उड़ीसा)

**डॉ. राजेन्द्र मिश्र**
एन.टी.पी.सी. स्कोप
नई दिल्ली-110003

**ज्योत्स्ना मिलन**
एम-4 निराला नगर
भदभदा रोड
भोपाल-462003 (मध्य प्रदेश)

**दामोदर खडसे**
डी/डी-8, वृंदावन शांतिवन के पास
कोथरूड, पुणे-411029

**कन्हैयालाल बाजपेयी**
एफ-246, राजीव नगर
कानपुर-II (उत्तर प्रदेश)

**नीलेश रघुवंशी**
13-बी, प्रोफेसर्स कॉलोनी
भोपाल (मध्य प्रदेश)

**आशा प्रभात**
कोट बाजार
सीतामढ़ी-843302 (बिहार)

**यश मालवीय**
ए-111, मेंहदौरी कॉलोनी
इलाहाबाद-211004 (उत्तर प्रदेश)

**कैलाश नीहारिका**
केन्द्रीय हिंदी निदेशालय
वैस्ट ब्लाक-VIII, आर.के.पुरम
नई दिल्ली-110066

**डॉ. शशि गोयल**
3/28, जवाहर नगर रोड
खंदारी चौराहा,
आगरा-282002

**प्रो. पी. आदेश्वर राव**
हिंदी विभागाध्यक्ष
आंध्र विश्वविद्यालय
विशाखापत्तनम-530003

**नीलिमा श्रीवास्तव**
पोस्ट बॉक्स न. 1082
त्रिनिडाड वेस्टइंडीज

**राजकुमार कुंभज**
331 जवाहर मार्ग,
इंदौर-452002 (मध्य प्रदेश)

**डॉ. अल्पना मिश्र**
द्वारा मेजर अमिताभ मिश्र
56/2 टांग रोग (SFA)
निकट तेल भवन, कैंट
देहरादून (उत्तरांचल)

**राधा शाक्य**
379/4 शास्त्री नगर
कानपुर (उत्तर प्रदेश)

**मीरा हिंगोरानी**
ए-4/40, मोती नगर
नई दिल्ली-110015

**वीरेश वात्स्यायन**
47/90, अनुरंजिका आश्रम
हरिया बान बाजार, कानपुर
(उत्तर प्रदेश)

**सुनील बाजपेयी**
128/7 बी, किदवई नगर
कानपुर (उत्तर प्रदेश)

**जयराम सिंह गौर**
180/12, बापू पुरवा कॉलोनी
कानपुर-208011 (उत्तर प्रदेश)

**कमल किशोर श्रमिक**
254/1 श्रमिक बस्ती
बापू पुरवा, कानपुर-208011

**देवी प्रसाद शुक्ल राही**
128/241 एच. वन
किदवई नगर, कानपुर-II (उत्तर प्रदेश)

**अर्पण कुमार**
ई-86 नेहरू विहार
(तिमारपुर के पास) दिल्ली-110054

**डॉ. पद्मा सिंह**
एफ-16 रेडियो कॉलोनी
इंदौर-452001 (मध्य प्रदेश)

**स्वाति सूद**
द्वारा महेन्द्र पाल चावला
142, आई ब्लॉक,
बी.आर.एस. नगर, लुधियाना

**सचिन भारद्वाज 'क्षितिज'**
द्वारा डॉ. चन्द्र विद्यालय,
पावटा, जयपुर (राजस्थान)

**देवव्रत जोशी**
24, वेद व्यास कॉलोनी
रतलाम-457001 (मध्य प्रदेश)

**अशोक आलोक**
द्वारा इलाहाबाद बैंक
केशोपुर जंगालपुर
मुंगेर-811214 (बिहार)

**अनिरुद्ध सिन्हा**
गुलजार पोखर, मुंगेर-811201
(बिहार)

**डॉ. सुरेश चन्द्र शुक्ल**
Beverveien, 19
L-31 0596 Oslo
Norway

**रामबहादुर चौधरी**
फुलकिया, बरियारपुर
मुंगेर-811211 (बिहार)

**उदय प्रताप**
302, राजेन्द्र मार्ग
शिकोहाबाद (उत्तर प्रदेश)

**अतुल कुमार मिश्र 'अतुल'**
विभागाध्यक्ष विद्या निकेतन
बिरला पब्लिक स्कूल
पिलानी, (राजस्थान)

**डॉ. रामस्वरूप पल्लव**
वीरन्द्र (आई.डी. पी. एल.)
ऋषिकेश-249202 (देहरादून)

**कृष्ण चन्द्र गुप्त**
186/12, आर्यपुरी
मुजफ्फरनगर-251001

**डॉ. मधुसंधु**
बी-14, गुरुनानक देव विश्वविद्यालय
अमृतसर-143005 (पंजाब)

**तेजपाल**
32, सावन पार्क एक्सटैंशन
अशोक विहार, फ़ेज-III
दिल्ली-110052

**बल्लभ डोभाल**
W-46 सेक्टर-12
नोएडा-201301
(उत्तर प्रदेश)

**ज्ञानेन्द्र पाण्डेय**
1368, सेक्टर-IV
रामकृष्णा पुरम, नई दिल्ली-110022

**डॉ. राम प्रसाद मिश्र**
14, सहयोग अपार्टमेंटस
मयूर विहार, फ़ेज-I
दिल्ली-110091

**जनार्दन मिश्र**
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

**डॉ. हीरालाल बाछौतिया**
के-40 एफ, साकेत
नई दिल्ली-110017

**विश्वमोहन तिवारी**
एअर वाइस मार्शल (सेवा निवृत)
ई-143/21, नोएडा-201301
(उत्तर प्रदेश)

**कुमार पंकज**
21, गणेश नगर-II
शक्करपुर, दिल्ली-110092

**अशोक राही**
डी-20, मीरामार्ग बनीपार्क
जयपुर राजस्थान

**उत्पल बैनर्जी**
हिन्दी विभाग डेली कॉलेज
इंदौर-452001 (मध्य प्रदेश)

**मुसब्बिर कैलाशपुरी**
हिंदी विभाग,
जामिया मिलिया विश्वविद्यालय
जामिया नगर,
नई दिल्ली-110025

**आरती सिंह**
द्वारा श्री उमा प्रसाद सिंह
1-सी, अशोक नगर
पटना-800020 (बिहार)

□